योग और आयुर्वेद

लेखक

आचार्य राजकुमार जैन

एम. ए (हिन्दी-संस्कृत), एच पी ए.

दर्शनायुर्वेदाचार्य, साहित्यायुर्वेद शास्त्री,

प्राक्कथन

पद्मभूषण वैद्यरत्न पं० शिव शर्मा

अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान

तिलक फार्मेसी भवन, इटारसी (म० प्र०)

प्रकाशक :
अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान
तिलक फार्मेसी भवन,
इटारसी-४६१-१११ (म०प्र०)

मुद्रक :
प्रिय प्रिंटिंग एजेन्सी,
५०४७, गली ब्राह्मणवाली,
पहाड़ी धीरज, दिल्ली-११०००६

द्वितीय संस्करण, १६८६

मूल्य [illegible]

वितरक
सन्दर्भ
१८५, नागवासुकि, इलाहाबाद (उ० प्र०)

वी० के० प्रकाशन
बड़ौत (मेरठ) उ० प्र०

पुस्तक प्राप्ति स्थान
आचार्य राजकुमार जैन
प्रथमतल,
१ ई/६ स्वामी रामतीर्थ नगर,
नई दिल्ली-११००५५

मेहरचन्द लछमनदास
१, अंसारी रोड, दरियागंज,
दिल्ली-११०००२

समर्पण

जिनके हृदय में अमित स्नेह, आसीम वात्सल्य और
अपरिमित करुणा का स्रोत प्रस्फुटित है, जिनके
आँचल की शीतल छाया में मैं अलौकिक
सुख और शाति का अनुभव करता
हू, जिनके आशीर्वाद और
सतत प्रेरणा से
मैं अपने
कृतित्व को साकार रूप देने
में समर्थ हुआ हूं, ममता की उस
साकार मूर्ति मातृ के चरण युगल में इस
सुरभित कुसम को समर्पित करते हुए मैं परम
सौभाग्य, सन्तोष एव सुख का अनुभव कर रहा हूं।

समीक्षा

भारतीय सस्कृति मे योग का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके सिद्धान्त इतने व्यापक और व्यवहारिक हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अग को उन्होने व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसी का सम्भवत. यह परिणाम है कि आयुर्वेद भी उसके प्रभाव से अछूता नही रह सका। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि योग और आयुर्वेद के कतिपय सिद्धान्तो मे इतनी समानता है कि कई बार दोनो के एकत्व का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर योग भी कतिपय आयुर्वेदीय सिद्धान्तो के प्रभाव से अछूता नही रह सका है। योग शास्त्र मे अनेक स्थलो पर इसके प्रत्य। उदाहरण देखने को मिलते हैं। मैं लेखक के इस कथन से सर्वथा सहमत हू कि योग का स्वास्थ्य से निकटतम सम्बन्ध है तथा स्वास्थ्य आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इस दृष्टि से योग और आयुर्वेद परस्पर सम्बन्धित शास्त्र है। ये दोनो शास्त्र हमारी सांस्कृतिक धरोहर और राष्ट्रीय विरासत हैं।

यह एक सर्व मान्य एव निर्विवाद तथ्य है कि विगत काल मे जहाँ आयुर्वेद अन्यान्य ग्रथो का प्रणयन मौलिक रूप से हुआ है वहाँ योग के भी अनेक ग्रथ प्रकाश मे आए हैं। दोनो ही क्षेत्रो मे विकास एवं अनुसधान की विचारधारा को भी पर्याप्त बल मिता है। तथापि आयुर्वेदीय दृष्टि से योग का अध्ययन एव योग शास्त्र की दृष्टि से आयुर्वेद का अध्ययन सर्वथा उपेक्षणीय रहा है। यह वस्तुत: एक चिन्तनीय स्थिति है। इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनो शास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और इस दिशा मे प्राप्त नवीनतम उपलब्धियो को जन समान्य के हितार्थ प्रकाशित किया जाय। वर्तमान मे दोनो शास्त्रो की अनुपूरकता, समन्वय, उपयोगिता एव दृष्टि-कोण साम्यता नि सन्देह नितान्त आवश्यक है, जिसके लिए पर्याप्त श्रम किया जाना अपेक्षित है।

इस दिशा मे आचार्य राजकुमार जैन के अभिनव प्रयास के रूप में उनकी नवीनतम कृति 'योग और आयुर्वेद" प्रकाश मे आई है। इस उपयोगी कृति के लिए उनका प्रयास नि सन्देह श्लाघनीय है। ग्रथ का आद्योपान्त अवलोकन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि आचार्य जैन के इस ग्रंथ से आयुर्वेदीय एव योग सम्बन्धी साहित्य भण्डार के एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति होगी। दोनो विषयो का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले अनुसन्धित्सु छात्रो, विद्वानो तथा अन्य सामान्य-जन के लिए निश्चय ही यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा— ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आशा है इस ग्रथ के द्वारा अन्य विद्वानों को भी इस दिशा मे कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

—कविराज आशुतोष मजूमदार

FOREWORD

Yoga and Ayurveda are allied subjects. Both deal with Here and Hereafter with relation to human body, mind and soul. A superficial observer will see in Ayurveda merely an emphasis on body culture and in Yoga an emphasis on Mind and soul-culture. But a closer and more earnest scrutiny will reveal the identical nature of the final goals of the two systems.

Fundamentally, both the Ayurvedic and the Yogic approaches are prophylactic and promotive in nature. The cure of the disease is merely a device to restore a person to the state of normal health which is the basic ground for a take-off towards higher states begining with supreme physical efficiency and ending in supreme spiritual bliss.

By including birth and death in the list of diseases and by prescribing annihilation of entire Karma as the means to end the cycle of birth and death, Ayurveda identifies itself completely with the doctrine of Yoga, even as the latter identifies itself with ayurveda by setting very high standards of psycho-somatic efficieny and providing ways and means for attaining them.

An Ayurvedic scholar, therefore, is the best qualified, outside the domain of professional Yogis, to write effectively and gainfully on a theme, in which Ayurveda and Yoga overlap each other, coalesce and become one.

Acharya Raj Kumar Jain is well qualified (and also well placed) to make a good job of dealing with the two ancient Indian sister sciences His effort has resulted in a commendable treatise whieh will make an interesting and profitable reading for those interested in these systems.

SHIV SHARMA

प्राक्कथन

(प० शिवशर्मा द्वारा अंग्रेजी में लिखित प्राक्कथन का हिन्दी रूपान्तर)

योग और आयुर्वेद परस्पर सम्बन्धित शास्त्र हैं। मानव शरीर, मन और आत्मा की स्थिति और क्रियाकलापों की विवेचना दोनों शास्त्रो का विषय है। मोटे तौर पर यह माना जाता है कि आयुर्वेद मे शारीरिक अध्ययन और योग मे मन एव आत्मा का विश्लेषण विशेष रूप से किया गया है, परन्तु दोनो शास्त्रो के गभीर अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि इनके अन्तिम लक्ष्य समान हैं।

मौलिक रूप से दोनों ही शारीरिक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि और रोगनाश का दिशा निर्देश करते हैं। रोग निवारण और चिकित्सा के उपाय मानव को निरन्तर अच्छे स्वास्थ्य मे रखने की प्रक्रिया है जिससे शारीरिक क्षमताओं से परिपूर्ण रहकर वह निरन्तर आध्यात्मिक परिपूर्णता के लक्ष्यो तक पहुचने मे अग्रसर होता रहे।

जन्म और मृत्यु ये दोनो ही आयुर्वेद मे वर्णित रोग सूची मे सम्मिलित हैं और जन्म-मरण के रोगो से मुक्ति का उपाय सम्पूर्ण कर्मों का विनाश बताकर आयुर्वेद ने योग से पूर्ण एकत्व स्थापित किया है। इसी प्रकार योग भी उत्तम मनो शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता और इसे प्राप्त करने के उपायो का वर्णन कर आयुर्वेद के साथ अपना सादृश्य स्थापित करता है।

आयुर्वेद और योग का परस्पर सादृश्य, प्रभाव और अन्तत: एकत्व जैसे विषय पर प्रभावशाली और प्रमाणिक रूप से लिखने के लिए निश्चय ही किसी व्यावसायिक योगी की अपेक्षा कोई आयुर्वेद का विद्वान् अधिक योग्य और सफल हो सकता है।

आयुर्वेद और योग जैसे प्राचीन भारतीय विज्ञानो जो परस्पर बहनें है, पर प्रामाणिक रूप से लिखने के लिए आचार्य राजकुमार जैन एक सक्षम व्यक्ति हैं। पुस्तकाकार मे उपलब्ध उनका यह प्रयास इन पद्धतियो मे अभिरुचि रखने वालो के लिए माननीय और लाभदायक सिद्ध होगा।

आत्म-कथ्य

भारतीय संस्कृति की गरिमा, व्यापकता, विशालता और महत्ता सुविदित है। दार्शनिक चिन्तन पद्धति और आध्यात्मिक प्रवृत्ति-ये दो अजस्र धाराएं अनादि काल से भारतीय संस्कृति को आप्यायित और सर्वधित करती आ रही हैं। इन दोनों समानान्तर धाराओ के कारण भारतीय जनजीवन में जो धार्मिक चेतना प्रस्फुटित हुई और उसके द्वारा जिन संस्कारो का अविर्भाव जन मानस मे हुआ उससे भारतीय संस्कृति काल-कालान्तर तक अक्षुण्ण बन गई है। उसका स्वरूप इतना व्यापक हो गया है कि अपने प्रभाव से उसने अन्य सस्कृतियो को भी पराभूत कर दिया है। उसका मूल इतनी गहराई तक पहुंचा हुआ है कि अनेक वैदेशिक आघातो के बावजूद उसके अपने मूल स्वरूप में कोई विकृति नही आई, अपितु वैदेशिक सस्कृतियो को आत्मसात कर उसने अपनी विशालता और उदारता का परिचय दिया है।

योगदर्शन अथवा योगशास्त्र भारतीय सस्कृति के सुदृढ़ आधार स्तम्भों में से ही एक है। योग के द्वारा जहा भारतीय सस्कृति के दार्शनिक पक्ष की पुष्टि हुई है और उसकी चिन्तन धारा मे परिपक्वता आई है वहाँ उसके द्वारा लोगो मे आध्यात्मिक प्रवृत्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ है। योगदर्शन ने लोगों को वस्तुतः इसलिए प्रभावित किया कि उसने उन्हे निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की प्रेरणा दी। निवृत्ति को साध्य या लक्ष्य मानकर प्रवृत्ति की प्रेरणा या निर्देश देना योगशास्त्र की मौलिक वशेषता है। यही कारण है कि योगाचार्यों या योग के आदि प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही विवेचन नहीं किया, अपितु उसके व्यवहारिक पक्ष को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि मनुष्य को योग में सफलता या सिद्धि केवल तब ही मिल सकती है जब वह योग के सिद्धान्तो को व्यवहारिक रूप देकर उन्हें जीवन मे उतार कर आत्मसात करे। इसके लिए किसी को गृह त्याग करना आवश्यक नही है। अत: योगशास्त्र के अनुसार एक गृहस्थ भी योगी बन सकता है और निवृत्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

आयुर्वेद मात्र चिकित्सा शास्त्र न होकर एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। वह पूर्णतः भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता से अनुप्राणित है। समकालीन होने के कारण जहां अन्य दर्शनो ने आयुर्वेद को प्रभावित किया है वहां योगदर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पड़ा है, जिसकी पुष्टि चरक संहिता में प्राप्त अनेक उद्धरणो से होती है। महर्षि चरक ने जिस सूक्ष्मता से योग और उससे सम्बन्धित विषयों का सारगर्भित विवेचन किया है उससे योग के द्वारा आयुर्वेद का

प्रभावित होना सहज ही ज्ञात होता है। इसका समुचित विवेचन पाठकगण इसी ग्रंथ में सम्बन्धित प्रकरण मे देखेंगे। योग और स्वास्थ्य का निकट एवं अपरिहार्य सम्बन्ध होने के कारण तथा स्वास्थ्य आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य होने के कारण योग और आयुर्वेद का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इसका भी इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

अद्यावधि योग शास्त्र के विद्वानों एवं योगाचार्यों ने योग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर जहाँ गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है तथा उसके परिणाम स्वरूप अन्यान्य ग्रंथो का प्रणयन किया है वहा ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने योग और आयुर्वेद के पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी उपयोगिता पर गम्भीरता पूर्वक पर्याप्त विचार नहीं किया है। कदाचित् प्रसगवश इस विषय पर विचार किया भी गया हो, किन्तु अभी तक तद्विषयक कोई प्रामाणिक ग्रंथ मेरी दृष्टि में नहीं आया है। यही स्थिति आयुर्वेद के विद्वानो की भी है। आयुर्वेद के विद्वानों द्वारा योग और आयुर्वेद विषय पर लिखे गए एक दो अति सक्षिप्त लेख यदा कदा पिछले दिनो आयुर्वेद की पत्रिकाओ मे देखने को अवश्य मिले, किन्तु विषय की गम्भीरता एव विशदता को देखते हुए उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

पिछले कुछ समय से विद्वानों, चिन्तको, विचारकों, वैज्ञानिको एव चिकित्सको का ध्यान योग की ओर आकृष्ट हुआ है। शासनतन्त्र भी इस ओर सक्रिय हुआ प्रतीत होता है। अत: शिक्षा मे योग को पर्याप्त स्थान दिये जाने हेतु लगातार प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसका कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि आधुनिक घुटन भरे, तनाव पूर्ण, कुण्ठा युक्त वातावरण मे जहाँ मनुष्य शाति की तीव्र अभिलाषा के साथ जीवन की सार्थकता हेतु प्रयत्न शील है वहाँ उसे केवल योग के द्वारा ही कुछ राहत का अनुभव हुआ है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को जितनी तीव्रता से भौतिकवाद और विलासिता की ओर अग्रसर किया है उससे सम्पूर्ण विश्व मे मनुष्य को अनेक विषमताओ, समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है जिसके कारण भीषण रूप से वह मानसिक अशान्ति का शिकार बना हुआ है। इसके अतिरिक्त कृत्रिमता और आडम्बर पूर्ण जीवन यापन के कारण आज विश्व मे अनेक प्राणघातक रोगो का प्रादुर्भाव हो गया है जिसका मानसिक अशांति से निकटतम सम्बन्ध है। इसके निराकरण और पुन: मानसिक शान्ति स्थापन के लिए योग को अत्यन्त उपयोगी एव महत्वपूर्ण पाया गया है। इसलिए वैज्ञानिक और चिकित्सक गण योग की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं, ताकि अन्यान्य मानसिक व्याधियो, हृदय रोग जैसे प्राणघातक भीषण रोगों तथा अन्य विकारों के उपचार के लिए योग एवं यौगिक क्रियाओ का वैज्ञानिक रीति से प्रयोग कर समुचित लाभ उठाया जा सके।

यह एक आश्चर्य जनक तथ्य है कि केवल आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने ही योग्य सम्बन्धी क्रियाओं को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उपनिषद, महाभारत-जिसमें भगवद्गीता भी शामिल है—जैनधर्म एवं बौद्ध धर्म सभी ने न्यूनाधिक रूप से योग सम्बन्धी सिद्धान्तों-क्रियाओं को स्वीकार किया है। इसका कारण सम्भवत' यह है कि तपस्या एव गहन चिन्तन विषयक जो विचार उस समय अस्पष्ट और अनिश्चित रूप मे विद्यमान थे उन सब का निचोड़ पतञ्जलि के योग में पाया जाता है। योग शास्त्र मे आत्म-नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया गया है। योग हमें शरीर को वश मे करने के लिए कहता है, मारने के लिए नहीं। इन्द्रिय भोग से दूर रहना और शरीर को कष्ट देना—ये दोनो सर्वथा भिन्न बातें है, दोनों एक समान नहीं हैं। किन्तु कहीं कहीं इन्हें परस्पर मिला दिया गया है। योग शास्त्र ने मुख्यत: इन्द्रिय भोग से दूर रहने का निर्देश दिया है। योग का कहना है कि शरीर की पूर्णता सौन्दर्य, शोभा, शारीरिक बल और दुर्भेद्य कठोरता में है। जहाँ योग एक ओर सांख्य सम्मत भेदज्ञान द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को अंगीकार कर लेता है वहाँ इसका मुख्य बल मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधनो अर्थात् मानसिक वृत्तियों-व्यापारो के दमन पर अधिक है। वस्तुत. मानसिक क्रियाओं के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान नहीं मान लेना चाहिये। योग स्वयं एक प्रक्रिया है जो एकाग्रता की द्योतक है। अत: योग अथवा एकाग्रता के द्वारा हम मन के विविध सकल्प-विकल्प रूप कृत्रिम स्तरों को हटाते हुए आत्मा के निर्मल स्वरूप तक पहुच जाते हैं जिसमे योग की चरम परिणति सन्निहित रहती है।

वर्तमान में आधुनिक एव कृत्रिमतापूर्ण भौतिकवादी जीवन के कारण जिस तीव्रता पूर्वक योग की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है उसे दृष्टिगत रखते हुए योग और आयुर्वेद' जैसे गम्भीर विषय पर पर्याप्त चिन्तन अपरिहार्य हो गया है। मैं कोई बहुत बडा योगी अथवा योग शास्त्र का ज्ञाता नही हूं, आयुर्वेद का अल्पज्ञ अवश्य हू। तथापि इस विषय का थोडा बहुत अध्ययन करने के उपरान्त मैं जो कुछ समझ पाया हूं उसे अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इस लघु पुस्तक मे निबद्ध करने का प्रयास किया है जो विद्वज्जनो के समक्ष एक प्रकार की धृष्टता ही है। अत: इस धृष्टता के लिए मैं विद्वज्जनो से क्षमा प्रार्थी हूं। आशा है अल्पज्ञ होने के नाते मुझे क्षमा करेंगे।

इस ग्रंथ मे मेरा अपना कुछ नहीं है। योग शास्त्र के विद्वानों, आचार्यों और मनीषियों तथा आयुर्वेद के महर्षियों एवं आचार्यों के विचारों को ही मूलत: इस ग्रंथ मे निबद्ध करने और दोनों दृष्टिकोणो मे सामञ्जस्य स्थापित करने का क्षुद्र प्रयास मैंने किया है।

मेरा यह तुच्छ प्रयास पूर्णत: सफल एवं सार्थक होगा—यह दावा मैं नहीं कर सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि इन दोनों विषयों से अनभिज्ञ जिज्ञासु लोगो को यह ग्रंथ किसी न किसी अंश मे अवश्य लाभान्वित करेगा-यह विश्वास है।

विज्ञ पाठक एवं सुधीजनो से इस ग्रंथ मे रह गई त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने हेतु विशेष अनुरोध है, ताकि यथासमय उनका परिमार्जन किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना मे मैंने जिन विद्वानो के ग्रन्थो से सहायता ली है उनका मैं हृदय से आभारी हूं। इसके अतिरिक्त मेरे शुभ चिन्तको द्वारा मेरी इस पुस्तक की रचना के लिए जो आशीर्वाद प्राप्त हुआ है उसी का परिणाम है कि यह पुस्तक आज पाठको के कर कमलो मे पहुच सकी है। इस कार्य मे मेरे सहयोगियों के द्वारा जो हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं सदैव उनका हृदय से आभारी रहू गा। मैं अपने अनन्य मित्र बन्धुवर प० रत्नेन्द्र कुमार जी जैन शास्त्री का विशेष आभारी हू जिन्होने इस पुस्तक के मुद्रण एव प्रूफ रीडिंग मे मुझे अपना अनवरत सहयोग दिया है।

अन्त मे उन सभी सज्जनो का आभार मानता हू जिन्होने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन मे सहयोग दिया है।

महावीर जयन्ती
चैत्र कृष्णा त्रयोदशी, स० २०३४

विनयावनत,
राजकुमार जैन

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय सकरण आपके हाथ मे है। कतिपय अपरिहार्य परिस्थितियो के कारण एक दीर्घ अन्तराल तक इस पुस्तक का प्रकाशन नही हो पाया, जिसका हार्दिक खेद है। इस बीच इस पुस्तक की मांग को देखते हुए इसकी लोकप्रियता एव आवश्यकता का अनुमान सहज हो जाता है। प्रसन्नता है कि प्रस्तुत द्वितीय सस्करण आपके हाथ मे पहुच रहा है।

सहयोगी विज्ञजनो एव पाठको ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस सम्बन्ध मे प्रेषित किए थे। तदनुसार इसमे सशोधन एव परिवर्धन किया गया है। आशा है पाठक गण एव विज्ञजन सतुष्ट होगे।

इस पुस्तक को व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने हेतु श्री धन्वन्तरि शासकीय आयुर्वेद महा विद्यालय, उज्जैन मे स्वस्थवृत्त विषय के व्याख्याता डा० राकेश प्रकाश निगम ने प्रस्तुत संस्करण के लिए योगासनो का चित्राकन करने तथा मैटर को सुनियोजित एव व्यवस्थित करने मे अपना विशेष सहयोग दिया है उसके लिए वे मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

पाठको के लिए यदि यह किञ्चिन्मात्र भी उपयोगी प्रतीत हुआ तो मैं अपना यह प्रयास सफल समझूंगा।

—:o:—

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ
१. मंगलाचरण	...
२ विषय प्रवेश	१
३. योग क्या है ?	५
४ आयुर्वेद क्या है ?	११
५ आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति	११
६. आयुर्वेद की परिभाषा	१३
७ सुखादि आयु का लक्षण	१४
८. हित और अहित आयु	१४
९. आयु का मान	१५
१०. आयुर्वेद का प्रयोजन	१६
११. आयुर्वेद का अधिष्ठान	१६
१२ आयुर्वेद में योग का स्वरूप	२३
१३. योग और आयुर्वेद	२८
१४. आयुर्वेद मे मन का स्वरूप	३९
१५. मन के गुण	४४
१६. मन के विषय तथा कर्म	४७
१७. मन का स्थान	४९
१८. योग और स्वास्थ्य	५२
१९. योग द्वारा स्वास्थ्य साधन	५९
२०. व्यक्तित्व, बुद्धि और मन का विकास	६३
२१. योग परम्परा, भेद एव अष्टांग	६८
२२. योग के भेद	६९
२३. मंत्रयोग	७२
२४. लययोग	७३
२५. राजयोग	७४
२६. योग के आठ अंग	७५

२७. यम ७८
२८. अहिंसा ८०
२९. सत्य ८१
३०. अस्तेय ८३
३१. ब्रह्मचर्य ८४
३२. अपरिग्रह ८६
३३. नियम ८६
३४. शौच ९१
३५. सन्तोष ९२
३६. तप ९४
३७. स्वाध्याय ९५
३८. ईश्वर प्रणिधान ९६
३९. आसन ९९
४०. आसन किसे कहते हैं ? १००
४१. आसन और व्यायाम १०२
४२. आसनो की प्राचीनता एव ऐतिहासिकता १०५
४३. आधुनिक युग में आसन की उपयोगिता १०८
४४. आसनो की सख्या एव प्रकार ११२
४५. आसनाभ्यास से पूर्व ज्ञातव्य ११६
४६. आसन से लाभ ११८
४७. योगासन और आयुर्वेद १२१
४८. सस्थानो को प्रभावित करते वाले आसन १२२
४९. अन्तःस्रावी ग्रन्थियो को प्रभावित करने वाले आसन १२२
५०. अवयवो को प्रभावित करने वाले आसन १२३
५१. विभिन्न व्याधियो मे उपयोगी आसन १२३
५२. त्रिदोष को प्रभावित करने वाले आसन १२५
५३. यौगिक षट्कर्म १२६
५४. धौतिकर्म १२७
(क) वस्त्र धौति-प्रयोग विधि, ज्ञातव्य एवं लाभ १२८
(ख) कुंजल या गजकरणी-प्रयोग विधि एव लाभ १३०
(ग) दण्डधौति—विधि एवं लाभ १३२
५५. नेति कर्म और उसके प्रकार १३३

(क) सूत्रनेति—निर्माण व प्रयोग विधि तथा लाभ १३४
(ख) जल नेति—विधि एवं लाभ १३५
(ग) दुग्ध नेति—घृत नेति १३७
५६. बस्तिकर्म—प्रयोग विधि १३७
बस्ति से लाभ १३९
५७. त्राटक कर्म—प्रयोगविधि, ... १४०
५८ त्राटक कर्म — भेद एव लाभ १४१
५९. नौलिकर्म —प्रयोग विधि एवं प्रकार १४३
६०. नौलिकर्म से लाभ १४४
६१. कपालभाति कर्म—क्रिया विधि १४५
६२. कपालभाति —लाभ एवं निषेध १४६
६३. षट्कर्म का प्रयोजन १४६
६४. प्राणायाम विवेचन १४८
६५ प्राणायाम का लक्षण या परिभाषा १४९
६६. प्राणायाम मे प्राण का महत्व १५१
६७. प्राणायाम मे त्रिबंध का उपयोग १५५
६८. प्राणायाम का अभ्यास काल और अवधि १५६
६९. त्रिविधि प्राणायाम १५७
७०. प्राणायाम के अभ्यास के उपरान्त १५९
७१. युक्तायुक्त प्राणायाम १५९
७२. प्राणायाम के भेद १६१
७३. रेचक १६५
७४. पूरक—कुम्भक १६५
७५. केवल कुम्भक १६६
७६. सूर्य भेदन १६८
७७ उज्जायी १६९
७८. सीत्कारी १७०
७९. शीतली १७१
८०. भस्त्रिका १७१
८१. भ्रामरी १७३
८२. मूर्च्छा १७४
८३. प्लाविनी १७५
८४. केवल कुम्भक के लाभ १७७
८५. हठयोगसिद्धि का लक्षण १७८

८६. हठयोग और राजयोग की सिद्धि १७८
८७. राजयोग की प्राप्ति १७८
८८. प्रत्याहार १७६
८६. धारणा १८६
६०. ध्यान १६०
६१. ध्यान का अर्थ और स्वरूप १६१
६२. समाधि १६५
६३. समाधि के भेद २०१
६४ सम्प्रज्ञात समाधि और भेद २०१
६५. असम्प्रज्ञात समाधि २०५
६६. त्रिपुटी और संयम २०७
६७. मोक्ष या अपुर्भव २०६
६८. आयुर्वेद मे अपुनर्भव का स्वरूप २०६
६६. योग मे मोक्ष या कैवल्य २१०
१००. योग और आयुर्वेद मे नाडी विज्ञान २१२
१०१. वात नाड़ी संस्थान का संक्षिप्त परिचय २१२
१०२. योग शास्त्र में नाड़ी वर्णन २१५
२०३. आयुर्वेद मे नाड़ी वर्णन २१६
२०४ सुषुम्ना—इड़ा—पिंगला २२०
२०५. आधुनिक दृष्टि से सुषुम्ना २२३
२०६. योगशास्त्र मे कुण्डलिनी का स्वरूप २२५
२०७ नाडीचक्र निरूपण २२६
२०८. मूलाधार चक्र २२७
२०६ स्वाधिष्ठान चक्र २२८
२१० मणिपूरक चक्र २२६
२११. अनाहत चक्र २३०
२१२. विशुद्धाख्य चक्र २३२
२१३. आज्ञा चक्र २३३
२१४. आसनो का प्रायोगिक स्वरूप २३५
२१५. आसनो का वर्गीकरण २३६
२१६. सूर्य नमस्कार २३७
२१७. सिद्धासन २३६
२०८. पद्मासन २४०

२०९. अर्द्ध पद्मासन २४१
२१०. बद्ध पद्मासन २४२
२११. स्वस्तिकासन २४३
२१२ सुखासन २४४
२१३ योग मुद्रासन २४५
२१४. पवन मुक्तासन २४६
२१५. गोमुखासन २४७
२१६. वज्रासन २४८
२१७. सुप्त वज्रासन २४९
२१८. कूर्मासन २५०
२१९. शशकासन २५०
२२०. मत्स्येन्द्रासन २५१
२२१. अर्धमत्स्येन्द्रासन २५२
२२२. जानुशिरासन २५४
२२३. वृश्चिकासन २५४
२२४. ताडासन २६५
२२५. त्रिकोणासन २५६
२२६. उत्कटासन २५८
२२७. सर्वाङ्गासन २६०
२२८. हलासन २६२
२२९. पश्चिमोत्तानासन २६३
२३०. मत्स्यासन २६५
२३१. चक्रासन २६६
२३२. भुजगासन २६७
२३३. शलभासन २६८
२३४. धनुरासन २६९
२३५. मयूरासन २७१
२३६. नाभि-आसन या दोलासन २७२
२३७. शवासन २७३
२३८. शीर्षासन २७४

योग और आयुर्वेद

मंगलाचरण

दीर्घायुष्य विधत्ते सुखमपि परम यो जनानामजस्र
रोगाणा जालपाश सपदि मननत: साग्रह यश्छिनत्ति ।
ध्वस्ताधिव्याधिवर्गं विहतमलचयं सर्ववंद्य मुनस्त—
मात्रेय वाऽग्निवेश चरकमुनिवर देवधन्वन्तरिं वा ।।

—जो मनुष्य के दीर्घायुष्य को करता है, जो लोगों को सतत रूप से परम सुख प्रदान करता है, एक बार मनन करने मात्र से जो रोगों के जाल रूपी पाश को आग्रह पूर्वक काट देता है, जिसने समस्त आधि-व्याधि वर्ग को नष्ट कर दिया है, दोष समूह को नष्ट करने वाले, समस्त प्राणियों द्वारा वन्दनीय महर्षि आत्रेय अथवा महर्षि अग्निवेश, महर्षि चरक या भगवान धन्वन्तरि को नमस्कार है ।

× × ×

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मल शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

चित्त की मलिनता योगशास्त्र के द्वारा, वाणी (पद-वाक्य) की मलिनता (अशुद्धि) व्याकरण शास्त्र के द्वारा और शरीर की मलिनता वैद्यक शास्त्र के द्वारा जो दूर करता है उस मुनिश्रेष्ठ पतञ्जलि को मैं अञ्जलिबद्ध रूप से प्रणाम करता हू ।

× × ×

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ ।
पु स्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि 'योग' इत्युदितो यया ।।

महर्षि पतञ्जलि की योगदर्शन रूपा ऐसी अपूर्व वाणी की जय हो, जिसके द्वारा पुरुष और प्रकृति के वियोग को भी 'योग' कहा गया है ।

× × ×

जयन्ति वाच: फणिभर्तुरान्तर—

स्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विष: ।

विभाव्यमाना: सततं मनांसि,

या: सतां सदानन्दमयानि कुर्वते ।।

जो अन्त:करण के अज्ञानरूप अन्धकार का निवारण करने के लिए चन्द्रमा की किरणों के समान प्रकाशित हो रही है तथा निरन्तर अनुशीलन करने पर जो सज्जन पुरुषों के मन को सदा आनन्दमय करती रहती है, शेषावतार महर्षि पतञ्जलि की उन वाणी की सदा जय हो ।

× × ×

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत: ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ! ।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

—श्रीमद् भगवद्गीता

जो अधिक भोजन करता है उसको योग-सिद्धि नही होती है, जो निराहार रहता है उसको भी योग सिद्धि नही होती है । अधिक सोने वाले को योग-सिद्धि नही होती है और अधिक जागने वाले को भी योग-सिद्धि नही होती है । युक्त आहार-विहार वाले, कर्मों मे युक्त चेष्टा वाले, युक्त सोने और जगने वाले का योग दुःखो का नाश करने वाला होता है ।

× × ×

विषय-प्रवेश

भारत मे प्राचीनकाल से ही योग और आयुर्वेद दोनो पृथक्-पृथक् धारा के रूप मे प्रवाहित होते चले आ रहे हैं। दोनो ही शास्त्रो ने भारतीय जन-जीवन एवं सस्कृति को पर्याप्त रूप से प्रभावित तो किया ही है उसे आप्यायित और संवर्धित भी किया है। योगशास्त्र ने जहाँ भारतीय जन जीवन को आध्यात्मिक प्रक्रिया की ओर उन्मुख कर भारतीय सस्कृति को एक नवीन चिन्तन धारा प्रदान की वहाँ आयुर्वेद ने भारतीय जनजीवन की स्वास्थ्य और आरोग्य सम्बन्धी समस्याओ के निराकरण तथा रोगाभिभूत शरीर की चिकित्सा मे अपने सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनो पक्षो के द्वारा पर्याप्त योगदान किया है। आयुर्वेद की अध्यात्म परक विचार धारा और जीवन के प्रति कल्याणकारी उद्देश्यो से भारतीय सस्कृति के सपोषण मे भी पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है। तत्कालीन समाज के द्वारा भी योग और आयुर्वेद इन दोनो को जीवन के लिए आवश्यक एव उपयोगी 'मान कर उन्हे पर्याप्त महत्व दिया गया। इसका कारण सम्भवत यह हो सकता है कि योग और आयुर्वेद दोनो का क्रियात्मक पक्ष अधिक उपयोगी एव सशक्त होने के कारण शीघ्रतापूर्वक उन्हें भारतीय जन-जीवन मे आत्मसात् कर लिया गया। लोगो को उन्हे अपने जीवन से अलग करना या दूर रखना उचित प्रतीत नही हुआ और वे अपने जीवन की आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक एव सामाजिक गुत्थियो को सुलझाने मे इन दोनो शास्त्रो के व्यवहारिक पक्ष का अधिकाधिक प्रयोग अपने जीवन मे करने लगे।

भारतीय जन जीवन मे यौगिक पद्धति एव आयुर्वेद पद्धति का प्रवेश कब हुआ ? इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नही है, क्योकि जीवन धारा के साथ साथ ये दोनो धाराएँ भी अजस्र रूप से प्रवाहित होते हुए समानान्तर रूप से चली आ रही हैं। तथापि अनेक प्रख्यात विद्वानो, चिन्तकों, और विचारको के उस महत्वपूर्ण मत की अपेक्षा नहीं की जा सकती जिसमें उन्होंने यौगिक पद्धति और भारतीय दार्शनिक विचारधारा की योग परम्परा के सिद्धान्तों का सम्बन्ध ऋग्वेद काल से जोड़ा है। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय चिन्तनधारा, आध्यात्मिक

अनुभूति सम्बन्धी विचार और दार्शनिक अनुशीलन पद्धति के बीज पर्याप्त रूप से उपनिषदो मे मिलते हैं। अत भारतीय दर्शनो के सैद्धान्तिक विवेचनो का मूल स्रोत जहा उपनिषद् हैं वहा वे उपनिषद् यौगिक पद्धति के मूल उद्गम भी माने जाते है, क्योंकि उनमें पर्याप्त रूप से प्रारम्भिक योग के सिद्धान्तो के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का चारो ही वेदो से निकटतम सम्बन्ध रहा है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है और ऋग्वेद मे आयुर्वेद सम्बन्धी पर्याप्त उद्धरण देखे जा सकते हैं। आयुर्वेद के अन्यान्य ग्रन्थो में प्राप्त उद्धरणो से यह ज्ञात होता है कि यह एक अनादि और शाश्वत जीवन-विज्ञान शास्त्र है तथा इसकी अभिव्यक्ति सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्मा जी द्वारा की गई थी। ब्रह्मा जी से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया और उन्होंने इसका उपदेश अश्विनी कुमारो को दिया। अश्विनी कुमारो से देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण कर महर्षि भरद्वाज, दिवोदास धन्वन्तरि, महर्षि कश्यप प्रभृति ऋषियो को दिया, जिससे भूमण्डल पर मानव जीवन के हितार्थ उसका प्रसार हुआ।

योग पद्धति अथवा योग सिद्धान्तो का विधिवत् प्रामाणिक शास्त्र निबद्ध ज्ञान हमे महर्षि पतञ्जलि के द्वारा प्राप्त होता है। इसके लिए पतञ्जलि कृत योग सूत्र अथवा योग दर्शन नामक ग्रन्थ नि सदेह एक महत्वपूर्ण कृति है, जिससे यह एक सुनिबद्ध शास्त्र के रूप मे अपनी पृथक् चिन्तनधारा के लिए मान्य हुआ। इसके वर्तमान चार अध्यायो मे १९५ सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है, जिससे योगशास्त्र का मौलिक स्वरूप, स्वतन्त्र अस्तित्व और गहन अनुभूति परक चिन्तन पद्धति का सहज आभास मिलता है। कतिपय दार्शनिक विद्वानो का अभिमत है कि योगदर्शन की मूल विचार धारा महर्षि पतञ्जलि को हिरण्यगर्भ से प्राप्त हुई थी। योगदर्शन का मूलस्रोत चाहे जो हो रहा हो उसमे मानव जीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने और जीवन को निकटता से देखने की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है वह इतनी यथार्थ और व्यवहारिक है कि पृथ्वी पर जीवन आरम्भ के साथ यौगिक पद्धति के आरम्भ का विचार सहज ही मस्तिष्क मे आ जाता है।

प्राचीन काल मे ऋषि-महर्षियो, चिन्तको और विचारको द्वारा मनुष्य के दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय चिन्तन के अन्तर्गत सत्यान्वेषण बुद्धि के रूप मे जो पद्धति अपनाई गई वह पूर्णत आध्यात्मिक थी और उसके द्वारा सृष्टि के अनेक रहस्यों और गहन गुत्थियो को सुलझाने के साथ-साथ दुःख निवारण के अन्यान्य उपाय भी प्रतिपादित किए गए। गहनतम अनुभूतियो, सतत चिन्तन और सूक्ष्म दृष्टि विवेक के परिणाम स्वरूप जो नवनीत उद्भूत हुआ उसे अलग अलग रूप से क्रमबद्धता के अन्तर्गत निबद्ध किया गया। परिणामत छह चिन्तनधाराओं का उद्भव हुआ और उसे षड्

दर्शन की संज्ञा दी गई। दर्शनों की इन छह् विचारधाराओं मे से यौगिक विचारधारा, योगदर्शन या यौगिक परम्परा भी एक है। भगवद्गीता मे भी दर्शन की योग परम्परा को महान सत्यस्वरूप, यथार्थमय, मानव जीवन के अत्यन्त निकट और आत्मिक उपलब्धि के सुगम साधन के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

योगदर्शन वस्तुत: आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक प्रक्रियाओं का एक ऐसा समन्वित रूप है जिसमे मानव मात्र की सभी प्रकार की समस्याओ का समाधान निहित है। योगदर्शन के द्वारा मूल रूप से यह् पाठ सिखाया जाता है कि मन के ऊपर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाय जिससे मनुष्य मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ हो सके। तब ही मनुष्य की आध्यात्मिक उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है और वह् अपना लक्ष्य साधन कर सकता है। मन के नियन्त्रण से अनेक मानसिक शारीरिक और बौद्धिक विकारो से मुक्ति मिलती है और उसका मानसिक व बौद्धिक विकास होता है। मानसिक रूप से स्वस्थ चित्त होना केवल मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक स्तर पर ही उपयोगी नही है, अपितु बौद्धिक विकास, सुषुप्त अन्यान्य आन्तरिक शक्तियो का विकास और उच्चस्तरीय मन: स्थितियो तक पहुचने के लिए अनेक महत्वपूर्ण शारीरिक क्रियायो-प्रक्रियाओ के अभ्यास के द्वारा लक्ष्य प्राप्ति मे बडी सहायता मिलती है, अतः यह् एक उपयोगी और महत्वपूर्ण साधन है। योग-दर्शन का गम्भीर अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि योग पद्धति में मनोविज्ञान के अनेक पक्षो का समावेश है। वस्तुत: योग पद्धति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष के अध्ययन के अभाव मे मनोविज्ञान की पूर्णता सदिग्ध है। क्योकि आधुनिक मनोविज्ञान आध्यात्मिकता से उतना आपूरित नही हैं जितना योग दर्शन और योगपद्धति आपूरित है।

इस आधार,पर यह् कहा जा सकता है कि योगशास्त्र में भारतीय अध्यात्म विद्या, मानस शास्त्र या मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र एव दार्शनिक चिन्तन पद्धति का ऐसा अद्भुत समन्वय किया गया है कि जिससे मानव कल्याणकारी एक स्वतत्र पद्धति का विकास हुआ है। इसमे केवल सिद्धान्तों का विवेचन या मात्र रहस्यात्मक विषयों का समावेश नहीं है, अपितु उसकी प्रायोगिक एवं व्यवहारिक पद्धति का इतना सरल और वैज्ञानिक प्रतिपादन है कि विषय की दुरूहता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अत. यह् वास्तव में एक मानव कल्याणकारी शास्त्र है। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में भी भारतीय अध्यात्म विद्या, मानसशास्त्र, शरीर शास्त्र एव दार्शनिक चिन्तन पद्धति का समावेश इस ढग से किया गया है कि जीवन के शाश्वत मूल्यो की सुरक्षापूर्वक मानव के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के प्रति तनिक भी उदासीनता का भाव लक्षित नही होता है। आयु ही जीवन है, आयु का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अत: आयुर्वेद

एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। आयुर्वेद और योगशास्त्र मे यदि अन्तर है तो केवल इतना ही कि आयुर्वेद मे शारीरिक और मानसिक आरोग्यपरक पद्धति, रोग निवारण के लिए औषध प्रयोग और उसके सैद्धान्तिक विवेचन को विशेष रूप से महत्व दिया गया है, यही कारण है कि आयुर्वेद को जीवन विज्ञान शास्त्र, आरोग्यशास्त्र या चिकित्साशास्त्र भी कहा जाता है। जबकि इसका चरम लक्ष्य भी योगशास्त्र की भाँति मानव की इस ससार से सर्वांशत' मुक्ति है। आयुर्वेद मे आध्यात्मिक विषयो का विवेचन प्रसगवश अल्प ही है, जबकि आरोग्य प्रतिपादक सिद्धान्तो, चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तो और औषध प्रयोग सम्बन्धी विवेचन का बाहुल्य है। किन्तु योगशास्त्र मे ऐसा नही है। इसके विपरीत योगशास्त्र मे अन्त'करण की शुद्धि, मन का नियन्त्रण और मानसिक शक्ति के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। इस प्रक्रिया मे शारीरिक आरोग्यलाभ और अनेक रोगो का उपशमन स्वत ही हो जाता है। इसके लिए कोई विशेष पद्धति इस शास्त्र मे नही अपनाई गई है और न ही औषध प्रयोग एव चिकित्सा के सिद्धान्तो के विवेचन को कोई महत्व दिया गया है। अत दोनो की धारा सर्वथा भिन्न है। तथापि अनेक विषयो से साम्य होने के कारण दोनो का एक साथ अध्ययन यहा अभीष्ट प्रतीत होता है।

आयुर्वेद मे जिस प्रकार औषध प्रयोग के पश्चात् अथवा आहार-विहार सेवन के पश्चात् यह देखा जाता है कि शरीर के किस सस्थान या किस आभ्यन्तरिक अवयव पर उस औषध या आहार विहार का क्या प्रभाव पडा ? तदनुसार फिर उसके द्वारा रोग निवारण सम्बन्धी प्रभाव का विचार किया जाता है। इसी प्रकार योग पद्धति के अनुसार जो भी क्रिया विशेष या यौगिक अभ्यास किया जाता है उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति के आभ्यन्तरिक सस्थानो या अवयवो पर अवश्य पडता है, जिससे उनकी क्रिया नियन्त्रित स्वाभाविक एव नियमित होती है। ऐसी स्थिति मे तदवयव या उस सस्थानगत विकृति का सहज ही निवारण हो जाता है। इस रूप मे आयुर्वेद और योग मे काफी निकटता एव समानता है। यौगिक पद्धतियो मे जिन क्रियाओ, अभ्यासो या आचरण का निर्देश किया गया है उनका आयुर्वेद से कोई अन्तर्विरोध नही है। वे आयुर्वेद के सिद्धान्तो के सर्वथा अनुकूल हैं, अत: उन्हे सर्वथा उपादेय माना गया है। ऐसा सभी प्रकार का आचरण या अभ्यास जो स्वास्थ्य के लिए अनुकूल और हितकारी होता है, आयुर्वेद विहित होने से आयुर्वेद की दृष्टि से ग्राह्य समझना चाहिए।

योग क्या है ?

भारतीय दर्शन-शास्त्र मे षड् वैदिक दर्शनो के अन्तर्गत योग-दर्शन का परिगणन किया गया है। मनीषियो के कथनानुसार योग दर्शन व्यवहारिक रूप मे साख्यदर्शन का अनुपूरक शास्त्र है। अर्थात् जिस मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साख्यदर्शन मे सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया है उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग दर्शन मे उस सैद्धान्तिक तत्व विश्लेषण को व्यवहारिक रूप मे विभिन्न साधनो के माध्यम से प्रयत्नपूर्वक आचरण करने का निर्देश किया गया है। अत॰ यह कथन निर्विवाद है कि योगदर्शन की तात्विक मान्यता सांख्यशास्त्र से बहुत मिलती जुलती है। साख्य और योग के तात्विक विवेचन मे यदि कोई भेद प्रतीत होता है तो वह केवल वर्णन शैली का ही भेद है, मौलिक मतभेद कही नही है। साख्य दर्शन की वर्णन शैली सैद्धान्तिक विवेचन परक है जबकि योगशास्त्र का वर्णन क्रम अधिकांशत व्यावहारिक प्रयोगात्मक पक्ष पर आधारित है।

योग का सामान्य अर्थ है—समस्त चित्तवृतियो (मनोव्यापार) का निरोध करना। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने योग शास्त्र मे योग का लक्षण बतलाया है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"—योगसूत्र १/२

मनुष्य अपने सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार की सिद्धि के लिए चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसना-त्वक् इन पांच ज्ञानेन्द्रियो तथा हस्त-पाद-पायु-उपस्थ-वाक् इन पाच कर्मेन्द्रियो का उपयोग करता है। मनुष्य के व्यवहार या आचरण का साधन होने से इन इन्द्रियो को करण भी कहा जाता है। इनका सम्बन्ध शरीर के बाह्य क्रिया कलाप से है, अत. ये बाह्य करण कहलाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने आभ्यन्तरिक व्यवहार या आचरण की सिद्धि के लिए मन बुद्धि, अहकार इन तीन साधनो का उपयोग करता है। ये तीनो साधन अन्तःकरण कहलाते हैं। इन सभी साधनो (बाह्यकरण और अन्तःकरण) में मन प्रमुख है। वह मन सभी बाह्यकरणों का नियन्त्रक व प्रेरक है। अर्थात् दसो इन्द्रियो

की क्रियाएँ मन के अधीन होती हैं। मन स्वय का भी निग्रह करता है और पर्याप्त रूप से बुद्धि एव अहकार को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार दोनो ही करणो मे मन की विशेष स्थिति है। योगदर्शन में मन को 'चित' सज्ञा से व्यवहृत किया गया है और उस मन के सम्पूर्ण व्यापार को चित्त वृत्ति कहा गया है। इन सम्पूर्ण चित्तवृत्तियो का मन की एकाग्रता पूर्वक ही निग्रह किया जा सकता है। अर्थात् जब मन की एकाग्रता होती है तब सभी (दसो) इन्द्रियो का सम्पूर्ण व्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यही 'चित्तवृत्ति निरोध' कहलाता है और इसी का नाम 'योग' है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब चित्त (मन) विविध विषयो मे अपने प्रवृत्तिरूप कार्यों को न करते हुए शान्त, व्यवस्थित, निश्चल और एकाग्र स्थिति में होता है उस अवस्था का नाम अथवा ऐसा करने की प्रक्रिया का नाम 'योग' है।

जब मनुष्य की शारीरिक मानसिक, और आत्मिक स्थिति असतुलित या अस्त व्यस्त हो जाती है तब वह स्वय को अशान्त और दुःखी अनुभव करता हुआ चिन्ता युक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसी पदार्थ या भाव विशेष का जब चित्त (मन) पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है तो उसकी स्थिति अव्यवस्थित हो जाती है और वह अशान्त हो जाता है। इस प्रकार मन का अशान्त होना दुःख या रोग का कारण बन जाता है। मन की अशान्ति को दूर करने के लिए जो प्रयत्न विशेष किया जाता है। उससे दुःख या रोग का अभाव होता है तथा मन शान्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है। अत. दुःख या रोग के कारण भूत 'मन की अशान्ति' के निराकरण का नाम ही 'योग' है। जब मन की अशान्ति का निवारण होता है तो मन में समस्थिति, समताभाव, साम्यावस्था या व्यवस्थीकरण होता है, इसे ही योग कहा जाता है। गीता मे भी यही भाव प्रतिपादित है—"समत्व योग उच्चते।"

इस प्रकार सम्पूर्ण मानस व्यापार (चित्त की वृत्तियो) का निरोध करना योग है और जिसमे चित्त की वृत्तियो के निरोध का उपाय वर्णित है वह 'योग शास्त्र' है। चित्त की वृत्तियो के कारण ही ससार में कर्मबधन होता है और कर्म बन्धन के कारण प्राणियो के शरीर में स्थित यह जीवात्मा ससार की विभिन्न (८४ लाख) योनियो में परिभ्रमित होता हुआ विविध क्लेशो को सहन करता है। संसार के विभिन्न दुःखों को भोगने वाला यह जीवात्मा तब तक उन दुःखो से मुक्ति नहीं पा सकता जब तक वह साधना मार्ग मे प्रवृत्त होकर चित्त को एकाग्र कर चित्त की समस्त अन्तः बाह्य प्रवृत्तियो का निरोध कर उन्हे निजाधीन नही कर लेता। मानव चित्त की वृत्तियो के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये जीव के पाँच क्लेश होते हैं। इन पांचो क्लेशो के नाश का एक व्यवहारिक साधना मार्ग देने के लिए ही योग दर्शन प्रवृत्त हुआ है। चित्तवृत्तियों के निरोध से क्लेशो का नाश होकर जीवात्मा-परमात्मा का योग होता है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आत्मिक) के भिन्न तत्वो के नियन्त्रण द्वारा पूर्णता प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है। भौतिक शरीर, सक्रिय इच्छा शक्ति और समझने की शक्ति रखने वाले मन को नियन्त्रण के अन्दर लाना आवश्यक है। पतञ्जलि ने कुछ ऐसे अभ्यासों पर बल दिया है जिनसे शारीरिक विकृति की चिकित्सा हो सकती है और शरीर की मलिनता दूर की जा सकती है जब इन अभ्यासो से हमें अधिक शक्ति, दीर्घकालीन युवावस्था, शारीरिक स्वस्थता और दीर्घजीवन प्राप्त हो जाय, तो इनका प्रयोग आध्यात्मिक विकास के लिए करना उचित है जिससे मानव जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष को प्राप्त किया जा सके। चित्त की शुद्धि, शान्ति तथा एकाग्रता के लिए अन्य विधियो को भी उपयोग मे लाया जाता है। पतञ्जलि का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही, अपितु क्रियात्मक रूप मे यह सकेत करना है कि सयमी जीवन के द्वारा किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है?

योग की सहायता से मनुष्य चैतन्य के उच्चतर स्तर तक पहुच सकता है जिसका मार्ग मानसिक उपकरण मे परिवर्तन के द्वारा प्रशस्त होता है और इस प्रकार वह उन सीमाओ का अतिक्रमण कर सकता है जिन्हे मानवीय अनुभव की साधारण सीमाए समझा जाता है। योग-शास्त्र मे हिन्दू विचार धारा के उन आधारभूत भावों जैसे भौतिक जगत की अपेक्षा आत्मिक जगत की श्रेष्ठता, मौन साधना और एकान्त सेवन, ध्यान, समाधि तथा बाह्य अवस्थाओ के प्रति उदासीनता आदि को स्पष्टरूप में लक्ष्य कर सकते हैं, जिनके कारण आधुनिक विचारको को हिन्दू जाति की जीवन के प्रति परम्परागत प्रवृत्ति अद्भुत और सनकी प्रतीत होती है। किन्तु जो उससे परिचित है वे यह तथ्य नि संकोच स्वीकार करते हैं कि उनकी वर्तमान मनोवृत्ति को, जो कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण बाह्य वस्तुओ के भार से अत्यधिक आक्रान्त है और जो नीरस कठोर परिश्रम, भौतिक लिप्सा, इन्द्रियजन्य उत्तेजना के कारण आत्मा के यथार्थ अनुभव से सर्वथा विरक्त है, सुधारने के लिए इस साधना की नितान्त आवश्यकता है।

इस प्रकार पतञ्जलि के योगदर्शन की धारणा है कि मनुष्य मानव जीवन की समस्त निधियो से सम्पन्न है जिनसे बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है और ये ऐसी निधियाँ हैं जिनकी कल्पना भी नहीं जा सकती। यह दर्शन मनुष्य को अपने गम्भीरतम क्रियाशील स्तरो तक पहुचने की विधियाँ बतलाता है। योग साधन शरीर, मन और आत्मा के पवित्रीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इन्हें उस आनन्दमय स्वरूप के साक्षात्कार के लिए तैयार करना ही उसका कार्य है।

संसार के समस्त शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति का मूल कारण मन है। मनुष्य का

मन स्वभावत: चञ्चल होता है। मन की इस चंचलता के कारण ही बड़े-बड़े दृढ़ व्रतियों महातपस्वियो, योगियो और सन्यासियों को अपने व्रत, तप, साधना, योग आदि में भ्रष्ट होते हुए देखा गया है। जो मन को अपने वश मे कर लेता है वही अपनी साधना मे पूर्णता प्राप्त कर लक्ष्य-सिद्धि मे सफल होता है। मन को निजाधीन या अपने वश मे करने के लिए उसकी समस्त वृत्तियो या व्यापार का निरोध करना अत्यन्त आवश्यक है। अत्यधिक एकाग्रता और उसके निरन्तर अभ्यास के द्वारा समस्त चित्तवृत्तियो का निरोध करके मन को वश मे किया जा सकता है। यदि पूर्ण रूप से एकाग्रता पूर्वक मन को वश मे कर लिया जाता है तो वह पूर्णतः स्थिरता को प्राप्त हो जाता है और उस समय ऐसे सत्य का साक्षात्कार होता है जो प्रमाणो के द्वारा प्राप्त किए गए सत्यानुभव से सर्वथा विपरीत होता है। अलौकिक सत्यानुभूति का लौकिक सत्यानुभव से विपरीत होना स्वाभाविक है। विभिन्न विशिष्ट साधनो एव उपायो के द्वारा चित्तवृत्ति निरोधमूलक ऐसे अलौकिक सत्यानुभव (आत्मसाक्षात्कार) को ही महर्षि पतञ्जलि ने "योग" की सज्ञा से व्यवहृत किया है।

योग सामान्यत दो प्रकार का होता—सम्प्रज्ञात योग और असप्रज्ञात योग। इसमे प्रथम सम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का होता है— सविकल्प और निर्विकल्प। द्वितीय असम्प्रज्ञात योग एक ही प्रकार का होता है जिसे निर्बीज समाधि या धर्ममेध समाधि भी कहते हैं। यह निर्बीज समाधि ही योग का अतिम लक्ष्य है, इसी से आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा या यो समझिये कि कैवल्य स्थिति होती है। कुछ लोग योग के सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो भेद न करके सीधे तीन भेद मानते हैं। उनके अनुसार योग के तीन भेद होते है— सविकल्प योग, निर्विकल्प योग और निर्बीज योग। इस मतान्तर से योग के मौलिक स्वरूप मे कोई अन्तर नही पड़ता।

योगतत्व उपनिषद् मे योग चार प्रकार का बतलाया गया है—मन्त्रयोग, लय-योग, हठयोग और राजयोग। महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग अन्तिम प्रकार का है, क्योकि यह मन को निश्चल करने तथा समाधि अवस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करता है। हठयोग मे प्रतिपादित सिद्धान्तो के अनुसार हठयोग के द्वारा शारीरिक क्रियाओ पर आधिपत्य प्राप्त किया जा सकता है। शरीर को वश मे करना पातञ्जल योग का एक भाग है। इस प्रकार वर्तमान मे बहुचर्चित योग वस्तुत हठयोग और राजयोग का एक मिश्रित स्वरूप है। योगदर्शन के नाम से दर्शनशास्त्र मे प्रचलित योग भी हठयोग और राजयोग का मिश्रित स्वरूप है जिसमे शरीर और मन की समस्त क्रियाओ का निरोध कर जीवात्मा की मुक्ति ही मुख्यतः प्रतिपाद्य है।

मंत्रयोग विश्वास चिकित्सा पर आधारित है। प्राचीन भारत में अनेक स्थानो

पर मंत्र आदि के द्वारा समस्त कार्यों की सिद्धि हेतु चिरकाल तक उपाय किए जाते रहे हैं। इस प्रकार भारत में बहुत दिनो तक मन्त्रादि के प्रयोग का समय रहा है। वर्तमान मे ईसाई विचारक जो इस विधि का प्रयोग करते हैं, ऐसा कहते हैं कि यह ईसाई मत और पादरियो के प्रभाव का परिणाम है, किन्तु इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि विश्वास-चिकित्सा किसी एक धर्म तक सीमित नही हैं। एम. क्युई हमे प्राचीन चिकित्सा का स्मरण कराता है। विश्वास के द्वारा चिकित्सा किया जाना प्रकृति की व्यवस्था मे हस्तक्षेप नही है जिस मे साक्षात् ईश्वर का हाथ अथवा किसी गौण अतिप्राकृतिक तत्व का प्रवेश काम करता हो। मन्त्रों के द्वारा चिकित्सा केवल ऐसी अवस्थाओ मे ही सम्भव है जहाँ रोग स्नायुजाल से सम्बन्ध रखता हो और मस्तिष्क इच्छा की असफलता के कारण, किसी एक बात के हठात् हृदय मे बैठ जाने से अथवा मानसिक आघात के कारण विकृत हो गया हो।

ईश्वर मे आस्था और विश्वास होने के कारण ही कतिपय आचार्यों ने योग को सेश्वर साँख्य की सज्ञा से व्यवहृत किया है। किन्तु ईश्वर की प्राप्ति योग का चरम लक्ष्य नही है। योग का चरम लक्ष्य तो अलौकिक स्वात्मानुभव है जो असम्प्रज्ञात समाधि का परिणाम है तथा जो अनिर्वचनीय अखण्डानन्द रूप है। योग प्राण मे ईश्वर की धारणा असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुचने का एक साधन मात्र है। योग का ईश्वर तो निर्विकार परमात्मा है, जगत् का सृष्टा या नियन्ता नही। इसी परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग होना 'योग' है। दूसरे शब्दो मे प्रकृति पुरुष के वियोग जो सासारिक वियोग भी कहलाता है को 'योग' कहा गया है। इस प्रकार योग का आधार सीधा अनुभव है और योग का सम्बन्ध अन्तत· 'आतरिक ससार' से है, बाह्य संसार से नही। कुछ शारीरिक क्रियाए अवश्य 'बाह्य ससार' की द्योतक हैं, किन्तु वे योग की प्रारम्भिक स्थिति तक ही सीमित है। अत. वे योग की मूल आधार नही है।

योगशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस शास्त्र मे विभिन्न साधनो का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे मनुष्य अबिवेक (अज्ञान) से मुक्त होकर अपनी आत्मा को ज्ञानालोक से आलोकित कर सके। तब ही वह यथार्थ रूप मे स्वात्मनुभव करता हुआ परमात्मा से साक्षात्कार करने मे समर्थ हो सकता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह सयोग ही 'योग' कहलाता है। इसे 'समाधि' संज्ञा से भी व्यवहृत किया गया है जो जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था जनित होती है। यथा—

समाधि समतावस्था जीवात्मपरमात्मनो:।
सयोगो 'योग' इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो: ।।

—वशिष्ठ संहिता

इस प्रकार 'योग' शुद्ध समाधि अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने ही सबसे पहले योग शब्द को समाधि के अर्थ में प्रयुक्त किया है। व्यास ने भी "**योगः समाधिः**" इत्यादि वचनो से योग शब्द का अर्थ समाधि ही किया है। वाचस्पति का मत है कि योग शब्द "**युज् समधौ**" से निकला है "**युजिर् योगे**" से नही। यथा **युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु युजिर् योगे इत्यस्मात् सयोगार्थं इत्यर्थः**।—(तत्व वैशारदी)।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जा सकती है। जैसे—"**युज्यते एतद् इति योग.**— इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मकारक मे योग शब्द का अर्थ मनस् की वह अवस्था है जब चित्त की समस्त वृत्तियो मे एकाग्रता आ जाती है। इसी प्रकार "**युज्यते अनेन इति योग**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण कारक मे योग शब्द का अर्थ वह साधन है जिससे समस्त चित्तवृत्तियो मे एकाग्रता लाई जाती है। "**युज्यते तस्मिन् इति योग**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अधिकरण कारक मे योग शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ चित्तवृत्तियो की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न कारक के अनुसार योग शब्द की व्युत्पत्ति भिन्नार्थ प्रतिपादक है।

योग अथवा समाधि से तात्पर्य उस रहस्यात्मक शक्ति से भी है जो योगाभ्यास कर्त्ता के जीवन मे आमूल परिवर्तन ला सकती है। महाभारत में योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे हुआ है, किन्तु वे सब जिस धातु से निष्पन्न हुए है उसका अर्थ "जोड़ना' या "मिलाना" है। इस अर्थ मे प्रयुक्त धातु 'युजिर् योगे' है। कठोपनिषद् मे योग शब्द का प्रयोग "इन्द्रियो को वश मे करना" के अर्थ मे हुआ है। गीता मे भी यद्यपि योग शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों मे हुआ है, तथापि उन सबका सम्बन्ध जोडना अर्थ से ही है। मनु ने योग शब्द का अर्थ "वश मे करना" किया है जो सम्भवत· "युज् सयमने" धातु से सम्बन्धित है। पालि भाषा मे भी योग शब्द का प्रयोग 'जोडना' 'वश मे करना' या 'प्रयत्न करना' के अर्थ मे किया गया है, जैसा कि "पुब्ब योगे" या "चित्तस्य निग्गान्हे योगो करणीयो" आदि कथन से स्पष्ट है।

'मेदनी कोश' के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में योग शब्द का प्रयोग या व्यवहार होता है—

> **योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु।**
> **वपु स्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥**

अर्थात् अपूर्व अर्थ सम्प्राप्ति, संगति, ध्यान, युक्ति, शरीर की स्थिरता और प्रयोग, विष्कम्भ, भेषज आदि अर्थों मे योग शब्द का प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद क्या है ?

आयुर्वेद एक अनादि एव शाश्वत सम्पूर्ण जीवन विज्ञान शास्त्र है, जिसमें धर्म अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ के मूल साधनभूत आरोग्य का प्रतिपादन किया गया है। आयुर्वेद मे प्रतिपदित सिद्धान्त इतने सामान्य, व्यापक, जनजीवनोपयोगी एव सर्वसाधारण के लिए हितकारी हैं कि सरलता पूर्वक उन्हे अमल मे लाकर यथा शीघ्र आरोग्य लाभ किया जा सकता है। अत: शारीरिक, मानसिक, एव बौद्धिक स्वास्थ्य की दृष्टि से आयुर्वेद की उपयोगिता सुविदित है। आयुर्वेद केवल चिकित्सा शास्त्र ही नहीं है, अपितु यह शरीर विज्ञान, मानव विज्ञान, मनो विज्ञान, दर्शनशास्त्र, आचार शास्त्र एव धर्मशास्त्र का एक ऐसा अद्भुत समन्वित स्वरूप है जो सम्पूर्ण जीवन के अन्यान्य पक्षो को व्याप्त कर लेता है। अत· नि सन्देह यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। आयुर्वेद शास्त्र केवल भौतिक तत्वो तक ही सीमित नही हैं, अपितु आध्यात्मिक तत्वो के विवेचन मे भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय सस्कृति के आद्य स्रोत वेद तथा उपनिषद् के बीज ही आयुर्वेद मे प्रसार को प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन होने के कारण दर्शनशास्त्र एव धर्मशास्त्र ने भी आयुर्वेद के अध्यात्म सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तो को प्रभावित किया है। शरीर के साथ साथ प्राण तत्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय मे स्वतंत्र दृष्टिकोण मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं।

आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति

आयुर्वेद एक ऐसा शास्त्र है जिसमे जीवन के आध्यात्मिक, भौतिक, मानसिक और बौद्धिक पक्षो पर चिन्तन करते हुए शरीर और मन की बाधाओ के निराकरण का युक्ति सगत उपाय सुझाया गया है। यह शास्त्र जीवन के साथ तादात्म्य भाव

स्थापित कर उसकी प्राकृत और वैकारिक अवस्थाओ का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत: यथार्थत: यह एक जीवन शास्त्र है। आयु ही जीवन है, आयु का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अत. यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। शास्त्रो मे आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) निम्न प्रकार से मिलती है—

१—"आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेद." अर्थात् यह शास्त्र आयु का वेदन याने बोध या ज्ञान कराता है, अत यह आयुर्वेद कहलाता है। इसमे उत्तर पद 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न है। अर्थात् ज्ञान अर्थ मे प्रयुक्त 'विद्' धातु से वेद शब्द बना है। इसी प्रकार आचार्य डल्हण भी ज्ञानार्थक विद् धातु से आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार करते है—

२—"आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेद ।"

—आयु इससे जानी जाती है, अत इसे आयुर्वेद कहते है। यहा विद्धातु ज्ञानार्थक है।

३—"आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वेत्यायुर्वेद: ।"

—आयु का इसके द्वारा विचार (विवेचन) किया जाता है, अत. इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ विचारणा अर्थ मे विद् धातु का प्रयोग है।

४—आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद ।"

—सुश्रुत सहिता, सूत्रस्थान १/१५

—प्रतिपाद्य विषय के रूप मे आयु इसमे विद्यमान है, अत: इसे आयुर्वेद कहते है। यहाँ सत्ता के अर्थ मे (विद् सत्ताया) विद् धातु का प्रयोग है। अथवा इससे पुरुष आयु को प्राप्त करता है, अत इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ "विदृल् लाभे"—लाभार्थक विद् धातु है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त 'विद्' धातु से निष्पन्न आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रो मे वर्णित है। व्याकरण शास्त्र मे 'विद्' धातु भिन्न भिन्न गणो मे भिन्न भिन्न अर्थों मे प्रतिपादित है। तदनुसार यहाँ भी भिन्न भिन्न अर्थ मे आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है। काश्यप सहिता मे इस विषय मे महत्वपूर्ण वक्तव्य प्राप्त होता है—

५—"भो, तत्रायुर्जीवितमुच्यते, विद् ज्ञाने धातु: विदृल् लाभे च, आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभ्यते नरिष्यतीत्यायुर्वेद । (विमान स्थान)

—यहाँ आयु से जीवन अभिप्रेत है। विद् ज्ञानार्थक धातु मे और विदृल् लाभार्थक (प्राप्ति) धातु मे प्रयुक्त होने से आयु इस ज्ञान के द्वारा जानी जाती है या प्राप्त की जाती है, अत: यह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद की व्यापकता और उसको प्रकट करने की दृष्टि से विद् धातु के निम्न सभी अर्थ ग्रहण किए जाते हैं—

> सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
> विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन् लुक् श्नम् शब्विव क्रमात् ॥

इसके अनुसार निम्न प्रकार से आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति की जा सकती है—

६—यस्मिन् शास्त्रे आयुर्विद्यते येन वा आयुर्विन्दति स आयुर्वेद.।"

—जिस शास्त्र मे आयु का विषय अर्थात् स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय मे विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दु ख कर आयु के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र मे बताए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है।

७—"आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशादित्यतोऽप्यायुर्वेदः।"

—स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, रसायन, शुभ और अशुभ बताने वाले दूत और अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशो से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह मनुष्य स्वल्पायु है अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है—इन सब विषयो का ज्ञान करा देता है, यही आयुर्वेद है।

आयुर्वेद की परिभाषा

> हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
> मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/४१

—जिस शास्त्र मे हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु इन चार प्रकार की आयु के लिए हित (पथ्य)—अहित (अपथ्य), इस आयु का मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयु का स्वरूप प्रतिपादित हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

> आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा ॥
> विद्यते यत्र विद्वद्भिरायुर्वेदः स उच्यते ॥
> अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
> तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः ॥

—भाव प्रकाश

—आयु के लिए कौन सी वस्तु लाभदायक है या किस वस्तु के द्वारा आयु की हानि हो सकती है ? किस प्रकार की आयु हितकर होती है और कैसी आयु अहितकर होती है ? यह विषय जिस शास्त्र में वर्णित हो तथा रोग का निदान और उसके प्रतिकार के विषय मे जिस शास्त्र मे वर्णन किया गया हो विद्वानो के द्वारा वह आयुर्वेद कहलाता है। इस शास्त्र के द्वारा पुरुष चू कि आयु को प्राप्त करता है तथा आयु के विषय मे जान लेता है, इसलिए मुनिश्रेष्ठो के द्वारा यह आयुर्वेद कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र का यदि ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तो मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करने का उपाय ज्ञात हो जाता है। क्योकि इस शास्त्र मे बतलाए हुए आहार-विहार सम्बन्धी नियमो और अन्य सदाचारो का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए ऋषिगणो, आचार्यों और विद्वानो ने इस शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से अभिहित किया है।

सुखादि आयु का लक्षण

आयुर्वेद की परिभाषा के अन्तर्गत सुखायु आदि चतुर्विध आयु का उल्लेख किया गया है। यहाँ उसका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

"तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य, विशेषेण यौवनवतः, समर्थानुगतबलवीर्ययश पौरुषपराक्रमस्य, ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्तमानस्य, परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य, समृद्धसर्वारम्भस्य, यथेष्टविचारिणः सुखायुरुच्यते। असुखमतो विपर्ययेण ॥ —चरक संहिता सूत्रस्थान ३०/२४,

अर्थात् जो शारीरिक और मानसिक रोगो से पीड़ित न हो, विशेष रूप से यौवन वाला (युवा-तरुण) हो, प्रत्येक कार्य करने मे सामर्थ्यवान हो तथा यथोचित बल, वीर्य, यश, पौरुष, पराक्रम से सम्पन्न हो, ज्ञान, विज्ञान (शिल्प-तकनीकता) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ (इन्द्रियो के विषय) और इन्द्रिय बल (इन्द्रियो द्वारा ज्ञान सामर्थ्य) के समुदाय से युक्त हो, अत्यधिक सम्पत्तिशाली (ऐश्वर्यवान) हो और विविध प्रकार के उपभोग वाला हो, जिसके समस्त आरम्भ (कार्य-उद्योग-प्रयत्न) निश्चित रूप से सफल होते हो, जो अपनी इच्छानुसार सर्वत्र भ्रमणशील हो (सर्वत्र जिसका गमन अप्रतिहत हो) ऐसे पुरुष की आयु 'सुखायु' कहलाती है। उपर्युक्त लक्षणो से विपरीत आयु को 'असुखायु' कहते हैं।

हित और अहित आयु

"हितैषिण पुनर्भूतानां, परस्वादुपरतस्य, सत्यवादिन. शमपरस्य, (सामपरस्य इति पाठान्तरम्) परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य,

पूजार्हसंपूजकस्य, ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः, सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य, सततं विविधप्रदानपरस्य, तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य, लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य, स्मृतिमतिमतो हितायुरुच्यते। अहितमतो विपर्ययेण।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२४

अर्थात् प्राणि मात्र का हित चाहने वाले, दूसरों के धनादि द्रव्यो के प्रति पराङ्मुख रहने वाले, सत्य बोलने वाले, शान्तिप्रेमी (पाठान्तर में साम-परायण) परीक्ष्यकारी-प्रत्येक कार्य को विचार पूर्वक करने वाले, प्रमादयुक्त या असावधान नही रहने वाले, धर्म-अर्थ-काम इन तीन वर्गों को इस प्रकार समय पर करने वाले कि जिसमे एक के द्वारा अन्य की बाधा न हो सके, पूजा करने योग्य मनुष्यो की पूजा करने वाले ज्ञानशील, विज्ञानशील और शान्त स्वभाव वाले, वृद्ध जनों की सेवा करने वाले, राग-रोष-ईर्ष्या-मद-मान के वेगो मे अपने आप को सुसयत रखने वाले, सदैव विविध प्रकार के दान देने मे तत्पर, सदैव तपस्या, ज्ञान और शान्ति के कार्यों में लगे रहने वाले, अध्यात्मविद्या को जानने वाले और उसी के अनुसार आचरण करने वाले, इस लोक और परलोक को ध्यान मे रखने वाले, स्मरण शक्ति और बुद्धि वाले मनुष्य की आयु 'हितायु' कहलाती है। इससे विपरीत आचरण वाले की अहित आयु होती है।

आयु का मान

"प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्ताद्दिवसात्त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति। तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः। इत्यायुषः प्रमाणम्। अतो विपरीतमप्रमाणमरिष्टाधिकारे, देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे। —चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२५

—अर्थात् (इन्द्रियो के विषय), इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चेष्टा आदि मे बिना कारण विकृत चिन्हों के उपस्थित होने पर जाना जाता है कि यह व्यक्ति इस क्षण, इस मुहूर्त मे, इस दिन, तीन दिन, पाँच दिन, सात दिन, दस दिन, एक पक्ष, एक माह, छह माह, या एक वर्ष बाद स्वभाव को प्राप्त होगा अर्थात् मर जाएगा। स्वभाव, प्रवृत्ति का उपरम (नाश), मरण, अनित्यता और निरोध ये सब एक ही अर्थ के द्योतक है (अर्थात् मरण के नामान्तर हैं)। इस प्रकार आयु का प्रमाण बतलाया गया है। इसके विपरीत (इन्द्रिय स्थान के) अरिष्ट अधिकार मे आयु के लिए अप्रमाण निर्दिष्ट है। (इस प्रकार) देह और प्रकृति के लक्षण को लेकर आयु का प्रमाण आयुर्वेद मे बतलाया गया है।

इस प्रकार सुखायु, असुखायु, हितायु, अहितायु और आयु का प्रमाण जिस शास्त्र मे प्रतिपादित हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद का प्रयोजन

"प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२६

अर्थात् इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर (व्याधि से पीडित) मनुष्य के विकार (रोग) का शमन करना है।

महर्षि सुश्रुत ने भी आयुर्वेद का यही प्रयोजन बतलाया है—

"इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणं च।" — सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १/१२

अर्थात् यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन व्याधि से पीडित मनुष्यो को व्याधि से मुक्त करना तथा स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना है।

स्वस्थ मनुष्यो के लिए आयुर्वेद शास्त्र मे दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतुचर्या तथा तदनुसार आहार-विहार का विधान बतलाया गया है। जो उसके अनुसार आचरण करता है वह निश्चय ही स्वस्थ रहता है[1] और अपनी सुदीर्घ आयु का निरा-बाध रूप से उपभोग करता है। क्योकि देश, काल, ऋतु और अपनी प्रकृति के अनुरूप सम्यक् आहार विहार करने से मनुष्य के शरीर मे स्थित वात-पित्त-कफ ये तीनो दोष सम (प्राकृत) अवस्था मे रहते है, जठराग्नि भी सम रहती है (अर्थात् मन्द-तीक्ष्ण आदि न्यूनाधिकता को प्राप्त नही होती), धातुओ (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और मल (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रिया सम (अविकृत) रहती है, आत्मा-इन्द्रिय-मन सदैव प्रसन्न रहते हैं[2]। इस प्रकार जिस मनुष्य के शरीर मे समस्त क्रियाए प्राकृतिक रूप से सम्पन्न होती रहती हैं, शरीर मे किसी प्रकार की विषमता नही होती उसका शरीर कभी विकार ग्रस्त नहीं हो सकता और वह सदैव स्वस्थ रहता है। अत: स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और इसके सम्यक् आहार विहार का उपदेश करना आयु-र्वेद का प्रथम प्रयोजन है।

मानव शरीर में वातादि दोषो मे जब मिथ्या आहार-विहार या देश-काल-ऋतु वैषम्य के कारण विषमता उत्पन्न हो जाती है तो वे धातुओ को दूषित कर उन मे भी विषमता उत्पन्न कर देते हैं। इससे शरीर मे विकार या रोग उत्पन्न हो जाते

१—दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुष स्वस्थ. सदा तिष्ठति नान्यथा ॥

२—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमन: स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

हैं। अनेक बार प्रज्ञापराध[1] के कारण भी विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति शरीर मे हो जाती है। अत: औषधोपचार, लघन आदि कर्म तथा अन्य चिकित्सा विधि के द्वारा विकारोपशमन या रोग निवृत्ति हेतु उपाय किए जाते हैं। यह भी आयुर्वेद का एक प्रयोजन है।

इस प्रकार प्रथमत स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और यदि किसी कारणवश विकारोत्पत्ति हो जाय तो उसका उपशमन करना ये दो आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजन हैं।

महर्षि चरक के अनुसार 'धातु साम्यक्रिया' भी इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन है। यथा – "धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (चरक० सूत्रस्थान १/५३)

अर्थात् धातुसाम्य क्रिया इस तन्त्र (ग्रन्थ) का प्रयोजन है।

धातु साम्य का अभिप्राय है धातुओ की समानता अर्थात् धातुओ मे विषमता नहीं होना या धातुओ की वृद्धि-क्षीणता नही होना। जब धातुओ मे वैषम्य उत्पन्न होता है तो विकारोत्पत्ति या रोगाभिनिर्वृत्ति होती है, किन्तु जब धातु धातुओ मे साम्य रहता है तो आरोग्य सम्पादन होता है। यही भाव चरक के निम्न वाक्य मे पतिपादित—

विकारो धातुवैषम्यं साम्य प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दु:खमेव च॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ९/४

अर्थात् धातुओं की विषमता विकार और समता प्रकृति (स्वस्थावस्था) कहलाती है। आरोग्य का नाम ही सुख और विकार का नाम दु:ख है।

यहा पर धातुओ की विषमता को विकार (रोग) और साम्यावस्था को प्रकृति (आरोग्य) बतलाया गया है, धातु शब्द से यहा केवल रस-रक्तादि सप्त धातुओ का ग्रहण न कर दोष-धातु-मल तीनों का ग्रहण किया गया है। जब इनमे से किसी मे भी विषमता आती है तो शरीर मे विकारोत्पत्ति होती है। अत: धातुओं की विषमता को दूर कर उनमे साम्य भाव रखना ही आयुर्वेद का कार्य है और इस शास्त्र का प्रयोजन भी धातुओ में साम्य प्रतिपादन करना है।

ऊपर जो आयुर्वेद के प्रयोजनो का कथन किया गया है, यह (धातु साम्य क्रिया) प्रयोजन उनसे अतिरिक्त नहीं है, अपितु उनमे ही समाविष्ट है। क्योंकि धातुओं की साम्यावस्था बनाए रखना ही 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्' है तथा धातुओं में वैषम्य भाव अर्थात् विकार उत्पन्न होने पर उस वैषम्य को दूर कर 'धातु साम्य' स्थापित करना ही "आतुरस्य विकारप्रशमनम्" है। इस प्रकार स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का प्रशमन करना ये दोनो कार्य धातुओ की समता पर ही

१—धीधृतिस्मृतिविभ्रष्ट: कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं त विज्ञात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

निर्भर हैं। वस्तुत: 'धातुसाम्य' इस क्रिया मे सामान्यत. आयुर्वेद के दोनो ही प्रयोजन सन्निहित हैं। अत: पृथक् से जो धातुसाम्य क्रिया आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाया गया है उससे यह नही समझना चाहिए कि यह पूर्वोक्त दो प्रयोजनो से भिन्न तीसरा प्रयोजन है।

आयुर्वेद एक जीवन विज्ञान तो है ही, वह एक चिकित्सा शास्त्र भी है जो व्याध्युपसृष्ट लोगो की चिकित्सा कर उनके सुस्वास्थ्य सम्पादन मे सहायक होता है। अत: चिकित्सा का प्रयोजन भी स्वास्थ्य की रक्षा करना है, जैसा कि आयुर्विज्ञान 'रत्नाकर' में प्रतिपादित है—

आयुस्तन्त्रे समुद्दिष्ट सुस्थो भवति यादृश.।
तस्य यद्रक्षण तद्धि चिकित्सायाः प्रयोजनम्॥

—आयुर्वेद शास्त्र मे प्रतिपादित स्वस्थ पुरुष जैसा होता है उसके स्वास्थ्य की जो रक्षा बतलाई गई है वही चिकित्सा का प्रयोजन है।

शास्त्रोक्त इन प्रमाणो से आयुर्वेद का प्रयोजन सुस्पष्ट है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब सम्यक् चिकित्सा के द्वारा विभिन्न रोगो का उपशमन होता है और रसायन-बाजीकरण आदि उपायो तथा अन्य नियमो का पालन करने से स्वास्थ्य की रक्षा होती है तो इसके परिणाम स्वरूप सुखायु, हितायु और दीर्घायु की प्राप्ति होती है। यह दीर्घायु ही चारो पुरुषार्थों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। अत: वस्तुत. सुखायु, हितायु और दीर्घायु लाभ ही आयुर्वेद का मूल प्रयोजन है। इस आयु लाभ के लिए ही आदि देव ब्रह्मा जी ने इस पुण्यतम और यशस्य आयुर्वेद की अभिव्यक्ति की है तथा उसके पश्चात् दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र, भास्कर आदि देवो ने भरद्वाज,, पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, धन्वन्तरि, सुश्रुत, कश्यप प्रभृति ऋषियो ने, चक्रपाणि, डल्हण, वाग्भट नागार्जुन, शाङ्र्गधर, भावमिश्र, प्रभृति मनीषियो और आचार्यों ने तथा अन्य अनेक विद्वानो और वैद्यो ने उसकी परम्परा को अद्यावधि अक्षुण्ण रखा है।

उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि अन्तत आयुर्वेद का प्रयोजन दीर्घायु की प्राप्ति कराना है। आचार्यों का भी यही अभिमत है—

"एतेनैतदुक्त भवति यत् आयुर्वेदोक्तविधानपालनेन दीर्घायुलाभो भवति। तच्च दीर्घायुष्ट्वं धर्माद्यर्जने सहायक भवति, अतश्च दीर्घायुलाभ एवायुर्वेदप्रयोजनमिति।"

—आयुर्विज्ञान रत्नाकर

इससे यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद मे प्रतिपादित विधान का परिपालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है, वह दीर्घायुष्य धर्मादि चतुर्वर्ग के उपार्जन में सहायक होता है, अत: दीर्घायु की प्राप्ति ही आयुर्वेद का प्रयोजन है।

धर्म आदि चार पुरुषार्थों के अर्जन में सहायक होने से ही यह आयुर्वेद पुण्य, स्वर्ग्य और यशस्य है। यह उभय लोक मे हित सम्पादन करने वाला एक अपूर्व शास्त्र है। इसीलिए आचार्य वाग्भट् ने आयुर्वेदोपदेश मे परम श्रद्धाभाव रखने का निर्देश किया है—

आयु कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

—अष्टाग सग्रह, सूत्रस्थान १/५

—धर्म, अर्थ और सुख प्राप्ति का साधनभूत आयु (सुखायु, हितायु और दीर्घायु) प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को आयुर्वेद मे दिए गए उपदेशों मे परम आदर (श्रद्धाभाव) रखना चाहिए।

आयुर्वेद का अधिष्ठान

पूर्व मे आयुर्वेद का जो प्रयोजन बतलाया गया है वह मनुष्य के शरीर को लक्ष्य करके बतलाया गया है। अर्थात् स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का उपशम करना ये दोनो क्रियाएँ केवल मनुष्य शरीर मे ही सम्भव हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आयुर्वेद शास्त्र का प्रणयन मनुष्य मात्र के लिए ही किया गया है। पूर्व मे आयु के प्रकरण मे चैतन्यानुवृत्ति को ही आयु कहा गया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह चैतन्य किसमे रहता है अथवा उस चैतन्य का अधिष्ठान कौन है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि चैतन्य का अधिष्ठान पुरुष है। उसी मे चेतना का अनुवर्तन होता है और वही आयु का धारक होता है। स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगो की चिकित्सा करना यह मात्र पुरुषाश्रित है। इन दोनो क्रियाओ का अधिष्ठान पुरुष होने से आयुर्वेद का अधिष्ठान पुरुष ही है। आयुर्वेद मे पुरुष शब्द से क्या ग्रहण किया गया है इसका प्रतिपादन महर्षि सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—

"अस्मिन्स्तु शास्त्रे पचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानं, कस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात् लोको हि द्विविधः स्थावरो जगमश्च द्विविधात्मक एवाग्नेय. सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात् पचात्मको वा, तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः, तत्र पुरुषः प्रधान, तस्योपकरणमन्यत् तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्।"

— सुश्रुत सहिता, सूत्रस्थान १/२०

—इस (आयुर्वेद) शास्त्र मे पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) और (समनस्क) आत्मा इन छह तत्वो के संयोग का नाम पुरुष है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है और यही पुरुष (चिकित्सा-कर्म-फल का) अधिष्ठान है। क्योंकि यह लोक (जगत या सजीव सृष्टि) दो प्रकार का है—स्थावर और

जंगम। उष्ण तथा शीत की अधिकता के अनुसार आग्नेय और सौम्य ऐसा भी दो प्रकार का है, अथवा पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय इस प्रकार पचात्मक है। स्थावर-जगमात्मक सृष्टि मे स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज ऐसे चार प्रकार के जीव हैं। इन सब मे मनुष्य प्रधान (उपकार्य) है और अन्य सब उसके उपकरण हैं, इन कारण से मनुष्य समस्त चिकित्सा का आधार है।

इस सूत्र मे प्रारम्भ मे आयुर्वेदाभिमत चिकित्साधिष्ठानभूत पुरुष की संक्षेपत. परिभाषा बतलाई गई है। महर्षि चरक द्वारा भी षड्धात्वात्मक पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है। यथा—

"षड्धातवः समुदिता पुरुष' इति शब्द लभन्ते, तद्यथा-- पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाश ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः पुरुषः इति शब्द लभन्ते।"

—चरकसहिता, शारीरस्थान ५/७

—छह धातुए मिलकर 'पुरुष' शब्द को प्राप्त करती हैं। जैसे--पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश और अव्यक्त ब्रह्म। ये ही षड् धातुए मिलकर 'पुरुष' इस सज्ञा को प्राप्त करती हैं।

पूर्व सूत्र मे जो लोक शब्द का प्रयोग हुआ है उससे यहा केवल, सजीव सृष्टि का ग्रहण किया जाना चाहिए। महर्षि चरक के निम्न वचन से भी यही भाव ध्वनित होता है—

सत्वमात्मा शरीर च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति सयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतन तच्च तस्याधिकरण स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽय सप्रकाशित॥

--चरकसहिता, सूत्रस्थान १/४६-४७

—तिपाई के तीन दण्ड के समान सत्व, आत्मा और शरीर है। इनके सयोग से यह लोक अर्थात् सजीव सृष्टि अवस्थित है और इसी मे सब कुछ प्रतिष्ठित है।

जिस प्रकार तिपाई के ऊपर घडा स्थित रहता है या घडे का आधार तिपाई होती है और अपने ऊपर रखे हुए सभी प्रकार के भार को वहन करने मे समर्थ रहती है, उसी प्रकार सत्व (मन), आत्मा और शरीर ये तीनो ही इस लोक के आधार स्तम्भ हैं और इन तीनो का सयोग ही लोक कहलाता है। लोक शब्द यहाँ सजीव सृष्टि या जगत्-संसार वाची है। लोक शब्द का अर्थ-लोकते (आलोकते) इति लोक"—'लोकृ दीप्तौ' धातु है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द से जगम मात्र का ही बोध होता है।

यहाँ पर सत्व से मन, आत्मा से चेतना धातु और शरीर से पंच महाभूत समुदाय का ग्रहण किया गया है। सामान्यत मन और आत्मा का कभी पृथग्भाव नहीं होता, ये सदैव एक साथ ही रहते हैं। इसलिए आयुर्वेद में कही कही आत्मा और मन को एक ही मानकर पञ्चमहाभूत से संयुक्त होने पर षड् धातुज संयोग को लोक माना गया है। जैसे चरकसंहिता, शारीरस्थान ५/४, सुश्रुत संहिता सूत्र० १/२० आदि में।

सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनो का संयोग ही चेतन पुरुष होता है और वही चेतन पुरुष इस आयुर्वेद शास्त्र का अधिकरण (चिकित्सा का विषय) है। इसी सत्वादि विशिष्ट पुरुष (लोक) के लिए यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है।

जिसकी चिकित्सा की जाती है वही चिकित्सा का अधिष्ठान होता है। चिकित्सा के अधिष्ठान के पूर्ण ज्ञान के बिना चिकित्सा मे पूर्ण सफलता प्राप्त होना सम्भव नही है। दर्शन शास्त्र मे चिकित्सा का अधिष्ठान केवल समनस्क आत्मा प्रतिपादित किया गया है। चार्वाकवादी या भौतिकवा.ी लोगो की दृष्टि से चिकित्साधिष्ठान केवल पाञ्च- भौतिक शरीर होता है। आयुर्वेद ने दोनो का समन्वय करके समनस्क आत्मा और पाञ्च भौतिक शरीर इनके समवाय को चिकित्सा का अधिष्ठान माना है। क्योंकि न तो पाञ्च भौतिक शरीर विरहित केवल समस्क आत्मा की चिकित्सा सम्भव है और न ही समनस्क आत्मा विरहित केवल निर्जीव भौतिक शरीर की चिकित्सा संभव है। सचेतन शरीर की ही चिकित्सा सम्भव होने से वही चिकित्सा का अधिष्ठान है और उसी के स्वास्थ्य की रक्षा किया जाना सम्भव है। अत: आयुर्वेद का अधिष्ठान भी वही सचेतन शरीर युक्त पुरुष है।

जब किसी मनुष्य के शरीर मे कोई व्याधि उत्पन्न होती है तो उसकी चिकित्सा किए जाने पर सामान्यत. यही समझा जाता है कि रोग की चिकित्सा की जा रही है, किन्तु यह सत्य नही है। क्योंकि कुष्ठ आदि रोग मृत शरीर मे भी विद्यमान रहते हैं, परन्तु उनकी चिकित्सा कोई नही करता। यदि यह कहा जाय कि रोगी की चिकित्सा की जाती है तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि रोगी के शरीर, मन या आत्मा- इसमे से किसकी चिकित्सा की जाती है ? आत्मा निर्विकार है, उसको न रोग होता है और न उसकी चिकित्सा ही सम्भव है। मन और शरीर दोनो अचेतन हैं, अचेतन मे सुख-दु:ख दोनो की अनुभूति नही हो सकती। इसलिए अचेतन इन दोनो मे कष्टदायी रोग उत्पन्न होना भी सम्भव नही है और न ही आत्मा रहित शरीर या मन की चिकित्सा सम्भव है। इन सभी शकाओ की निवृत्ति के लिए महर्षि सुश्रुत ने जिसको रोग होते हैं और जिसकी चिकित्सा की जाती है उस पुरुष का लक्षण बतलाया है—पञ्चमहाभूत के समुदाय से उत्पन्न शरीर, मन और जीवात्मा का जो संयोग है वह पुरुष कहलाता है।

इस पुरुष के ही स्वस्थ शरीर के स्वास्थ्य के रक्षण के लिए विविध उपाय किए जाते हैं। अत. आयुर्वेद का अधिष्ठान यही पुरुष है।

यद्यपि "पचमहाभूत और जीवात्मा का जो समवाय हो वह पुरुष कहलाता है"—इस लक्षण से हाथी-घोडा-गाय आदि पशुओ, चिडिया-तोता-कबूतर आदि पक्षियो तथा बड़, पीपल आदि उद्भिजो का भी ग्रहण (बोध) उनके पंचमहाभूत और जीवात्मा के सयोग से उत्पन्न होने के कारण पुरुष शब्द से हो सकता है, तथापि पुरुष शब्द का प्रयोग यहाँ मनुष्य मात्र के लिए विशेषार्थ मे किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्थावर और जगम भेद से सृष्टि दो प्रकार की है। इसमे जगम सृष्टि स्वेदज-अण्डज-उद्भिज्ज-जरायुज भेद से चार प्रकार की है। इस चार प्रकार की सृष्टि मे पुरुष-मनुष्य उपकार्य-उपभोक्ता होने से प्रधान है तथा अन्य सम्पूर्ण (स्थावर-जगम) सृष्टि पुरुष-मनुष्य के उपकरण-भोग के साधन होने से अप्रधान है। प्राणियो मे बुद्धि-जीवी प्राणि श्रेष्ठ है। बुद्धिमान प्राणियो मे भी मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल और प्रभाव तथा बुद्धि चातुर्य से अन्य सम्पूर्ण स्थावर जगम सृष्टि का उपकरण भोग साधन के रूप मे उपयोग कर सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि मे प्रधान होने से मनुष्य इस आयुर्वेद (आयुर्वेदोक्त रोग, स्वास्थ्यरक्षक और रोग निवर्तक दो प्रकार की चिकित्सा तथा दोनो प्रकार की चिकित्सा के फल रूप आरोग्य) का अधिकरण-आश्रय-प्रतिपाद्य विषय) है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मात्र आयुर्वेद का अधिष्ठान पुरुष-मनुष्य है उसी प्रकार गजायुर्वेद का अधिष्ठान गज (हाथी), अश्वायुर्वेद का अधिष्ठान अश्व और वृक्षायुर्वेद का अधिष्ठान उद्भित् है।

आयुर्वेद में योग का स्वरूप

आयुर्वेद यद्यपि जीवन विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के रूप मे जाना जाता है, तथापि मनोविज्ञान और आध्यात्मिक विषयो की भी उसमे व्यापकता है। यही कारण है कि केवल प्रसगवश ही नही, अपितु व्यवस्थित रुप से मानस शास्त्र एवं आध्यात्मिक विषयो का विवेचन आयुर्वेद मे मिलता है। सम्पूर्ण आयुर्वेद भारतीय दार्शनिक विचार धारा से अनुप्राणित होने के कारण तथा मानस व्यापार एव आध्यात्मिक विषयो से आयुर्वेदीय चिकित्सा का निकटतम सम्बन्ध होने से इन विषयो का व्यवस्थित विवेचन और प्रतिपादन आयुर्वेद मे होना स्वाभाविक है। आयुर्वेद ने भारतीय दर्शन शास्त्र एव अध्यात्म शास्त्र से अनेक महत्वपूर्ण कणो को लेकर आत्मसात् किया है। योग शास्त्र स्वय एक दार्शनिक विचार पद्धति और अध्यात्म विद्या की अनुशीलनात्मक परम्परा का समन्वित रूप है। अतः उसके द्वारा आयुर्वेद को प्रभावित किया जाना सहज स्वभाविक है। यही कारण है कि आयुर्वेद मे यत्र तत्र योग शास्त्र के बीज पर्याप्त रुप से मिलते है।

मन और आत्मा के विषय मे गंभीर अनुचिन्तनात्मक विचार योगशास्त्र में मिलते हैं। मन और आत्मा सम्बन्धी ऐसा कोई विषय नही है जिसे योगशास्त्र मे प्रतिपादित नही किया गया हो। क्योकि योग और मोक्ष का पूरा सम्बन्ध मन और आत्मा से है। आयुर्वेद मे योग और मोक्ष को मन और आत्मा से सम्बन्धित मानते हुए इन दोनो का पर्याप्त विवेचन किया गया है। आयुर्वेद मे बहुत ही सुन्दर ढग से योग का स्वरुप बतलाया गया है, जो निम्न प्रकार है—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान १/१३८-१३९

—आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (इन्द्रियो के विषय) के सन्निकर्ष से सुख और दु:ख दोनो होते हैं। जब मन आत्मा मे स्थिर हो जाता है तो उसके द्वारा कोई कार्य न होने (अनारम्भ होने) से सुख और दु ख निवृत्त (निवर्तित) हो जाते है, तब शरीर के साथ मन वशी हो जाता है। योग को जानने वाले (योगीजन) इसे ही योग कहते हैं।

यहाँ महर्षि चरक ने मन के 'वशित्व' होने को योग की सज्ञा दी है। ससार मे मन को सबसे अधिक चचल माना गया है। सभी प्रकार के दुःख और सुख का मूल एक मात्र मन ही है। अहित विषयो मे इन्द्रियो के माध्यम से मन की प्रवृत्ति होना दु ख का और हित विषयो मे प्रवृत्ति होना सुख का कारण है। आयुर्वेद मे एव दर्शन शास्त्र मे सुखानुभूति को अनुकूल वेदना और दुखानुभूति को प्रतिकूल वेदना माना गया है। मन की अस्थिरता और चचलता के कारण विभिन्न विषयो मे उसकी प्रवृत्ति होती रहती है जिससे आत्मा मे कर्मसचय होता है और उसके परिणामस्वरुप सुख या दु ख की प्रवृत्ति होती है। सतत अभ्यास और साधना के द्वारा मन जब आत्मा में स्थिर हो जाता है तब उसकी समस्त प्रवृत्तिया बन्द हो जाती हैं और उतकी निश्चलता तथा अनारम्भ (कोई कार्य न करने की प्रवृत्ति) के कारण सुख और दुख का अनुभव भी नही होता है। इसी को मन का 'वशित्व' (वश मे) होना कहते है। इस अवस्था में अनुकूल वेदना (सुख) और प्रतिकूल वेदना (दु ख) का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसे ही 'योग' कहा जाता है।

योग के स्वरूप विवेचन के सन्दर्भ में महर्षि चरक का यह कथन विशेष महत्व-पूर्ण है कि योग मे केवल मन ही वशी नही होता है अपितु शरीर भी वशी होता है (सशरीरस्य (मनस) वशित्व चोपजायते)। इसका कारण यह है कि उनके (चरक के) अनुसार योग की स्थिति मे सभी प्रकार की वेदनाओ, चाहे वे अनुकूल वेदना (सुख) हों अथवा प्रतिकूल वेदना (दु.ख) हो का अभाव हो जाता है। सभी वेदनाओ का अधि-ष्ठान मन और सेन्द्रिय शरीर होता है। योगावस्था में सभी वेदनाओ का अवर्तन (नाश) केवल मन मे ही नही होता अपितु शरीर में भी होता है। अत उस अवस्था में मन और शरीर दोनो का वशित्व होना आवश्यक है। इस प्रसग मे चरक का निम्न कथन दृष्टव्य है—

> वेदनानामधिष्ठान मनो देहश्च सेन्द्रियः।
> केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥
> योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
>
> —चरक सहिता, शारीरस्थान १/१३६-१३७

—केश, लोम, नख का अग्रभाग, अन्न का मल (पुरीष) द्रवों (मूत्र-स्वेद) के गुणो को छोड़कर इन्द्रिय सहित सम्पूर्ण शरीर और मन सभी वेदनाओ (सुख-दुख) का अधिष्ठान है। योग और मोक्ष मे सभी वेदनाओ का नाश हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त (मन) की पाँच वृत्तियाँ बतलाई है और उनका निरोध करने को योग की सज्ञा दी है। उनके अनुसार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त की वृत्तियो के रुक जाने से सुख या दु.ख-जनक किसी भी कार्य का आरम्भ नही होता है। इस अवस्था को ही महर्षि चरक ने आत्मा में मन की स्थिरता और शरीर एवं मन का वशीभूत होना कहा है।

पूर्व प्रकरण मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद के अनुसार योग सिद्धि के अनन्तर ही आत्मा को मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत' योग और मोक्ष ये दोनो सर्वथा भिन्न अवस्थाए हैं। योगावस्था मे तो मनुष्य का शरीर भी विद्यमान रहता है, शरीर मे मन, इन्द्रिया और आत्मा भी विद्यमान रहती है। किन्तु शरीर और मन ये दोनो आत्मा के वशीभूत रहते है। इसके विपरीत मोक्ष मे तो न शरीर होता है और न मन व इन्द्रिया होती हैं। आत्मा इन सब से सर्वथा मुक्त हो जाता है। आयुर्वेद में मोक्ष का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया गया है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसक्षयात्।
वियोग· सर्वसयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

—चरक सहिता, शारीरस्थान १/१४२

मन से रज और तम का अभाव होने से, बलवान कर्मों का क्षय होने से सभी प्रकार के कर्म सयोग से आत्मा का जो वियोग है वही मोक्ष है और उसे ही 'अपुनर्भव' कहते हैं।

योग की समाधि अवस्था मे मन से रज और तम का सर्वथा अभाव हो जाता है और मन मे केवल सत्व गुण का उत्कर्ष रहता है। तब आरम्भ नही होने से नवीन कर्म का सयोग या बन्धन आत्मा मे नही होता है तथा समाधि के द्वारा एव ज्ञानोत्कर्ष से पूर्वोपार्जित बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्त मे जब सभी सयोग-कर्मबधनो से आत्मा रहित हो जाता है तो वह संसार से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है—यही मोक्ष है। उस आत्मा मे सभी कर्म नि:शेष हो जाते हैं, अत: उसे कर्मफल भोग के निमित्त पुनः इस संसार मे नही जाना पड़ता है, अर्थात् पुन: उसे शरीर धारण करने हेतु जन्म नही धारण करना पडता है और जन्म धारण नही करने से मरण भी उसका नही होता है। पुन: पुन: जन्म धारण नही होने से यह अपुनर्भव कहलाता है।

आयुर्वेद के अनुसार उपर्युक्त रूप से प्रतिपादित मोक्ष का साधन योग ही है। योगियो ने योग को ही मोक्ष का उत्तम साधन बतलाया है। यही भाव महर्षि चरक द्वारा और अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया गया है। यथा—

एतत्तदेकमयन मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।
तत्वस्मृतिबल, येन गता न पुनरागता ।।
अयन पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभि: ।
सख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ।।

—चरकसंहिता, शारीरस्थान १/१५०-१५१

—जीवनमुक्त पुरुषो के द्वारा मोक्ष का यह मार्ग बतलाया गया है। जिस व्यक्ति के द्वारा योग ज्ञान या योग-साधना से तत्व स्मृति का बल प्राप्त कर लिया गया है तब इस मार्ग से जाने वाले अर्थात् योगसिद्धि और मोक्ष प्राप्ति करने वाले वे लोग पुन (जन्म लेकर) इस ससार मे नही आए। योगी जनो के द्वारा यह तत्वस्मृति बल योग का मार्ग कहा गया है और धर्म के मर्म को जानने वाले परम ज्ञानी मुक्त पुरुषो के द्वारा यह (तत्वस्मृति बल) मोक्ष का अयन (मार्ग) कहा गया है।

आयुर्वेद मे जहा योग को मुक्ति का साधन बतलाया गया है वहा मुक्ति से पूर्व योगी को प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियो का उल्लेख भी किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब साधक अष्टाग योग के द्वारा साधना मे तत्पर होता है तब अतिम अवस्था अर्थात् योग की सिद्धि होने पर योगी मे कुछ इस प्रकार के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं जो सामान्य मनुष्य मे साधारणतः नही पाए जाते। इसे योगियो की स्वाभाविक शक्ति या योग बल कहा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार आठ प्रकार बल या विशेष शक्ति योग सिद्धि होने पर योगियो को प्राप्त होती है जो निम्न प्रकार है—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दत. क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्र स्मृति' कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ।।
इत्यष्टविधमाख्यात योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्वसमाधानात्तत् सर्वमुपजायते ।।

—चरकसंहिता, शरीरस्थान १/१४०-१४१

—आवेश (दूसरे के शरीर मे प्रवेश करना), चेतसो ज्ञानम् (दूसरे के मन की बात को जानना), अर्थाना छन्दतः क्रिया (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन इन्द्रियार्थों को स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त करना) अर्थात् योगी जिस अर्थ को प्राप्त करना चाहे अथवा जिस अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहे अपने मन के अनुकूल उसका ज्ञान भी प्राप्त हो जाय। दृष्टि (अतीन्द्रिय वस्तुओ को देखने की शक्ति), श्रोत्र (श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अभीष्ट

शब्दों चाहे वे कितनी ही दूर के क्यो न हों का ग्रहण करना) स्मृति (स्मरण शक्ति की वैष्टियुक्त सम्पन्नता), कान्ति (शरीर का विशिष्ट दैवी कान्ति से युक्त होना) और इष्टतश्चाप्यदर्शनम् (अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर को गोपनीय बना लेना और फिर प्रकट करना) यह आठ प्रकार का ईश्वरीय बल योगियो को प्राप्त होता है। योगाभ्यास के द्वारा सत्व (मन) के शुद्ध होने (रजोगुण और तमोगुण के रहित होने) से उपर्युक्त सभी प्रकार की सिद्धि योगियो को प्राप्त होती हैं।

वस्तुत. योगियो की ये स्वाभाविक शक्ति हैं जो योगसिद्धि होने पर स्वत प्रकट होती है। या यो कहा जा सकता है कि साधनारत साधक को जब योग की सिद्धि होती है तो इन लक्षणो से उसका परिचय मिलता है। यहाँ आयुर्वेद शास्त्र मे योगियो की केवल अष्टविध सिद्धियो का वर्णन किया गया है, किन्तु योगशास्त्र मे तेईस सिद्धियाँ बतलाई गई हैं जो निम्न प्रकार हैं —

पाँच शुद्ध सिद्धियाँ— त्रिकालज्ञत्व, अद्वन्द्व, परचित्ताद्यभिज्ञता, अग्न्यर्काम्बुविषादि का स्तभ और अपराजय।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां स्तम्भश्चाप्यपराजयः॥

गुण प्रधान दस सिद्धिया—

अस्मिन् देहेऽनूर्मिमत्वं दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवित्व कामरूप परकायप्रवेश. स्वेच्छामृत्युर्देवक्रीडानुदर्शनम्।
यथासकल्पसिद्धिराज्ञासिद्धिरव्याहतगतिः।

आठ ब्रह्मप्रधानसिद्धियाँ—"अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यम्, ईशित्व, वशित्वं कामावसायिता च।"

इस प्रकार योगशास्त्र मे योग सिद्धियों का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद मे जो योग सिद्धियां बतलाई गई हैं वे वस्तुतः सामान्य योग सिद्धियाँ हैं जिन्हें साधक अल्पायास के द्वारा ही योग सिद्ध कर लेने पर प्राप्त कर सकता है। अतः योगियो के जो सामान्य कार्य होते हैं उनके अनुसार ही यहा योगियो का बल बतलाया गया है। इससे ऐसा लगता है कि यह अष्टविध बल योग सिद्धि से भिन्न होना चाहिए।

—०—

योग और आयर्वेद

योग दर्शन या योगशास्त्र साख्य का ही व्यवहारिक या क्रियात्मक रूप माना जाता है जिसमे आत्म-साक्षात्कार या परम ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयोगात्मक विधियाँ निर्देशित की गई है। अध्यात्म विद्या के आधारभूत सैद्धान्तिक पक्ष को क्रियात्मक रूप एव प्रयोग के द्वारा योग शास्त्र ने जितना सुगम और सर्वजनोपयोगी बनाकर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त किया है उतना किसी अन्य शास्त्र ने नही किया। प्रारम्भिक स्थिति मे योग या यौगिक क्रियाओ का सम्बन्ध शरीरमात्र या शारीरिक अगों से रहता है। किन्तु जैसे जैसे योगाभ्यास का विकास होता जाता है वैसे वैसे उसका सम्बन्ध अन्त करण और बुद्धि से होता जाता है। अर्थात् यौगिक क्रियाए मन और बुद्धि को प्रभावित कर अद्भुत रूप से उसका विकास करती है। मन और बुद्धि के चरम विकास के बाद योगाभ्यास आत्मा के प्रदेशो का स्पर्श कर उनके कालुष्य का निराकरण कर उन्हे निर्मलता प्रदान करता है जिससे आत्मा मे निर्मल ज्ञान ज्योति उद्भासित होती है। समस्त प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का क्षय होने के कारण समुत्पन्न अद्भुत ज्ञानालोक के द्वारा जब वह आत्मा ससार के समस्त भूत-वर्तमान-भविष्य कालीन भावो को जानने व देखने लगता है तब वह इस भौतिक शरीर का परित्याग कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और परमब्रह्म मे लीन हो जाता है। यही उसका परम लक्ष्य है।

आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन है जिसमे मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का अपूर्व सामञ्जस्य है। आयुर्वेद यद्यपि मुख्यरूप से आरोग्य शास्त्र एव चिकित्सा शास्त्र के रूप मे जाना जाता है, किन्तु वह वस्तुत. सम्पूर्ण जीवन विज्ञान शास्त्र है जिसमे मनुष्य का चरम लक्ष्य उसके शरीर मे स्थित आत्मा को सासारिक कर्मबन्धन से मुक्त करना प्रतिपादितत है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक विज्ञ एव प्रबुद्ध जन प्रयत्नशील रहते हैं। आत्मा को मुक्ति पथ पर अग्रसर करने के लिए शरीर ही एकमात्र साधन है। शरीर के द्वारा विहित प्रत्येक कर्म और शरीर की प्रत्येक स्थिति आत्मा को प्रभावित किए बिना नही रहती। अत: आत्मा के मोक्ष साधन के लिए शरीर का निरोग होना नितान्त आवश्यक है। आरोग्य के बिना पारलौकिक तो क्या इहलौकिक

कार्य की सिद्धि होना भी सम्भव नही है। इसीलिए आचार्यों ने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का मूल आरोग्य बतलाया है —"**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम् ।**"

आयुर्वेद शास्त्र उसी शरीर के आरोग्य को यथावत् बनाये रखने के लिए नियम, आचरण आहार-विहार आदि का उपदेश करता है, ताकि तदनुकूल आचरण के द्वारा मनुष्य स्वस्थ रहता हुआ अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सके। यदि कदाचित् मनुष्य असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग अर्थात् मिथ्या आहार, विहार, प्रज्ञापराध अथवा काल-परिणाम आदि के कारण वेदना ग्रस्त या व्याधिपीडित हो जाता है तो उसके विकारोपशमन के लिए विभिन्न उपायो का उपदेश भी आयुर्वेद शास्त्र मे किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेद के दो मुख्य प्रयोजन है— स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी मनुष्य के रोग का उपशमन करना। महर्षि चरक ने भी इस विषय मे स्पष्टत प्रतिपादित किया है—

"**प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमन च ।**"

—चरक सहिता, सूत्रस्थान ३०।२६

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र मनुष्य के आरोग्य साधन मे सहायक होता है, ताकि मनुष्य अपने आरोग्यवान् शरीर के द्वारा अपनी आत्मा के कल्याणार्थ मोक्ष-साधन में प्रवृत्त हो सके। इसी भाति योग शास्त्र भी अपने प्रारम्भिक अगो यम-नियम-आसन-प्राणायाम के द्वारा आचरण की शुद्धता, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा, विकारोपशमन, मानसिक द्वन्द्वों के निराकरण और बौद्धिक विकास के कार्य को प्रशस्त करता है। इन प्रारम्भिक अवस्थाओ को पार किए बिना मनुष्य आत्म-कल्याण रूप अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।

योग शास्त्र मे मोक्ष के प्रारम्भिक साधन के रुप मे यम और नियम का प्रतिपादन किया गया है। यम पाच होते है। इनका विस्तृत वर्णन यम-नियम प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा। किन्तु यहां इतना बतला देना आवश्यक है कि यम और नियम का पालन करने से मनुष्य के आचरण मे शुद्धता आती है, मन मे सात्विक भाव का उदय होता है और आत्मा मे निर्मलता की वृद्धि होकर कलुषता का विनाश होता है। इस प्रकार शनै: शनै: मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। आयुर्वेद शास्त्र मे भी आचरण सम्बन्धी कुछ इस प्रकार के नियमो का प्रतिपादन किया गया है जो मोक्ष के साधनभूत प्रारम्भिक उपाय है और जिन का आचरण करने से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। महर्षि चरक ने उनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

सतामुपासन सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥

धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः पराधृतिः ।।
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः ।
नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम् ।।
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ।।

—चरकसंहिता, शारीरस्थान १/१४३-१४६

—सज्जनो की अच्छी प्रकार से सेवा करना, दुष्टजनो का साथ नही करना, चान्द्रायण आदि व्रतो का धारण व पालन करना, आत्मशुद्धि के लिए उपवास करना अलग अलग बतलाए हुए हुए नियमो का पालन करना, धर्मशास्त्रो का अभ्यास, स्वाध्याय व अनुशीलन करना, विज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करना या विशिष्ट निर्मल ज्ञान प्राप्त करना, निर्जन-एकान्त स्थान मे निवास करना, चक्षु आदि इन्द्रियो के विषयो तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानसिक विकार भावो मे रति नही करना, मोक्ष साधक कर्मों में प्रवृत्ति रखना, उत्तम धैर्य धारण करना, नित्य और नैमित्तिक तथा धर्म और अधर्म के साधन भूत कर्मों का प्रारम्भ नही करना, पूर्वजन्म मे उपार्जित और इस जन्म मे विहित कर्मों को क्षय करने का उपाय करना, जीवन को कर्महीन बनाना अर्थात् घर या आश्रम से दूर होकर कर्मफल भोगने के लिए नए कर्म नही करना—निष्कर्म रहना—अहकार रहित होना, आत्मा और शरीर का संयोग होने पर अपने को भयभीत बनाना अर्थात् यह भय रखना कि कर्म बन्धन के कारण कही मुझे पुनर्जन्म न लेना पडे, मन और बुद्धि को समाधिस्थ करना, अर्थ के तत्वो की परीक्षा करने के बाद उसका ग्रहण करना, ये सभी ठीक ठीक स्मृति ज्ञान की प्राप्ति से ही प्रवृत्त होते हैं ।

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते ।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ।।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१४७

—उपर्युक्त मोक्ष के जो साधन बतलाए गए हैं उसमे 'सतामुपासनम्' से लेकर 'परा धृति' तक नियमो का पालन व आचरण करने से 'स्मृति' उत्पन्न होती हैं। ससार मे स्थित भाव द्रव्यो के स्वभाव का स्मरण करके तथा स्वभाव को स्मरण करते हुए दु ख से मुक्त हो जाता है । अर्थात् सांसारिक दुःखो से मुक्ति हो जाती है ।

इस प्रकार चरक के अनुसार मोक्ष के साधन मे स्मृति विशेष महत्वपूर्ण है ।

सामान्यत: पूर्वापर के विषयों को ध्यान मे रखना ही स्मृति है, यथा-"अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृति:।" अथवा "अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति.।" (योगसूत्र १/११) अर्थात् अनुभव किए हुए विषयो को नही भूलना ही स्मृति है। ससार मे रज और तम से युक्त मन के द्वारा जो भी कार्य किए जाते हैं वे सब दु खदायी और सांसारिक कष्टो के कारणभूत होते है। सतामुपासनम् आदि आचरण करने से स्मृति उत्पन्न होती है और विगत दु खो के अनुभव का स्मरण करते हुए सभी कार्यों को दु:खरूप मानकर धीरे-धीरे छोड देने से सुखोत्पादक ईश्वर की धारणा-ध्यान-समाधि मे मन लग जाता है। जिससे उसे चिदानन्द रूप परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अत: स्मृति भी सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का एक साधन है।

अष्टाग योग का सतत अभ्यास करने से अन्तत. मोक्ष की प्राप्ति होती है— ऐसा योगाचार्यों का अभिमत है। आयुर्वेद मे भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार मन और इन्द्रियो सहित शरीर ये दोनो सभी प्रकार के कष्टो दुखो, रोगो और वेदनाओ का अधिष्ठान हैं। आत्मा का निवास भी इन्द्रिय और समनस्क शरीर मे होता है। अत: शरीर और मन के द्वारा किए जाने वाले कर्मों का फल भी उसी आत्मा को भोगना पडता है। जब तक आत्मा सभी कर्मों से रहित नहीं हो जाता तब तक इस ससार से उसकी मुक्ति सभव नही है। मोक्ष होने पर सभी प्रकार के दु खो-रोगो वेदनाओ का अभाव हो जाता है। मोक्ष का साधन एकमात्र योग के द्वारा सम्भव है। इसीलिए महर्षि चरक ने योग को मोक्ष प्रवर्तक बतलाया है। यथा —

> **वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रिय ।**
> **केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥**
> **योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।**
> **मोक्षे निवृत्तिर्नि:शेषा योगो मोक्षप्रवर्तक: ॥**

—चरक संहिता, शारीरस्थान २/१३६-१३७

केश, लोम, नख'अग्रभाग, अन्न का मल (पुरीष), द्रवों (स्वेद-मूत्र) के गुणो को छोडकर इन्द्रिय सहित शरीर और मन वेदनाओं का अधिष्ठान है। योग और मोक्ष में सभी वेदनाओ का नाश हो जाता है। मोक्ष मे वेदनाओ की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक होता है।

"योगो मोक्षप्रवर्तक:" महर्षि चरक का यह वाक्य अपने आप में विशेष महत्व रखता है। इसके अनुसार योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है। योगसूत्र मे महर्षि पतञ्जलि ने योग का जो लक्षण बतलाया है उसके अनुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:— चित्त (मन) की वृत्ति को रोकने का नाम योग है। समाधि अवस्था में जब मन की

समस्त वृत्तियो का निरोध हो जाता है तब रज और तम जो मन के दोष हैं उनका स्वय ही मन से वियोग अर्थात् अभाव हो जाता है —इसी अवस्था को योग कहते हैं। इस योगावस्था मे मनुष्य की आत्मा पूर्णत निर्मल और विशिष्ट ज्ञानालोक से प्रकाशमान हो जाती है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी प्रकार के योग का उपदेश दिया था —

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।
बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मान नियम्य च॥
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।
विविक्तसेवी लघ्वासी यतवाक्कायमानस॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।
अहकार बल दर्पं काम क्रोध परिग्रहम्॥
विमुच्य निर्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
ब्रह्मभूत प्रशान्तात्मा न शोचति न कांक्षति॥

—भगवद् गीता, १८

—हे कौन्तेय ! ज्ञान की जो उत्कृष्ट निष्ठा है उसे तू मुझ से समझ। विशुद्ध बुद्धि से युक्त स्वय को नियन्त्रित करके शब्दादि इन्द्रियो से विषयो का परित्याग कर तथा राग-द्वेष को हटाकर एकान्तवासी, मिताहारी, मन-वचन-काय को वश मे करके जो नित्य ध्यान योग मे तत्पर रहता हुआ वैराग्य की ओर उन्मुख रहता है वह अहकार, बल, दर्प, (मिथ्याभिमान), काम, क्रोध और परिग्रह से मुक्त होकर मोह-ममता रहित शान्त हुआ ब्रह्मपद को पाने का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मभूत हुआ वह प्रशान्तात्मा न तो कोई शोक (दु.ख) करता है और न कुछ कामना करता है, अर्थात् उसके सुख-दुख, इच्छा द्वेष आदि का नाश हो जाता है।

महर्षि चरक के पूर्वोक्त वचन से एक यह बात भी स्पष्ट होती है कि मोक्ष से पूर्व की अवस्था को ही योग कहते हैं और वही योग मोक्ष का साधन है। योग के बिना मुक्ति सम्भव नही है। इस प्रकार मोक्ष और योग ये दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। इसका स्पष्ट सकेत चरक के पूर्वोक्त "**योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।**" इस वाक्य से मिलता है। उनके अनुसार योग और मोक्ष दोनो ही अवस्थाओ मे सभी प्रकार की वेदनाओ दुखो (रोगो) की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। किन्तु योग ही मोक्ष नही है, अपितु योग के बाद की अन्तिम अवस्था मोक्ष है। योगावस्था मे जो समस्त चित्त वृत्तियो का निरोध अथवा समस्त वेदनाओ का अवर्तन (नाश) होता है वह सशरीर अवस्था में होता है। मोक्षावस्था मे तो इस भौतिक शरीर का भी विनाश हो जाता है अर्थात् शरीर का त्याग करने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तब यह

आत्मा समस्त शारीरिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसे पुनः पुनः जन्म-मरण धारण करने के लिए संसार मे नही आना पड़ता है। यही मोक्ष है और यही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है। आयुर्वेद के अनुसार योग मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम योग की सिद्धि होना अनिवार्य है। योग सिद्धि के बिना मोक्ष की प्राप्ति अथवा आत्मा की मुक्ति होना सम्भव नही है। इससे यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में योग को पर्याप्त महत्व दिया गया है और योग के सिद्धान्तों का वह पूर्णतः अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट है कि योगशास्त्र मे प्रतिपादित चरम लक्ष्य को आयुर्वेद शास्त्र मे भी उसी रूप मे स्वीकृत किया गया है। योगशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तो एव व्यवहारिक बातों को आयुर्वेद में यथावत् रूप से ग्रहण कर लिया गया है। अत योग और आयुर्वेद का अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध है। जिस प्रकार योग शास्त्र में यम और नियम के द्वारा शारीरिक और मानसिक आचरण की शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र मे प्रतिपादित पूर्वोक्त 'सतामुपासनं सम्यगसता परिवर्जनम्' आदि आचरण के अतिरिक्त निम्न 'आचार रसायन' भी विशेष महत्तापूर्ण है, जिसमें सामान्य मनुष्य को सदाचरण का अनुशीलन, सद्गुणो का ग्रहण और सत्कर्मों को करने की प्रेरणा मिलती है—

सत्यवादिनमक्रोध निवृत्त मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायास प्रशान्त प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीर दाननित्य तपस्विनम।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपर नित्य नित्य कारुण्यवेदिनम्।
समजागरणस्वप्न नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञ युक्तिज्ञमनहकृतम्।
शस्ताचारमसकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपर विद्यान्नरं नित्य रसायनम्॥

—चरक सहिता, चिकित्सास्थान १/४/३०-३४

—सत्य बोलने वाले, क्रोध नही करने वाले, मद्य सेवन और मैथुन से दूर रहने वाले, हिंसा नही करने वाले, श्रम नही करने वाले, शान्त रहने वाले, प्रिय बोलने वाले, जप और पवित्रता में तत्पर, धैर्यवान्, नित्य दान करने वाले, तपस्वी, देव, गो, ब्राह्मण आचार्य, गुरु और वृद्धजनो की पूजा (सेवा) में तत्पर रहने वाले, सदैव क्रूरता से दूर रहने वाले, सदैव करुणापूर्ण हृदय वाले, यथोचित समय तक जागृत रहने और यथा

समय शयन करने वाले, देश, काल और प्रमाण (अथवा देश और काल के प्रमाण) को जानने वाले, युक्ति को जानने वाले (युक्तिपूर्वक कार्य करने वाले), अहंकार नहीं करने वाले, उत्तम या प्रशस्त आचार विचार वाले, सकीर्णता या संकीर्ण विचारों से रहित, अध्यात्मविद्या मे प्रवण (आध्यात्मिक विषयो में अपने चित्त को लगाने वाले वृद्धजन, आस्तिक और जितात्मा पुरुषो की सेवा करने वाले धर्मशास्त्रो के अध्ययन-चिन्तन-मनन-अनुशीलन मे तत्पर रहने वाले मनुष्य को सदैव रसायन का युक्त समझना चाहिए। अर्थात् इन गुणो से युक्त मनुष्य यदि रसायन का सेवन नही भी करता है तो भी रसायन के सभी गुण उसे प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यहा स्वस्थ पुरुषो के लिए आचरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। अत मनुष्य को उत्तम आचार-विचारवान् बनने का प्रत्यन करना चाहिए। उपर्युक्त आचार-विचार का पालन करने वाले मनुष्य सामान्य लोगो की अपेक्षा श्रेष्ठ और उन्नत आत्मा वाले होते है, अत वे रसायन के गुणो को बिना रसायन-सेवन के सहज ही प्राप्त कर लेते है। योगशास्त्र में जो यम और नियम बतलाए गए है वे भी इन आचार-विचार से भिन्न नही है। उनका उद्देश्य भी शारीरिक आचरण की शुद्धि, मानसिक दोषो का परिहार और आध्यामिक उन्नति प्राप्त करना है। अत दोनो का लक्ष्य साधन एक है।

योगशास्त्र मे यम-नियम के पश्चात् 'आसन' नामक तृतीय अग का विवेचन किया गया है। आसन के विषय मे कहा गया है कि यह सम्पूर्ण योग का मूल आधार है। आसन की सिद्धि के बिना साधक की आगे गति नही है। आसन का प्रभाव साधक के शरीर, मन-इन्द्रियो और आत्मा पर सयुक्त रूप से पड़ता है, जिससे साधना के लिए आधारभूत सुदृढ भूमि का निर्माण होता है। तात्पर्य यह है कि आसन के द्वारा शरीर और मन मे इतनी सहृदयता आ जाती है कि उससे साधक की साधना में शारीरिक या मानसिक व्यवधान नही आ पाता है। शरीर पर आसन का जो प्रभाव पडता है उससे शरीर स्वस्थ एव निरोग बना रहता है। शरीर के सम्पूर्ण अवयव-अगोपाग और उनकी सभी प्रकार की क्रियाए नियन्त्रित होती हैं, जिससे स्वास्थ्य की रक्षा तो होती ही है, अनेक प्रकार के रोगो का शमन भी होता है। अनेक आसन तो ऐसे हैं जो रोग या रोग की अवस्था विशेष मे अत्यन्त लाभकारी होते है। एक एक आसन कई कई रोगो मे लाभकारी पाया जाता है। अत. रोगोपशमन या रोगों की चिकित्सा के लिए योग अपूर्व साधन है। इस प्रकार योगासनो के द्वारा जहां स्वस्थ मनुष्यो के स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है वहा विकारग्रस्त अवस्था मे रोगों का

उपशमन भी होता है। आयुर्वेद का मूल प्रयोजन भी यही है—"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यो के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी मनुष्यो के रोगों का शमन करना।

स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आयुर्वेद मे स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त का विधान बतलाया गया है। इस दृष्टि से दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतुचर्या का वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है। दिनचर्या के अन्तर्गत प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में जाग्रत होने से लेकर सायंकाल तक के समस्त दैनिक क्रिया कलापो का उल्लेख है। साथ ही उनके गुणधर्म भी बतलाए गए है। प्रात: कालीन कार्यों मे अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान आदि क्रियाओ के साथ साथ स्वशक्त्यनुसार व्यायाम करने का भी निर्देश दिया गया है। व्यायाम के द्वारा शरीर को स्वस्थ, सुन्दर एवं सुगठित बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यायाम से शरीर के आभ्यन्तरिक अवयव और उनकी क्रियाएँ भी प्रभावित होती है जिससे स्वास्थ्य रक्षा तो होती ही है अनेक विकारों-रोगो का उपशमन भी होता है। अतः जो कार्य योगासनो के द्वारा सम्पादित होता है, बहुत कुछ अंशो मे वही कार्य व्यायाम द्वारा भी सम्पन्न होता है। यद्यपि योगासनो और व्यायाम में तुलना नही की जा सकती और न ही व्यायाम की श्रेणी मे योगासनो को रखा जा सकता है। क्योंकि योगासन व्यायाम की अपेक्षा कही अधिक उत्कृष्ट माने गए हैं, तथापि स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से दोनो को समान मानने मे कोई आपत्ति नही हैं। यद्यपि आयुर्वेद मे योगासनो का कही स्पष्ट उल्लेख नही है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अभ्यसनीय या आचरणीय नही है। सम्भवतः कष्ट साध्य होने अथवा उनकी दुरूहता के कारण उन्हे आयुर्वेद मे परिगणित नहीं किया गया हो, किन्तु व्यायाम के माध्यम से या व्यायाम के रूप मे वे अभ्यसनीय हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद मे जो स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त वर्णित है यह सर्वथा योगासनो के अनुकूल है। योगासनो के द्वारा जो सुपरिणाम स्वास्थ्य-अनुवर्तन और विकाराभिनिवृत्ति के रूप मे प्राप्त किए जाते हैं वे भी सर्वथा आयुर्वेद के अनुकूल हैं। इस दृष्टि से योग और आयुर्वेद मे निकटता होना स्वाभाविक है।

योगासनो के अभ्यास में जब साधक स्थिरता और सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो वह अग्रिम योगांग 'प्राणायाम' के अभ्यास मे तत्पर होता है। प्राणायाम वस्तुतः प्राणवायु के निरोध की एक ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके अभ्यास की सफलता होने पर मनुष्य को सुदीर्घ आयु प्राप्त होती है। आयुर्वेद मे भी दीर्घायु की प्राप्ति के लिए अनेक विधि-विधान और उपाय वर्णित हैं। आयुर्वेद में केवल दीर्घायु की प्राप्ति के लिए ही उपायों का उल्लेख नहीं है, अपितु सुखायु और हितायु का भी विवेचन किया

गया है। साथ ही असुखायु और अहितायु का ज्ञान और उससे बचने का उपाय भी प्रतिपादित है।

प्राणायाम में आयु की दीर्घता वायु के निरोध पर निर्भर है। मन की चञ्चलता और निश्चलता भी वायु के विरोध पर निर्भर है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणायाम ही वायु पर आधारित होने से वायु को विशेष महत्व दिया गया है, जैसा कि उपनिषद् के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हैं —

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥

—वायु के चलायमान होने पर मन भी चचल रहता है और वायु के निश्चल रहने पर मन भी निश्चल हो जाता है, तब योगी स्थाणत्व (स्थिरता) को प्राप्त करता है। अत वायु का निरोध (वश में) करना चाहिए।

यहाँ वायु का महत्व बतलाया गया है। वायु के निरोध के बिना प्राणायाम की सिद्धि सम्भव नही है। आयुर्वेद में भी वायु को विशेष महत्व दिया गया है। शरीर मे सम्पन्न होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओ, इन्द्रियो और मन का नियन्ता व प्रणेता वायु को ही माना गया है। शरीर की स्वस्थावस्था में कारणभूत दोषसाम्य और विकारावस्था में कारणभूत दोष वैषम्य के अन्तर्गत वायु की ही प्रधानता है। वायु के बिना अन्य दोनो पित्त, कफ दोष निष्क्रिय रहते है। उनमे कोई गति नही होती और न ही उनमे कोई क्रिया होती है। जैसा कि प्रतिपादित है—

पित्तं पगु कफ. पंगु पंगवो मलधातव.।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

—पित्त पगु (गतिशील नही) है, कफ पंगु है, मल (स्वेद-मूत्र-पुरीष) और धातुए (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) भी पगु है। ये दोष-धातु-मल वायु के द्वारा जहा ले जाए जाते है वहा बादल के समान चले जाते है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल गतिशील होते है उसी प्रकार शरीर में दोष-धातु-मल भी वायु के द्वारा गतिशील रहते है।

इसी प्रकार और भी अनेक उद्धरण वायु की प्रधानता और महत्व के विषय में आयुर्वेद शास्त्र मे प्राप्त होते है। शरीर को स्वस्थ और निरोग बनाए रखने के लिए वायु की साम्यावस्था अत्यन्त आवश्यक है। उसी प्रकार योगशास्त्र मे प्रणायाम की दृष्टि से वायु का विशेष महत्व बतलाया गया है।

योग शास्त्र मे विशेषतः हठयोग में प्राणायाम से पूर्व षट्कर्म द्वारा शरीर का शोधन करना अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। नेति, धौति, बस्ति, न्यौली कपाल

भाति और त्राटक इन यौगिक षट्कर्मों के द्वारा योगाचार्य कफादि दोषों को दूर करने का निर्देश देते हैं, ताकि इन कर्मों से शरीर की शुद्धि होकर शरीर प्राणायाम के अभ्यास के योग्य बन सके। आयुर्वेद शास्त्र में शरीर का शोधन करने के लिए 'पंचकर्म' बतलाए गए है। जैसे—वमन, विरेचन, बस्ति, शिरो विरेचन और रक्तमोक्षण। इन कर्मों से कफादि दोष शरीर के बाहर निकल जाते हैं और शरीर शुद्ध हो जाता है जिस से वह स्वस्थ और निरोग बना रहता है। शरीर का शोधन रोगोपशन के लिए चिकित्सा के रूप मे होता है जिससे अनेक रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेदोक्त पंचकर्म के द्वारा दोषानुसार निम्न प्रकार से शुद्धि होती है—वमन से कफ दोष का, विरेचन से पित्त दोष का, बस्ति से वायु दोष का, शिरोविरेचन से सिर मे स्थित दोष का और रक्त मोक्षण से अशुद्ध रक्त का निर्हरण होता है। इस प्रकार पंचकर्म से दोषो का निर्हरण होकर शरीर पूर्ण रूपेण शुद्ध हो जाता है। योगशास्त्र मे जो षट्कर्म बतलाए गए हैं उनके द्वारा शरीर की शुद्धि के साथ-साथ अनेक रोगो का शमन भी होता है। जैसे नेतिकर्म के विषय मे कहा गया है—

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघ नेतिराशु निहंति च॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३०

—नेतिकर्म कपाल का शोधन करने वाला (सिर मे स्थित कफादि दोपो को दूर करने वाला) और दिव्यदृष्टि प्रदान करने वाला होता है। वह उर्ध्वजत्रुगत (गले से ऊपर अर्थात् शिर में होने वाले) रोग समूह को शीघ्र नष्ट करता है।

धौतिकर्म के द्वारा निम्न रोगो का नाश होता है—

कासश्वासप्लीहकुष्ठ कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशय.॥

—हठ्योग प्रदीपिका २/२५

—धौतिकर्म के प्रभाव, से कास, श्वास, प्लीहा सम्बन्धी विकार, कुष्ठरोग और बीस प्रकार के कफ रोगो का विनाश होता है—इसमे कोई सदेह नही है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः॥

—हठयोगप्रदीपिका २/२७

—बस्तिकर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा सम्बन्धी रोग, उदर रोग तथा वात-पित्त, कफ से उत्पन्न होने वाले सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार त्राटक कर्म के अभ्यास से सभी प्रकार के नेत्र रोग निर्मूल होकर

नेत्रो की ज्योति बढ़ती है। नौलिक्रिया के अभ्यास से अग्नि विकृति दूर होकर पाचन क्रिया एवं पाचन सस्थान सुव्यवस्थित रहता है। इससे होने वाले लाभो का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

—हठयोगप्रदीपिका २/३४

—हठक्रिया मे शिरोमणि यह नौलि क्रिया मन्दाग्नि को दूर कर जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, पाचनादि क्रियाओ को ठीक रखने वाली, सदा आनन्द देने वाली, सभी दोषो और रोगों को दूर करने वाली है।

कपालभाति कर्म के द्वारा सिर, पार्श्व, और वक्ष प्रदेश मे सचित श्लेष्मा का क्षय या निर्गम होता है। इस प्रकार ये षट्कर्म मल और दोषो को बाहर निकाल कर शरीर का शोधन और रोगो का नाश करने वाले होते है।

यह सम्पूर्ण विषय आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित है। अत निस्सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि योगशास्त्र बहुत कुछ रूप मे आयुर्वेद का पूरक होने के कारण उसके अत्यन्त निकट है। योगशास्त्र मे प्रतिपादित स्वास्थ्य रक्षा और रोग नाशक सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्णत वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित तथा आयुर्वेदीय दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल है। यौगिक षट्कर्म तथा अन्य यौगिक क्रियाओं का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर, मन और आत्मा पर पडता है। आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त, सद्वृत्त एव चिकित्सा भी शरीर, मन और आत्मा को पूर्णत प्रभावित करते है। आपाततः दोनो का अतिम लक्ष्य भी लगभग समान ही है। अत दोनों शास्त्र भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं।

□

आयुर्वेद में मन का स्वरूप

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद के अनुसार मन के वशीभूत हो जाने पर ही योग की सिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि ने भी चित्त (मन) की वृत्तियो के निरोध (शमन) होने को योग की सज्ञा दी है। अतः यह स्पष्ट है कि योग स्थिति के लिए मन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद शास्त्र मे अनेक दृष्टि से मन की उपयोगिता होने के कारण विस्तृत रूप से उसके स्वरूप एव उसके अन्यान्य पक्षो का विवेचन किया है जो योग की दृष्टि से ज्ञातव्य है। आयुर्वेद के मनीषियो ने सासारिक बन्धन और मुक्ति का कारण एक मात्र मन को ही माना है। जैसा कि महर्षि चरक के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"मन एव मनुष्य णां कारण बन्धमोक्षयो ।"

इसीलिए योगाचार्यों ने योग की सिद्धि के लिए सर्व प्रथम मन को वश मे करना अत्यावश्यक समझा। आयुर्वेदाचार्यों ने भी मन की स्थिरता, एकाग्रता एव वश मे होने को योग की सज्ञा दी है। अत. यह आवश्यक है कि योग की सिद्धि के प्रमुख साधन रूप मन के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय। आयुर्वेद शास्त्र मे मन के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादित किया गया है वह आध्यात्मिक एव भौतिक उभय दृष्ट्या वर्णित है। अतः प्रसगानुसार ही मन सम्बन्धी विवेचन को ग्रहण करना अभीष्ट है।

ससार के समस्त पञ्चेन्द्रिय प्राणियो मे मनुष्य का विशेष स्थान है। प्राय· सभी प्राणियो के शरीर मे मन की अवस्थिति है। मानव शरीर मे तो मन की स्थिति, उपयोगिता एव महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियो का एक बार यदि विनाश हो जाय और मन अविकृत रुप मे स्थित हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है, किन्तु उसकी समस्त इन्द्रिया स्वस्थ एव प्राकृत हो और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाए एव समस्त इन्द्रिय व्यापार अवरूद्ध हो जाएगा। व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि मानव शरीर मे मन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण द्रव्य है।

मन का महत्व एव तत्सम्बन्धी विशेषताओ का प्रतिपादन अन्य शास्त्रो की अपेक्षा दर्शन शास्त्र मे विशेष रूप से किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य मुख्य विषय विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व रहे हैं। आत्मा की भाति मन भी उन आध्यात्मिक तत्वो मे प्रमुख रहा है। अत दर्शनशास्त्रो मे मन का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद यद्यपि एक चिकित्सा शास्त्र है तथा आध्यात्मिक विषयो के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नही होना चाहिये, तथापि मन भी रोगाधिष्ठान होने से आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। इसी प्रकार मन का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण तथा जिस शरीर की चिकित्सा की जाती है उसे चैतन्य प्रदान करने वाला होने के कारण आत्मा भी आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस अतिरिक्त आत्मा और मन दोनो ही आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। आत्मा के विषय मे महर्षि चरक ने न्याय, वैशेषिक एव वेदान्त दर्शन से समानता रखने वाले विचार व्यक्त किए है। अत मन के विवेचन मे भी आयुर्वेद में उन दर्शनो के विचारो का अवलम्बन लिया गया है। आयुर्वेद मे मन के विषय मे जो चिन्तन धारा प्रवाहित है उसके अनुसार निम्न विवरण प्रस्तुत है—

शरीर मे मन का महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर मे सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित है। यद्यपि मन, इन्द्रिय और शरीर को चैतन्य का प्रकाश आत्मा के द्वारा ही मिलता है। शरीर मे जब तक आत्मा का अनुप्रवेश नही होता तब तक शरीर, उसमे आश्रित मन, इन्द्रिय और अन्यान्य हृदय आदि अवयव चेतना शून्य एव क्रियाहीन होते है तथा आत्मा के संयोग से इनमे चेतनाता एव क्रियाशीलता आती है; किन्तु आत्मा को जो ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञानोत्पत्ति की परम्परा मे मन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। मन के अभाव में केवल इन्द्रियो के द्वारा आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होना नितान्त असम्भव है। यद्यपि मन स्वयं एक इन्द्रिय है तथा अन्य इन्द्रियों की भाति उसकी उत्पत्ति भी महाभूतो से हुई है। तथापि वह सामान्य इन्द्रियो से भिन्न है। आत्मा को जो ज्ञानोपलब्धि होती है उसका मुख्य साधन मन ही है। मन के अभाव में अथवा मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर मे मन की स्थिति अन्त.करण के रूप में है। अन्य ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां बाह्य करण कहलाती हैं। मन की यह विशेषता है कि महाभूतो से समुद्भूत होने पर भी वह अन्य इन्द्रियो की भाति स्थूलरूप नहीं है। इसलिए अन्य इन्द्रियो की भाति यह मन इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। जिस प्रकार शरीर में बाह्य इन्द्रियां दिखाई देती हैं उस प्रकार मन का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि बाह्य इन्द्रियो की भाँति मन की स्थिति शरीर के बाह्य प्रदेश में नहीं है।

शरीर के अन्दर अवस्थित होने से उसे अन्त.करण की संज्ञा दी गई तथा बाह्य इन्द्रियों की भाँति इन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण न ही होने से उसे 'अतीन्द्रिय' या 'इन्द्रयातीत' कहा गया है।

मन का सामान्य अर्थ ज्ञान के योग में किया जाता है। जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है—**"मन् ज्ञाने बोधने वा धातु"** अर्थात् 'मन्' धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार **"मन्यते ज्ञायते बुद्धयतेऽनेनेति मन।"**

सस्कृत व्यारण के अनुसार मन् धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार जिसके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता अथवा बोध होता है वह मन कहलाता है।

वस्तुतः मन स्वतन्त्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने मे समर्थ नही है। आत्मा और इन्द्रियो के साथ मन का सयोग होने पर ही मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अत: इन्द्रियां भी ज्ञान का साधन है। वे इन्द्रियाँ भी स्वतंत्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने मे असमर्थ हैं। इन्द्रियो को ज्ञानोपलब्धि के लिए आत्मा के द्वारा चैतन्य एव मन के द्वारा प्रेरणा लेना आवश्यक है। इन दोनो मे से किसी एक के अभाव मे इन्द्रयाँ भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन अवश्य है किन्तु मूलतः वे ज्ञान ग्रहण करने मे समर्थ नही हैं। वे तो केवल विषयो का ग्रहण करने हेतु प्रवृत्त होती है अथवा विषयो के साथ सयुक्त मात्र होती हैं। वस्तुओ का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। मन के अभाव मे ज्ञान कदापि सभव नही है। मन एक होता है और ज्ञानन्द्रियां पाँच होती हैं। अत. मन की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है केवल वही इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय का ग्रहण करती है और तदनन्तर मन के द्वारा उस विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होता उस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सयोग होने पर भी वह इन्द्रिय उस विषय का ग्रहण नहीं कर पाती है। ऐसी स्थिति मे उस विषय वस्तु का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मन एक बार मे केवल एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त होता है। अतः एक बार में केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ही अपने विषय के साथ संयोग एवं उस विषय का ग्रहण संभव है तथा मन को भी एक बार में केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है उस समय वह केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा उससे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करता है, अन्य का नहीं।

मन सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से शरीर मे उसकी स्थिति उपयोगिता एव महत्व का आभास मिल जाता है। शास्त्रो मे मन का जो लक्षण बतलाया गया है उससे भी उपर्युक्त भाव ही ध्वनित होता है। महर्षि चरक ने मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

> लक्षण मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
> सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥
> वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सानिध्यात् तच्च वर्तते।
>
> —चरक सहिता, शारीर स्थान १/१८

अर्थात् ज्ञान का नही होना अथवा होना ही मन लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियो के विषय) का सन्निकर्ष होने पर मन का सयोग नही होने से ज्ञान नही होता है तथा उपर्युक्त आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सान्निध्य-सयोग होने से ज्ञान होता है।

आत्मा का चक्षु आदि इन्द्रियो और शब्द आदि विषयो से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नही होता। यह ज्ञान का होना या नही होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। यही कारणन्तर मन है। यह मन जब इन्द्रियो के साथ सयुक्त होता है तो इन्द्रिया अपने रूप आदि विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ होती है, जब मन संयुक्त नही होता है तो इन्द्रिया रूपादि स्वविषयो को ग्रहण करने मे समर्थ नही होती है। अर्थात् मन के सान्निध्य से ज्ञान होता है और असान्निध्य से ज्ञान नही होता है।

शरीर मे त्रयोदश विध (तिरह) करण होते है। इन तेहर करणो को दो भागो विभाजित किया गया है—बाह्य करण और अन्त: करण। इनमे पाँच ज्ञानेन्द्रिया (श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना और घ्राण) और पाच कर्मेन्द्रिया (हस्त, पाद, गुद, उपस्थ और वाक्) इन दस इन्द्रियो की गणना बाह्य करण मे की जाती है तथा मन, बुद्धि और अहकार की गणना अन्त.करण मे की जाती है। इन तेरह ही करणो मे मन प्रधान है। वह ज्ञानेन्द्रिय ओर कर्मेन्द्रिय दोनो का सहायक होने से उभयेन्द्रिय माना जाता है। सांख्य दर्शन की दृष्टि से मन की उत्पत्ति अहकार से होने के कारण वह अहकारिक माना गया है, किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार अन्य द्रव्यो (इन्द्रियो) की भाति मन की उत्पत्ति भी महाभूतो से होने के कारण वह भौतिक होता है। दोनो ही दृष्टि से अर्थात् अहकारिक होने पर अथवा भौतिक होने पर मन की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति (अव्यक्त) होती है। अत उस प्रकृति में विद्यमान तीन गुण सत्व-रज-तम मन मे भी होते हैं। तदनुसार तीनो गुणो के अनुरूप सत्व से ज्ञान, रज से प्रवृत्ति और तम से अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन मे दृष्टिगोचर होते हैं। इसमे जिस गुण की

अधिकता से जो ज्ञान आदि लक्षण मन मे उत्पन्न होते है उसी गुण के आधार पर उस मन को अथवा उस मन के अधिष्ठाता को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है। मन के उन गुणों की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव के द्वारा भी होती है। अतः उसकी प्रकृति का निर्धारण इन्ही मानसिक गुणो के आधार पर किया जाता है। जैसे सात्विक प्रकृति, राजसी प्रकृति, तामसी प्रकृति।

मन को ज्ञान, सुख, दुःख आदि का साधन माना गया है। अत अन्य कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर मन का निम्न लक्षण निर्धारित किया है—

सुखादिसाक्षात्कारस्य करण मन उच्यते।
अस्पर्शमणु चानन्त प्रत्यात्मनियतत्वतः ॥

अर्थात् मन स्पर्श रहित और अणु परिमाण वाला होता है। प्रत्येक शरीरस्थ आत्मा के साथ भिन्न-भिन्न मन का सयोग होने से मन अनन्त (अपरिसख्येय) होते है। मन को सुख आदि के साक्षात्कार का करण भी कहा गया है।

मन का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है—

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिगम्।"

—वैशेषिक दर्पण ३/२/१

आर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियो के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का सन्निकर्ष होने पर जिस वस्तु का सयोग होने से ज्ञान होता है तथा जिसका सयोग नही होने से ज्ञान नही होता वह वस्तु ही मन है।

इसी विषय का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार से किया गया है—

"आत्मनः करणानामिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते। तेन इमौ ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तरं सूचयत यच्च तदेव मन।"

इसके अतिरिक्त मन का एक भिन्न लक्षण और भी किया गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिगम्" —न्यायदर्पण १/१/१६

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति नही होना ही मन का लक्षण है।

एक अन्य लक्ष ण निम्न प्रकार है—

"सुखदु.खाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन।" —तर्क सग्रह

अर्थात् सुख-दुख आदि की अनुभूति की साधन रूप इन्द्रिय ही मन है। अथवा जिस इन्द्रिय से सुख-दुख आदि का अनुभव होता है वह इन्द्रिय ही मन कहलाती है।

शरीर मे मन के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार नही किया जा सकता। क्योकि शरीर के लिए मन एक अत्यावश्यक द्रव्य है। इसकी उपयोगिता मनुष्य को होने वाले

ज्ञान की शृंखला के लिए विशेष रूप से है। अतः ज्ञानोत्पत्ति का कार्य मन का अस्तित्व मानने से ही पूर्ण होता है। यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नही किया जाय तो इस प्रश्न का समाधान कर पाना असम्भव होगा कि ज्ञानोत्पत्ति किस क्रम से होती है। मन के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति का होना नितान्त असम्भव है। ज्ञानोत्पत्ति क्रम में यदि केवल आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियो के विषय को ही कारण माना जाय तो इतने मात्र से निर्वाह होना सम्भव नही है। क्योकि केवल उपर्युक्त कारणो का संयोग ही ज्ञानोत्पत्ति लिए पर्याप्त के नही है। इन कारणो के अतिरिक्त एक अन्य कारण और होता है जिसका सयोग होने पर ज्ञान होता है तथा उसका संयोग नही होने पर ज्ञान नही होता है। यह अतिरिक्त कारण मन ही है।

इसके अतिरिक्त यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने के कारण आत्मा का इन्द्रियो के साथ सदा संयोग बना रहता है। इन्द्रिया भी अपने-अपने विषयो के साथ सदैव सयुक्त रहती हैं, अत इन्द्रियो को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियो के साथ एक साथ ही सयुक्त रहता है। अत समस्त इन्द्रियो को ज्ञान भी एक साथ सयुक्त रूप से ही होना चाहिए, किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नही देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया मे कोई ऐसा महत्वपूर्ण द्रव्य अवश्य है जिसके बिना ज्ञान नही होना है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य मन ही है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इनके साक्षात्कार के लिए क्रमश चक्षु, रसना घ्राण, स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियाँ है। जिसके द्वारा उपर्युक्त रूप आदि विषयो का ज्ञान एवं ग्रहण होता है। अत. इसके लिए उपर्युक्त इन्द्रियो से भिन्न अतिरिक्त पृथक् साधन होना चाहिए। वह साधन है मन। अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियो के द्वारा अबाह्य सुख-दु ख आदि के अनुभव का साधन भी मन है, इसीलिए मन का एक लक्षण यह भी किया गया कि **"सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन"**। इससे मन का स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

मन के गुण

"अणुत्वमथ चैकत्व द्वौ गुणौ मनस. स्मृतौ।"

—चरक सहिता, शारीरस्थान १/१९

अर्थ—अणुत्व (सूक्ष्मत्व अथवा सूक्ष्म होना) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं। अर्थात् मन अणु परिमाण वाला तथा एक होता है।

मन को अणु परिमाण वाला मानने से उसके सर्व व्यापकत्व का निराकरण

तथा असर्वव्यापकत्व की सिद्धि होती है। मन को प्रति शरीर एक मानने से इन्द्रियों की भाँति उसके अनेकत्व का निराकरण होता है।

यदि मन का अणुत्व तथा एकत्व स्वीकार न कर उसे 'महत्' परिमाण वाला तथा अनेक माना जाय तो इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा और ऐसी स्थिति मे उसे समस्त इन्द्रियो के द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे ज्ञान परम्परा मे एक प्रकार की विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अर्थात् उपर्युक्त स्थिति मे मन को वर्तमान की भांति व्यवस्थित ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पाएगी। क्योकि एक साथ समस्त इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान होने से समस्त ज्ञान परस्पर मे टकराएगे और ज्ञान परम्परा मे व्यवधान होने लगेगा जिससे मन को किसी भी वस्तु के ज्ञान की उपलब्धि नही हो सकेगी। क्योकि क्रमानुसार और व्यवस्थित ज्ञान शृखला ही वस्तु के सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादक है तथा मन ऐसे ही ज्ञान की उपलब्धि मे सहायक होता है। अबाधित तथा विषमताओ से रहित ज्ञान ही मानस ग्राह्य है और इस प्रकार का ज्ञान एक काल मे केवल एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अत. प्रति शरीर मे मन एक ही होता है।

मन के अणुत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि मन की स्थिति शरीर मे अणु या सूक्ष्म रूप मे है। वह आत्मा की भाँति सर्व शरीर मे व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य नही है। सूक्ष्म होने के कारण वह शरीर मे एक प्रदेश के कई हजारवें भाग में स्थित रहता है। किन्तु अपनी सूक्ष्मता, चचलता एव तीव्र गतिशीलता के कारण वह सर्वदेह व्यापी प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष मे यह देखा जाता है कि जब मन किसी एक इन्द्रिय के साथ सयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, अन्य के द्वारा नही। जैसे ई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष अथवा अध्ययन में तल्लीन होकर लग जाता है तो बाहर या अन्य स्थान से आने वाली आवाजो का ज्ञान उसे नही होता है। इसी प्रकार दो या अधिक व्यक्तियो के परस्पर वार्तालाप करने पर जब वहाँ पर स्थित किसी व्यक्ति का मन वार्तालाप की ओर न होकर अन्य विषयों के चिन्तन मे लग जाता है तो ऐसी स्थिति मे उन व्यक्तियो के वार्त्तालाप का स्वर निरन्तर उस व्यक्ति के कान मे पडते रहने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नही हो पाता है कि उन व्यक्तियो मे परस्पर क्या वार्तालाप हो रहा है? इसी भांति कोई पुस्तक पढ़ते पढ़ते बीच में जब मन किसी अन्य विषय मे लग जाता है तो पूरा पृष्ठ या अध्याय पढ लेने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नही हो पाता कि क्या पढ़ा गया है? इसी प्रकार जब कक्षा मे छात्रगण अपने अध्यापक के प्रवचन (भाषण) को सुनते है तो कई छात्रो का मन अन्यत्र विषय में सलग्न रहता है तो ऐसी स्थिति में उस छात्र

के लिए यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कक्षा मे अध्यापक महोदय ने अपने भाषण मे क्या कहा या उसने क्या समझा ? इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं ।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन जब जिस इन्द्रिय के साथ सयुक्त होता है तब उसे केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है । इससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि मन आत्मा के सदृश महान् या सर्व शरीर व्यापी नही है, अपितु अणु रूप होने के कारण वह एक ही समय मे समस्त इन्द्रियो मे सचार नही कर सकता । यही कारण है कि वह एक काल मे केवल एक ही इन्द्रिय के साथ सयुक्त होता है । जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणो से भी स्पष्ट है । कई बार हम को ऐसी प्रतीति भी होती है कि पाँचो इन्द्रियो के द्वारा एक साथ ही ज्ञान हो रहा है । जैसे भोजन करते समय हाथ के स्पर्श के द्वारा भोजन के शीतत्व-उष्णत्व का ज्ञान होता है । रसना के द्वारा रस का ज्ञान भी होता है । घ्राण के द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है और दोनो चक्षु उसे सतत देखते भी रखते है । साथ मे वार्तालाप करते रहने पर शब्द श्रवण भी होता है । अतः उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञानो का अनुभव एक साथ हो रहा है । किन्तु वस्तुत ऐसा नही होता है, मन की चचलता एव तीव्र गतिशीलता के कारण वह समस्त इन्द्रियो के साथ क्रमशः सम्पर्क करता है । अर्थात् वह एक इन्द्रिय के बाद दूसरी इन्द्रिय, दूसरी के बाद तीसरी इन्द्रिय, तीसरी के बाद चौथी इन्द्रिय, चौथी के बाद पाँचवी इस प्रकार क्रमश इन्द्रियो के साथ सयुक्त होता है । इन्द्रियो के साथ उसका यह संयोग इतनी शीघ्रता और तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ सयुक्त होने के बीच के व्यवधान या अन्तर की प्रतीति नही हो पाती । अतः ऐसा लगता है कि मन समस्त इन्द्रियो के साथ एक साथ सयुक्त है । इन्द्रियो के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पादित होती है जिस प्रकार सौ कमल के पत्तो को एकत्र कर उन्हें एक के ऊपर एक रख दिया जाय । तदनन्तर उन समस्त पत्तो का वेधन एक सुई के द्वारा किया जाय । सुई के द्वारा पत्तो का वेधन करने पर ऐसा लगता है कि समस्त पत्तो का वेधन एक साथ ही हो गया है, किन्तु ऐसा नही होता । अर्थात् उन पत्तो का वेधन तो क्रमशः एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा तीसरे के बाद चौथा इस प्रकार होता है । किन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रमशः उनके वेधन का ज्ञान नही हो पाता और हम यह समझते हैं कि समस्त पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है । ठीक यही स्थिति इन्द्रियो के साथ मन के सयोग की है । इस सदर्भ मे एक अन्य उदाहरण अलात चक्र का भी दिया जाता है । अर्थात् एक पतली लौह शलाका के दोनों सिरों पर थोडा-सा कपड़ा बांध कर उसे मिट्टी के तेल मे भिगो कर उसमें आग लगा दी जाती है । उसके बाद बीच में

एक दूसरी शलाका लगाकर उसे काफी जोरों से घुमाया जाता है, जिससे वह प्रज्वलित अग्नि के चक्र की भांति प्रतीत होती है। यही अलात चक्र कहलाता है। इसमें शलाका के केवल दो सिरो में आग लगी रहती है, किन्तु उसके घूमने की गति अत्यन्त तीव्र होने के कारण वह एक चक्र के समान प्रतीत होता है। इसी प्रकार मन भी तीव्र गति से शरीर में इतस्तत घूमता है और क्रमश इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अणु परिमाण वाला तथा एक है। मन के अणुत्व तथा एकत्व की सिद्धि मे युगपत् ज्ञान की उत्पत्ति न होना विशेष महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर अन्य विद्वानो एव आचार्यों ने भी मन में अणुत्व तथा एकत्व को सिद्ध किया है। महर्षि गौतम ने मन के एकत्व की सिद्धि के लिए कहा है—"**ज्ञानायौग-पद्यादेकं मन इति**"-न्या० द० ३/२/६० । अर्थात् ज्ञान के एक साथ नहीं होने से मन एक है। इसी का समर्थन महर्षि कणाद ने भी किया है। उन्होने अपने वैशेषिक दर्पण मे इस सदर्भ मे कहा है—"**प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैक इति**"—वै० द० ३/२/३ अर्थात् एक समय मे एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अथवा एक समय मे प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन एक होता है। आचार्य विश्वनाथ ने कारिकावलि मे ज्ञानों के एक कालिक न होने के कारण मन को अणु परिमाण वाला कहा है। यथा—**अयौग-पद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते**"—विश्वनाथ कारिका ३८५ ।

कभी कभी एक समय मे ही दीर्घ शष्कुली भक्षण में गन्ध, रस, रूप आदि अनेक विषयो का ज्ञान होने की भ्रान्ति होती है। वह भी मन के अति तीव्र सचार के कारण होती है। इस प्रकरण को शत कमल पत्र भेदन के उदाहरण से पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है।

मन के विषय तथा कर्म

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
इन्द्रियाभिग्रह: कर्म मनसस्स्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च तत परं बुद्धि प्रवर्तते ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/२०-२१

अर्थात्—चिन्ता के योग्य, गुणागुण के विचार के योग्य, तर्क के योग्य, ध्यान के योग्य और सकल्प के योग्य भाव या पदार्थ तथा मन के द्वारा अनुभव किए जाने वाले अन्य सुख दुःख आदि भाव ये सब मनव के विषय हैं। समस्त इन्द्रियों को

अपने-अपने विषय मे प्रेरित करना तथा अहित विषयो मे उनकी प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियो का नियन्त्रण करना अथवा अपना नियमन करना, किसी विषय में तर्क करना, हिताहित का विचार करना ये सब मन के कर्म है ।

चिन्त्य—मन के द्वारा चिन्तन किए जाने योग्य विषय । जैसे यह करने योग्य है या नही । **विचार्य**— उपपत्ति या अनुपपत्ति (तर्क) के द्वारा यह करने से लाभ होगा और यह करने से हानि होगी । इत्यादि का विचार करना अथवा किसी विषय के दोष का ज्ञान करना विचार कहलता है । इस प्रकार के विचार योग्य विषय को विचार्य कहा जाता है । **ऊह्य**--सम्भावना के द्वारा जैसे यह कार्य इस प्रकार होगा अथवा शास्त्रानुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के सशय, पूर्वपक्षआदि का निवारण और उत्तर पक्ष के स्थापन आदि के निर्णय के लिए परीक्षण को ऊहा कहते है । उस ऊहा के योग्य विषय ऊह्य कहलाते हैं । **ध्येय**–भावना ज्ञान का विषय ध्येय कहलाता है । अथवा एकाग्र मन से किसी वस्तु स्वरूप का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है और ध्यान के योग्य विषय को ध्येय कहते हैं । **सकल्प्य**—यह विषय या वस्तु गुण युक्त है अथवा दोषयुक्त इसका निश्चय करना अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय कर अभीष्ट प्राप्ति (सिद्धि) के लिए यही करना है—ऐसे निर्णय को सकल्प कहते है । सकल्प के योग्य जो विषय होता है वह सकल्प्य कहलाता है ।

ऊपर जिन विषयो का उल्लेख या प्रतिपादन किया गया है, ये सब विषय मन के होते है । इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषय मन के होते हैं जो मन के द्वारा ग्राह्य होते है अथवा मन की सहायता से जिनका ग्रहण होता है । इग दृष्टि से मन के विषयो को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं । अर्थात्— मन के विषय दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार के विषय वे हैं जो पाच ज्ञानेन्दियो की सहायता से मन के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं । जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध । ये विषय यद्यपि मुख्य रूप से इन्द्रियो के विषय कहलाते हैं, तथापि—इन्द्रियो की सहायता से मन ही इनका ग्रहण करता है । दूसरे प्रकार के विषय इन्द्रिय निरपेक्ष होते है । ये मन के स्वतत्र विषय होते हैं । अत मन के विषयो से मुख्यत. इन्ही इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयो का ग्रहण किया जाता है । इन चिन्त्य आदि विषयो का ग्रहण करने मे इन्द्रिया सर्वथा असमर्थ रहती हैं । अत मन के द्वारा इन्द्रियातीय विषयो का ग्रहण किए जाने से वह अतीन्द्रिय कहलाता है ।

इन्द्रियो के विषय नियत है—"**प्रतिनियतविषयैकाणीन्द्रियाणि**" अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय प्रतिनियत है वह इन्द्रिय मात्र उसी विषय का ग्रहण करती है । अन्य का नही । जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप विषय का ही ग्रहण होता है । अन्य शब्द आदि विषयो का नही । किन्तु मन सब इन्द्रियो के साथ समस्त विषयों

का ग्रहण करना है। इतना ही नहीं, इन्द्रियों के विषयों के अतिरिक्त विविध विषयों का चिन्तन, किसी विषय के गुणावगुण का विचार, शास्त्रों के अनुसार तर्क करना, एकाग्र मनसा वस्तु विशेष का ध्यान, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर किसी विषय का संकल्प, सुख दु:ख आदि आभ्यन्तरिक भावो का अनुभव करना इत्यादि भी मन के विषय हैं। इस प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रियातीत दानों प्रकार के विषयो का ग्रहण मन के द्वारा होता है।

मन के उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त अन्य कुछ विशिष्ट कर्म भी होते हैं। मन चूंकि एक द्रव्य है, अतः द्रव्यत्व की दृष्टि से उसमे गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहना चाहिए। गुण और कर्म के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता। अतः मन के कर्मों का भी निर्देश किया गया है। मुख्य रूप से मन के दो कर्म होते हैं— एक है इन्द्रियो को नियन्त्रित करना अथवा उन्हे अहित विषयो से पराङ्मुख करना और स्वविषयो मे प्रवृत्ति। मन का दूसरा कर्म है धृति की सहायता से स्वय अपना निग्रह अथवा नियन्त्रण करना। इसके अतिरिक्त विभिन्न तथ्यपूर्ण व युक्ति संगत तर्क प्रस्तुत करना तथा हिताहित या गुणावगुण का विचार करना भी मन का ही कर्म है।

मन का स्थान

"सत्वादिधामहृदयं स्तनोर.कोष्ठमध्यगम्"

—अष्टांगहृदय, शारीर स्थान अ० ४

"हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्।।

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान अ० ३

षडंगमगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थं पचमम्
आत्मा च सगुणश्चेत सर्वं च हृदि संस्थितम्।

—चरकसहिता, सूत्रस्थान ३०/४

अर्थ—सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है जो दोनो स्तनों और उरःकोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है।

—हृदय में बुद्धि और मन का निवास होने से गर्भ में हृदय का निर्माण होता है—ऐसा कृतवीर्य का मत है।

—शरीर के छहों अंगो (दो हाथ, दो पैर, मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है। यहा पर कुछ लोग हृदय शब्द के अर्थ मे भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि हृदय शब्द से यहा वक्ष प्रदेश मे स्थित माँसपेशीमय हृदय का ग्रहण न करके शिरोगत मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि "बुद्धेर्निवास हृदय प्रदूष्य" इत्यादि वाक्यो के द्वारा बुद्धि का निवास स्थान हृदय को शिर कपाल मे स्थित मस्तिष्क मानने की पुष्टि होती है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नही होता। अष्टाग हृदय के उपर्युक्त वचन के द्वारा प्रथम ही मन के स्थान रूप हृदय की स्थिति वक्ष प्रदेश में दोनो स्तनो के मध्य में निरूपित की गई है। अतः हृदय शब्द से सर्व सामान्य मे प्रचलित मांस-पेशीमय हृदय का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त "हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च" इत्यादि सुश्रुत के वचन के द्वारा वक्ष प्रदेश मे स्थित हृदय का ही बोध होता है। अत कपाल मे स्थित मस्तिष्क को हृदय मानना उपयुक्त नही है।

कुछ लोगो ने मन का स्थान हृदय की अपेक्षा जो मस्तिष्क निरूपित किया है एक दृष्टि से यह भी मान्य हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियो का आधार शिर ही है। चरक ने शिर को समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान निरूपित करते हुए शिर का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिता सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमगानां शिरस्तदभिधीयते ॥

—चरकसहिता, सूत्रस्थान १७/३

अर्थ—जिसमे प्राणियो के प्राण आश्रित रहते हैं, जिसमे समस्त इन्द्रिया आश्रित हैं और जो शरीर के समस्त अंगो में उत्तमाग (श्रेष्ठ) है वह शिर कहलाता है।

इसी प्रकार भेलसहिता मे भी मन का स्थान शिर में प्रतिपादित किया गया है। यथा—

शिरस्ताल्वन्तरगत सर्वेन्द्रियपर मनः।
तत्र तद्धि विषयानिन्द्रियान् रसाविकान् ॥
समीपस्थान् बिजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
तन्मन प्रभावं चापि सर्वेन्द्रियमय बलम् ॥
कारण सर्वबुद्धीनां चित्त हृदयसंस्थितम्।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥

अर्थात् समस्त इन्द्रियो में श्रेष्ठ मन शिर तालू में स्थित रहता है। वह वहा पर समीपस्थ इन्द्रियो के रसादि विषयो का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तीन भावों का नियन्त्रण करता है। वह मन समस्त इन्द्रिय रूप, प्रभावशाली और बलयुक्त होता है।

सभी प्रकार की बुद्धियो का कारण रूप चित्त हृदय मे स्थित रहता है। वह समस्त क्रियाओ का भी कारण है।

इस प्रकार शिर भी मन का स्थान स्वीकृत किया गया है। समस्त ज्ञानेंद्रियों का अधिष्ठान शिर होने के कारण मन का अधिष्ठान भी शिर स्वतः प्रतिपादित होता है। क्योकि मन स्वयं एक इन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त शरीर मे ज्ञान का सबसे बड़ा केन्द्र शिर ही है। समस्त इन्द्रियां वहीं केन्द्रित, नियन्त्रित और उपस्थित रहती है। अत: दीर्घ अवधि तक मन का भी वहां उपस्थित रहना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से शिर को मन का स्थान माना गया है। संक्षेप से मन का स्थायी निवास, नियन्त्रण केन्द्र और कार्य क्षेत्र की दृष्टि से मन के स्थान को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। मन का मूल स्थायी निवास स्थान हृदय है—इस तथ्य को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियो का केन्द्र मस्तिष्क है, जहां विषयो के स्वरूप का निर्णय एव इन्द्रियों की प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्त होती है। मन हृदय से मनोवह स्रोतो के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहां से समस्त इन्द्रियों का निग्रह या नियन्त्रण करता है। अत: मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सर्व शरीर में मनोवह स्रोतों की व्याप्ति होने के कारण शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम परमाणु में मन त्वरित गति से पहुच जाता है। अतः उसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। केवल हृदय में स्थित रहता हुआ मन इन्द्रियों का नियन्त्रण, वस्तु स्वरूप का ग्रहण एवं सर्व शरीर परिभ्रमण नहीं कर सकता। अतः वह हृदय से मनोवह स्रोतो के द्वारा शिर और सम्पूर्ण शरीर में सतत भ्रमण करता हुआ हृदय में स्थित आत्मा को ज्ञान कराता है[1]। इस प्रकार कार्य विभाजन की दृष्टि से मन का स्थान भिन्न-भिन्न समझना चाहिए। किन्तु मूल रूपेण मन का स्थान हृदय है।

०

योग और स्वास्थ्य

योगाभ्यास अथवा योगसाधना का मुख्य आधार शरीर है। शरीर के माध्यम से ही साधक अन्यान्य यौगिक क्रियाओ का अभ्यास कर सकता है। अत: योगाभ्यास या योग की साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अत्ययन्त आवश्यक है। रोगी या अस्वस्थ शरीर के द्वारा योगाभ्यास किया जाना सम्भव नही है। यद्यपि यह सही है कि योगशास्त्र की आधारभूत पृष्ठभूमि दार्शनिक विचारधारा से अनुप्राणित है और उसका सम्पूर्ण अन्त: बाह्य कलेवर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परिवेष्टित है, जबकि स्वास्थ्य साधन या स्वास्थ्य रक्षा का उद्देश्य केवल भौतिक उपलब्धि है। आध्यात्मिक या दार्शनिक दृष्टि से मानव शरीर एक भौतिक सगठनात्मक द्रव्य है जो वृद्धि और क्षय को प्राप्त होता हुआ अन्त में विनाश को प्राप्त होता है, अत: वह नाशवान् है। यह मानव शरीर हड्डियो का एक ऐसा ढाचा है जो मास और मेद से आवृत है। त्वचा इसका बाह्य आवरण है जो बाह्य आघातो, शीत, आतप, वर्षा और जीव जन्तुओं द्वारा भक्षण से इसकी रक्षा करती है। रस-रक्त इसे पोषण प्रदान करते हैं तथा मज्जा-शुक्र इसमे शक्ति का सचार करते हैं। ये सभी वस्तुए भौतिक और क्षय को प्राप्त होने वाली होने से नाशवान हैं। अत: इन पर टिके हुए शरीर का नाशवान होना भी स्वाभाविक है।

आयुर्वेद मे 'दोषधातुमलमूल हि शरीरम्'- यह शरीर की व्याख्या बतलाई गई है, जिसके अनुसार दोष (वात-पित्त-कफ), धातु (रस-रक्त- मास-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और मल (स्वेद-मूत्र- पुरीष) ये तीनो शरीर के मूल आधार हैं। इनसे ही शरीर का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की सम्पूर्ण आभ्यन्तरिक क्रियाए और बाह्य चेष्टाए इन्हीं पर आधारित हैं। शारीरिक आरोग्य या अनारोग्य भी इन तीनों के अधीन है। इनमे या इनमे से किसी एक मे जब किसी प्रकार की विकृति या वैषम्य उत्पन्न हो जाता है तो उनका पारस्परिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य पर पड़ता है। परिणामस्वरुप शरीर

अस्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार दोष-धातु-मल ये तीनों ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शारीरिक स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी हैं। शरीर की उत्पत्ति-स्थिति और विनाश में भी ये तीनों मूल कारण माने जाते हैं। अतः शरीर को स्वस्थ रखने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इनकी क्रियाओं मे कोई वैषम्य उत्पन्न न हो और न ही शरीर के लिए इनके अपेक्षित परिमाण मे वृद्धि या ह्रास हो।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योग साधना का चरम लक्ष्य अखण्डानन्द की प्राप्ति है जो केवल कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति होने पर ही सम्भव है। कैवल्य या मोक्ष वह अक्षय, अविनाशी और शाश्वत परम पद है जिसे प्राप्त कर लेने के बाद यह ससारी आत्मा सदा के लिए जन्म-मरण के विभिन्न कष्ट और कर्मबन्धन जनित दु:खो से मुक्ति पा जाता है। जिस योग साधना के द्वारा आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है उस योग साधना का एकमात्र साधन मनुष्य का शरीर है। इस शरीर के बिना योग साधना सम्भव नही है। शरीर के माध्यम से भी यौगिक क्रियाओ का सम्पादन तब ही सम्भव है जब शरीर पूर्ण रूप से निरोग और स्वस्थ हो। शारीरिक और मानसिक आरोग्य के द्वारा ही मनुष्य चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति कर सकता है, जैसा कि आर्ष वाक्य द्वारा स्पष्ट है—"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"

यहां धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का मूल आरोग्य बतलाया गया है। आरोग्य का अभिप्राय यहा शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के आरोग्य से है। यदि मनुष्य केवल शारीरिक रूप से स्वस्थ हो और मानसिक रूप से अशान्त हो तो उसके द्वारा लक्ष्य प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चित्त विभ्रम, मनो मालिन्य, कुत्सित विचार, चिन्ता, भय, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, ईर्ष्या, जुगुप्सा आदि विभिन्न भाव मनो विकृति के मूल कारण हैं। इन कारणो के रहते हुए मनुष्य कभी भी योग साधना के निमित्त मानसिक आरोग्य प्राप्त नहीं कर सकता। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि शारीरिक स्वस्थता होते हुए भी मन की एकाग्रता हुए बिना योगाभ्यास या यौगिक क्रियाओं के द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति करना सम्भव नहीं है। यद्यपि आचार्यों ने धर्म साधन के लिए शरीर को आद्य साधन निरूपित किया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। किन्तु यहां शरीर का तात्पर्य बाह्य कलेवर मात्र से नहीं है, अपितु मन सहित शरीर से है। जो मनुष्य व्याधिग्रस्त हैं, जिनका मन या शरीर अथवा दोनों ही स्वस्थ नहीं हैं वे योग साधना तो क्या अपना सामान्य जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत नही कर सकते। न तो वे धर्म साधन में तत्पर हो सकते हैं और न ही ज्ञानोपार्जन में दत्त चित्त हो सकते हैं। सांसारिक भोगोपभोगों के समस्त साधन उपलब्ध होने पर भी वे उनका यथोचित उपभोग करने में समर्थ नहीं होते।

विभिन्न सांसारिक कार्यों के लिए जहां शरीर का आरोग्य और स्वास्थ्य अपेक्षित है वहां यौगिक क्रियाओ और योग साधना के लिए भी स्वस्थ शरीर नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही योग-साधना की फलसिद्धि प्राप्त होती है। जैसा कि आचार्य का कथन है—

पुरस्य दार्ढ्ये योगस्य सिद्धि सर्वार्थसाधनी ।
अखण्डानन्दसिद्धिश्च फल तेनैव जायते ॥

—जीवानन्दम्

—शरीर रूपी नगर के दृढ़ (स्वस्थ) रहने पर ही योग की सर्वार्थसाधक और शाश्वत आनन्द प्रदायक सिद्धि फल रूप से उसी के द्वारा प्राप्त होती है।

"योग और स्वास्थ्य" इस विषय पर विचार करते समय मुख्यत: दो बातें हमारे सम्मुख आती हैं—एक तो यह कि योगाभ्यास और योग साधना केवल उन लोगो को करना चहिए जो सर्वथा स्वस्थ हो और जिनका शरीर इसके लिए पूर्णत: सक्षम हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति रोगी हैं उनके लिए योगाभ्यास निषिद्ध है। दूसरी बात यह है कि आसन प्राणायाम आदि के प्रसग मे यह बतलाया गया है कि अमुक आसन के द्वारा अमुक रोग दूर होता है, अथवा प्राणायाम की अमुक अवस्था मे अमुक विकार का उपशमन होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रुग्णावस्था मे भी योगाभ्यास किया जाना सम्भव है। ये दोनों बातें सर्वथा भिन्न हैं, दोनों परस्पर विरोधी बाते एक साथ कैसे सम्भव है? इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि योगाभ्यास या योग साधना के लिए शरीर का स्वस्थ एव निरोग होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा साधक की साधना मे व्यवधान आयेगा और वह अपना लक्ष्य प्राप्त नही कर पायेगा। यम, नियम, आसन आदि योगाग साधक के शरीर और मन को स्वस्थ एव निरोग बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इन अंगों से साधक के स्वास्थ्य की ही रक्षा नही होती, अपितु किसी कारणवश अपरिहार्य स्थिति मे शरीर के विकारग्रस्त हो जाने की स्थिति मे ये अंग उस विकार का उपशमन भी करते है ताकि साधक का शरीर साधना काल मे निरोग और स्थिर बना रहे। अत: आसन आदि योगाग वस्तुत: यथार्थ साधन नही हैं, अपितु योगाभ्यास या साधना की प्रारम्भिक या पूर्व अवस्था है जिसमें साधक अपने शरीर और मन को योगाभ्यास के योग्य बनाता है। अत: दोनो बातें सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी परस्पर अनुपूरक हैं।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि वस्तुत: स्वस्थ पुरुष कौन है? अत: स्वस्थ पुरुष की समीचीन व्याख्या होना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के बाह्य डील-डौल को

देखने मात्र से ही कोई व्यक्ति स्वस्थ या अस्वस्थ नहीं कहा जा सकता। बाहर से हृष्ट पुष्ट दिखने वाला व्यक्ति भी शरीर के आभ्यन्तरिक या मानसिक विकार से पीड़ित होने के कारण अस्वस्थ हो सकता है और कोई स्वभावतः दुबला व्यक्ति भी प्रसन्नात्मेन्द्रियमन होने के कारण स्वस्थ या निरोग हो सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ और स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी विवेचना की गई है जो योगशास्त्र के लिए उपयोगी हो सकती है। आसन आदि के द्वारा मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ होता है और उसका शरीर निरोग बनता है, अतः योग और स्वास्थ्य का निकटतम सम्बन्ध है। इसी प्रकार आयुर्वेद भी मनुष्य के शरीर की स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश करता हुआ शरीर को स्वस्थ और निरोग रखने के लिए आवश्यक उपायों का निर्देश करता है। इस प्रकार स्वास्थ्य एक ऐसी कड़ी है जिसका सम्बन्ध योग से भी है और आयुर्वेद से भी। अतः योग और आयुर्वेद की पारस्परिक निकटता अथवा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण माध्यम है। योग-शास्त्र में योगाभ्यास या योग साधना के लिए शरीर का स्वस्थ एवं निरोग होना नितान्त आश्वयक बतलाया गया है। अतः स्वस्थ पुरुष कौन है? इसका ज्ञान होना भी आवश्यक है। स्वस्थ पुरुष के विषय में महर्षि सुश्रुत का निम्न वचन महत्त्वपूर्ण है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थना ५१/४४

—जिसके (वात-पित्त-कफ) तीनो दोष सम हों, जिसकी जठराग्नि (पाचन-क्रिया) सम हो, जिसकी धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) की क्रिया सम (क्षय-वृद्धि से रहित) हो, जिसकी मलो (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रिया सम हो, जिसकी आत्मा, दशो इन्द्रिया (पांच ज्ञानेन्द्रियां-पांच कर्मेन्द्रियां) और मन प्रसन्न (निर्मल-अविकारी) हो वह स्वस्थ कहलाता है।

यहां पर सामान्यतः स्वस्थ पुरुष की जो परिभाषा दी गई है वह अपने आप में पूर्ण, सार्थक और सर्वथा व्यवहारिक है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर की सभी प्रकार की स्थिति में दोष-धातु-मल ही मूल कारण हैं। जब ये तीनो सम अवस्था मे होते हैं तो शरीर का सन्तुलन बना रहता है और शरीर मे कोई रोग या विकार उत्पन्न नहीं हो पाता। सम अवस्था में ये तीनों शरीर को धारण करते हैं। किन्तु जब दोष-धातु-मल इनमे से किसी में विषमता आ जाती है अर्थात् किसी भी दोष की वृद्धि या क्षीणता होती है, किसी भी धातु की वृद्धि या क्षीणता होती है अथवा किसी भी मल की वृद्धि या क्षीणता होती है तो इस विषमता के कारण शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है और शरीर में रोग या विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—

"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।" इसी प्रकार "विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।"

इसी आधार पर स्वस्थ पुरुष की उपर्युक्त व्याख्या मे दोषों की समावस्था, धातुओं की समावस्था तथा मलो की समावस्था बतलाई गई है। इनमे भी दोषों की समावस्था विशेष महत्वपूर्ण है। क्योकि जब दोषो मे वैषम्य होता है तब वे ही विकृत हुए दोष दूष्य याने धातुओ मे विषमता उत्पन्न करते है। धातुएँ अपने आप दूषित नही होती अपितु दोषो के द्वारा दूषित किए जाने पर दूषित या विषम होती हैं। इसीलिए उन्हे दूष्य कहा जाता है। हमारे द्वारा जो कुछ भी आहार ग्रहण किया जाता है उसका पाचन होने के बाद वह सीधा दोषो को प्रभावित करता है। अत जब मिथ्या आहार विहार किया जाता है तो उसके परिणाम स्वरूप दोष वैषम्य (क्षय या वृद्धि) होता है और दोष वैषम्य के कारण दूष्य वैषम्य होता है, जिससे विकारोत्पत्ति होती है। इसके विपरीत हिताहार विहार दोषो की समस्थिति बनाए रखने मे सहायक होता है। इस प्रकार आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति के लिए दोषो की साम्यावस्था अत्यन्त आवश्यक है।

स्वास्थ्य या स्वस्थ पुरुष की उपर्युक्त परिभाषा आयुर्वेद की दृष्टि से समीचीन मानी गई है। इस परिभाषा की सुविस्तृत व्याख्या महर्षि कश्यप ने अपने ग्रथ मे निम्न प्रकार से की है—

अन्नाभिलाषो भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च।
सृष्टविण्मूत्रवातत्वं शरीरस्य च लाघवम्॥
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुखस्वप्नप्रबोधनम्।
बलवर्णायुषां लाभः सौमनस्यं समाग्निता॥
विद्यादारोग्यलिंगानि विपरीते विपर्ययम्।

—काश्यप संहिता, खिलस्थान

अर्थात् जिस मनुष्य को यथा समय भोजन की अभिलाषा होती (भूख लगती) हो, खाए हुए आहार का परिपाक सुख पूर्वक हो जाता हो, पुरीष, मूत्र और वायु का विसर्जन यथोचित रूप से होता हो, शरीर में लघुता का अनुभव होता हो, इन्द्रियां अविकृत या निर्मल रूप से अपना कार्य करती हो, सुख पूर्वक जिसे निद्रा आती हो और सुख पूर्वक प्रबोध होता हो, शरीर में समुचित प्रमाण मे बलाधान हो, स्वच्छ वर्ण की प्राप्ति हो, पर्याप्त आयु का लाभ हो, मन सुप्रसन्न हो, जाठराग्नि के द्वारा पाचन क्रिया समुचित रूप से होती हो, इन सभी को आरोग्य के लक्षण जानना चाहिए। इनके विपरीत लक्षण होने पर विपरीत स्थिति याने अनारोग्य या अस्वस्थता होती है।

बल, आयु और आरोग्य की दृष्टि से मानव की स्थिति जठराग्नि और शुक्र धातु पर अधिक अवलम्बित है। क्योंकि हमारे द्वारा प्रतिदिन आहार में जो कुछ भी खाद्य पदार्थ ग्रहण किया जाता है उसका परिपाक मूलतः जाठराग्नि के द्वारा ही होता है। जाठराग्नि के द्वारा परिपक्व अन्न दो भागों में विभक्त होता है-सार भाग और किट्ट भाग सार भाग 'रस' कहलाता है और किट्ट भाग 'मल' कहलाता है। सार भाग शरीर के पोषण एवं बल वृद्धि के लिए आंत्र द्वारा आचूषित होकर शरीर मे ही स्थित रहता है और मल भाग स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि के रूप में शरीर के बाहर निकाल दिया जाता है। सार भाग 'रस' कहलाता है जिसके द्वारा रक्तादि उत्तरोत्तर शुक्र पर्यन्त धातुओं का पोषण होता है और अन्त मे 'बल' का निर्माण होता है। इसीलिए आयुर्वेद शास्त्र मे 'बल' का मूल अग्नि बतलाया गया है। शुक्र शरीर की अन्तिम व उत्कृष्टतम धातु है और उस पर बहुत कुछ जीवन आधारित रहता है। अतः मनुष्य को यथाशक्य इन दोनो की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

अग्निमूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवितम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन रेतो रक्ष्यं च जीवितम् ॥

अर्थात् मनुष्यो का बल अग्नि पर आधारित और जीवन शुक्र पर आधारित है। अत सभी प्रयत्नो के द्वारा शुक्र और जीवन की रक्षा करना चाहिए।

योगशास्त्र में भी शुक्र और मन को जीवनाधार बतलाते हुए प्रयत्न पूर्वक उसकी रक्षा का निर्देश दिया गया है—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् शुक्र की स्थिरता मन के अधीन और मनुष्य जीवन की स्थिरता शुक्र के अधीन होती है। अतः प्रयत्न पूर्वक शुक्र और मन की रक्षा करना चाहिए। मन की रक्षा करने का अभिप्राय यहां मन को वश मे रखने से है।

शुक्र की एक बूंद भी मानव शरीर के लिए कितनी महत्वपूर्ण है? यह बात निम्न उद्धरण के द्वारा भली भांति ज्ञात हो सकती है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥

अर्थात् शुक्र के (अत्यधिक) स्खलन से मरण और उसके धारण से जीवन होता है। अतः जब तक शरीर में वीर्य स्थिर है तब तक मृत्यु का भय कहाँ?

इस प्रकार शरीर को दृढ़, स्थिर, शक्ति सम्पन्न, रोग रहित, एवं स्वस्थ रखने के लिए शरीरगत समस्त धातुओ और समस्त धातुओं में विशेषतः शुक्र की रक्षा करना आवश्यक है। शुक्र की रक्षा ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही हो सकती

हैं । ब्रह्मचर्य का पालन दो प्रकार से किया जा सकता है—१. एक देश पालन अर्थात् नियम पूर्वक काम सेवन और २—पूर्णत: पालन अर्थात् काम सेवन का पूर्ण परित्याग । योग-साधना मे प्रवृत्त होने वाले मनुष्य को प्रथमत: ब्रह्मचर्य का एक देश पालन और उसके बाद पूर्णत: पालन करना चाहिए ।

शरीर को स्वस्थ एव निरोग रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य का आहार-विहार सम्यक् हो । रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर वह अभक्ष्य भक्षण मे प्रवृत्त न हो । मिथ्या आहार विहार से अपने शरीर की रक्षा करता हुआ शुद्ध, सात्विक वृत्ति पूर्वक परिमित रूप मे ही वह विषयो के सेवन मे प्रवृत्त हो । इस विषय मे महर्षि चरक का निम्न वचन सर्वथा अनुकरणीय है—

नित्य हिताहारविहारसेवी,
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त ।
दाता सम सत्यपर क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोग: ।।

अर्थात् सदैव हितकर आहार और विहार का सेवन करने वाला, हिताहित विवेक पूर्वक कार्यों को करने वाला, विषयो के सेवन में आसक्ति नही रखने वाला, दान मे तत्पर (अपरिग्रही), सम मनोवृत्ति रखने वाला, सत्य भाषण के प्रति निष्ठा-वान्, क्षमावान् आत्म पुरुषो की सेवा करने वाला (वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध-अनुभवी मनुष्यो के आदेशानुसार आचरण करने वाला) मनुष्य निरोग,(स्वस्थ) रहता है ।

विभिन्न रोगो से शरीर की रक्षा करने के लिए, चिरकाल तक शरीर को स्वस्थ निरोग एव आयुष्मान् बनाने के लिए महर्षि चरक ने जहाँ शरीर के लिए आहार विहार सम्बन्धी नियन्त्रण का निर्देश किया है वहा मनो व्यापार को भी स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी बतलाते हुए उसकी चञ्चल वृत्ति के निग्रह का भी निर्देश किया है । बुद्धि की निर्मलता और वाणी की शुचिता (प्रियता) भी शारीरिक व मान-सिक स्वास्थ्य रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है । अत: इनका नियम पूर्वक अनुशीलन करने वाला व्यक्ति ही पूर्ण स्वस्थ कहलाने का अधिकारी है । जिस मनुष्य के शरीर पर रोगो का आक्रमण नहीं होता वही मनुष्य स्वस्थ कहलाता है । वही भाव महर्षि चरक ने भी निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

मतिर्वच कर्मसुखानुबन्ध,
सत्व विधेय विशदा च बुद्धि: ।
ज्ञान तपस्तत्परता च योगे,
यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगा ।।

अर्थात् जिसकी बुद्धि, वाणी और कर्म ये तीनो सुखानुबन्धी अर्थात् स्वास्थ्य के अनुकूल अनुबंध बनाये रखने वाले होते हैं, मन स्वायत्त होता है, बुद्धि निर्मल होती है, जो ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहता है, तपश्चरण में सलग्न होता है, योग साधना में तत्परता होती है (ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ और योगानिष्ठ होता है) उस पर रोगों का आक्रमण नहीं होता ।

योग द्वारा स्वास्थ्य साधन

योग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास, बौद्धिक विकास तथा मानसिक विकास के साथ शारीरिक विकास और स्वास्थ्य का साधन भी होता है। "शरीरं व्याधिमन्दिरम्" इस आर्ष वचन के अनुसार अत्यधिक सावधान रहने पर भी शरीर को कोई न कोई रोग आक्रान्त कर ही लेता है। अतः यह मानव शरीर व्याधियों का केन्द्र है। रोगों से बचाते हुए शरीर की रक्षा और आरोग्य की सतत स्थिति बनाए रखना कठिन होता है। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन के लिए आधारभूत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाय। इस विषय मे यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि धर्म और मोक्ष साधन के लिए योगीजन विभिन्न यौगिक क्रियाओ के द्वारा योगाभ्यास करते हैं और उससे अभीष्ट प्राप्ति मे सफल होते हैं। समस्त यौगिक क्रियाए शरीर के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। शरीर के रोगग्रस्त होने पर धर्म साधन होना सम्भव नही है। यौगिक क्रियाओ की यह विशेषता है कि वे जहां आध्यात्मिक विकास और श्रेयस्कारी पथ का निर्देश करती हैं वहा शरीर को निरोग बनाने में भी समर्थ होती हैं। यौगिक क्रियाए शरीर की समस्त क्रियाओ को नियन्त्रित व प्रभावित करती हैं, अतः शरीर के स्वास्थ्य पर इसका अनुकूल प्रभाव पडता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ व निरोग रहता है।

अष्टांग योग के अन्तर्गत जहां यम-नियम के द्वारा मुख्यतः मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण होकर मनोविकारों का निरोध होता है, वहा आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर में रोगोपशमन होकर शरीर पूर्ण निरोग बनकर पूर्ण स्वस्थ बना रहता है। प्रायः सभी आसन शरीर के बाह्य अवयवों के द्वारा किए जाते हैं जिनमे शरीर का छोटे से छोटा भाग भी सक्रिय होता है। ये आसन शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों को भी पूर्णतः प्रभावित करते हैं जिससे उनकी सभी प्रकार की क्रियाए अविकृत एवं निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। शरीर में तीनों दोषों की स्थिति सम होती है, धातु

और मलों की क्रियाए भी सम होती हैं—यही स्वास्थ्य का आधार है। इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा शरीर का आरोग्य असंदिग्ध है।

योग साधना करने वाले योगीजन अपने आहार-विहार पर विशेष ध्यान देते हैं। इसके बिना योग की सफलता और निर्वाह संदिग्ध है। योगाभ्यासी को हितकारी और परिमित आहार करने का निर्देश शास्त्रो मे दिया गया है। यदि इसका पालन नही किया जाता है और घी-तेल आदि मे तली—भुनीं हुई वस्तुएं, चाट, पकौडो, मिठाईया, कच्चे—सडे गले फल आदि का निरन्तर सेवन किया जाता है तो उसकी जाठराग्नि मन्द और विकृत होकर अनेक रोगो को उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त जाठराग्नि की विकृति से उसके शरीर मे रसादि धातुओं का निर्माण भी समुचित रूप से नहीं हो पाता। इसका पर्याप्त प्रभाव भी योगाभ्यासी के स्वास्थ्य पर पड़ता है। ऐसी स्थिति मे उसकी समस्त यौगिक क्रियाए निष्फल प्रतीत होती हैं। अत मिथ्या आहार विहार का त्याग करना योगाभ्यासी का प्रथम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार उर्वरा मिट्टी मे ही बीज का अंकुरित होना सम्भव है उसी प्रकार सम्यक् आहार विहार के द्वारा स्वस्थ शरीर मे ही यौगिक क्रियाओ या योगाभ्यास की सफलता निर्भर करती है।

आयुर्वेद के मनीषियो के कथनानुसार सभी प्रकार के रोगों का मूल कारण मिथ्या आहार विहार है। मिथ्या आहार विहार शरीर के लिए असात्म्य होता है और उसका प्रतिकूल प्रभाव हमारे शरीर और स्वास्थ्य पर पड़ता है। प्रारम्भ मे जब मनुष्य मिथ्या आहार विहार का सेवन करता है तो कई बार उसे कुछ भी असामान्य या विकार का अनुभव नही होता, किन्तु निरन्तर उस अनुपयुक्त खान-पान या असात्म्य रहन-सहन के अभ्यास से शरीर मे विकार की जड़ें जब गहरी जम जाती हैं तो अनेक उपाय करने पर भी उस विकार का उन्मूलन नही हो पाता और वह विकार गम्भीर रूप धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति मे शरीर को असाधारण कष्ट भोगना पड़ता है और शरीर के साथ ही मन को भी उन दुःखो का अनुभव करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेक दुःखो का मूल उसके शरीर मे होने वाले विभिन्न विकार हैं। जो आहार विहार की असावधानी या प्रज्ञापराध से उत्पन्न होते हैं। विकार ग्रस्त या रोग पीड़ित मानव शरीर सामान्य लौकिक (सांसारिक) सुखों का उपयोग भी नहीं कर सकता।

यद्यपि आहार हमारे जीवन, शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य रक्षा का अभिन्न अंग है और शरीर के पोषण, अभिवृद्धि एवं अहर्निश संचालन के लिए हितकर आहार का महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि आहार के विषय मे पूर्ण जागरूकता और आहार सम्बन्धी

हिताहित विवेक नितान्त अपेक्षित है। योगाभ्यास में तत्पर योगीजनों के अतिरिक्त आम लोगों को भी आहार संयम पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सामान्यत. भूख लगने पर ही भोजन करना और दिन मे दो बार से अधिक भोजन नहीं करना, नियमित, संयमित और विधिवत् आहार लेना स्वस्थ जीवन निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक है।

योगाभ्यास या यौगिक क्रियाओं-आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा सामान्यत: निम्न लाभ शरीर को प्राप्त होते हैं—

१. षट् कर्म के द्वारा विजातीय द्रव्य (मल-मूत्रादि) का निष्कासन, शोधन और शमन होकर अन्दर-बाहर से शरीर पूर्णतः शुद्ध हो जाता है और शरीर निर्विकार (प्रकृतिस्थ) होकर अपनी सम्पूर्ण अन्त' बाह्य क्रियाओ को सम्पन्न करता है।

२. यौगिक सूक्ष्म व्यायामों से शरीर स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल, हृष्ट पुष्ट और शक्तिशाली बनता है।

३. यौगिक स्थूल व्यायामो से शरीर की मांस पेशिया स्वस्थ और सुगठित बनती हैं तथा सम्पूर्ण शरीर की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

४. यौगिक आसनो के द्वारा शरीर स्वस्थ रहता है। जीवन आरोग्यमय बनता है, और चित्त मे प्रसन्नता रहती है। शरीर मे विकारोपशन, लाघव की अनुभूति तथा कर्म सामर्थ्य की वृद्धि होती है। इसके साथ ही शारीरिक शक्तियो का विकास होता है और उनमे स्थिरता आती है।

५. प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप सूक्ष्म यौगिक साधनाएं मनुष्य को लौकिक सुख से वियुक्त कर ब्राह्मी स्थिति का अद्‌भुत आनन्द प्राप्त कराती हैं। इन साधनाओ से भौतिक स्वास्थ्य का यद्यपि प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि शरीर के माध्यम से सम्पन्न होने के कारण ये यौगिक क्रियाएँ शरीर के स्वास्थ्य को निश्चित रूप से अनुकूल रूप में प्रभावित करती हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास चाहे किसी भी दृष्टि से किया जाय वह अनुकूल रूपेण शरीर और शरीर के स्वास्थ्य को अवश्य ही प्रभावित करता है। यौगिक क्रियाओ से जहां शरीर स्वस्थ बनाता है वहां अनेक प्रकार के विकरों का निराकरण भी होता है। यह बात दूसरी है कि योगीजनों का चरम लक्ष्य परमात्मा-साक्षात्कार पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु शरीर साधन और आरोग्य की रक्षा रूपी फल अनायास ही उन्हें प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ जीवन यापन करते हुए शरीर के आरोग्य का ध्यान रखने वाले लोगों को उनके सर्वांगीण विकास के लिए योगाभ्यास अवश्य करना चाहिए। यह एक ऐसा अमोघ साधन है जिससे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से शरीर में

समस्थिति का निर्माण होता है। अनेक यौगिक क्रियाए सीधे जाठराग्नि को प्रभावित कर उसे सक्षम बनाती हैं। इसी प्रकार अनेक क्रियाएं शरीरगत रक्त संचार को प्रभावित कर रक्त सचार के प्रमुख केन्द्र हृदय को स्वस्थ रखने में सहायक होती हैं हृदय की स्वस्थता और रक्त सचार की प्राकृतिक स्थिति बहुत कुछ अशो मे मानसिक तनाव को कम करने मे सहायक होती है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य की नीव सुदृढ़ होती है।

योगशास्त्र मे इस प्रकार के शारीरिक एव मानसिक विकार जनित दुखोसे मुक्ति के उपाय भी निर्देशित किए गए हैं, जिससे मनुष्य विकार रहित होकर यथेष्ट सुखायु का उपभोग करता हुआ अपने पारलौकिक जीवन को भी श्रेयस्कारी बना सके। यम-नियम के द्वारा मनुष्य के आचरण की शुद्धता को ही लक्ष्य बनाया गया है। अर्थात् योग के आठ अगो मे प्रथम दो अ ग यम और नियम हैं। ये दोनो ही अग या इन दोनों अंगो का परिपालन मनुष्य के आचरण को शुद्ध बनाता हुआ उसके मन मे सात्विक भाव को उत्पन्न करता है। सात्विक भाव का उद्भव मन के सत्व गुणोत्कर्ष से होता है। सत्व गुणोत्कर्ष या सात्विक भाव का उद्भव प्रत्यक्षत: मनो विकारो के उपशमन का द्योतक है, किन्तु इसका पर्याप्त प्रभाव उसके शरीर पर भी पड़ता है। सत्व गुण शरीर के उत्तम स्वास्थ्य एव तेजस्विता के लिए महत्वपूर्ण है।

बिभिन्न विकारो के उपशमन, शरीर के स्वस्थ्य-साधन एव स्वास्थ्य की रक्षा के लिए योगासनो एव प्रणायाम का विशेष महत्व है। प्रत्येक योगासन किसी न किसी प्रकार से शरीर के बाह्य एव आभ्यन्तरिक अवयवो को अवश्य प्रभावित करता है। जिन अवयवो की प्रक्रिया मे कोई विकृति होती है वह सम्बन्धित योगासन के निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाती है और वह अवयव प्रकृतिस्थ होकर अपनी प्राकृत क्रिया का सम्पादन करता है। इससे उस अवयव से सम्बन्धित रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उदाहरणार्थ योगासन के अभ्यास से मनुष्य को निम्न लाभ होते हैं—

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम्।
जागर्ति भुजंगी देवी साधनात् भुजगासनम्॥

अर्थात् भुजगासन का साधन (निरन्तर अभ्यास) करने से शरीर की अग्नि (जठराग्नि) की वृद्धि होती है, सर्वरोगो का नाश होता है और भुजगी देवी (कुण्डलिनी) जाग्रत होती है।

इसी प्रकार एक अन्य आसन का अभ्यास करने से प्लीहा, गुल्म ज्वर, कुष्ठ और कफ-पित्त का विनाश होता है तथा मनुष्य को दिन प्रति दिन आरोग्य, बल और पुष्टि की प्राप्ति होती है। जैसे—

प्लीहागुल्मज्वरं कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने॥

योगशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरणों को जब वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जाँचा गया तो यह पाया गया कि विभिन्न आसनो एव प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर के भार में कमी आती है, रक्त मे कोलेस्ट्राल तथा शर्करा की मात्रा कम हो जाती है इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि शरीर मे स्थित कुछ अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रिया शीलता आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाती है, विशेषतः थायराइड एवं एड्रिनल ग्रंथियाँ अधिक सक्रिय हो जाती है। इसके अतिरिक्त योगाभ्यास करने वाले व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि उनमें मानसिक तनाव कम हो जाता है और उनकी मानसिक थकान की गति धीमी या मन्द हो जाती है। इस प्रकार केवल आसनों एव प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर एवं मानस मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं जो शरीर एव मन मे अभूतपूर्व स्थिति उत्पन्न कर आश्चर्य चकित कर देते हैं। वे परिवर्तन न केवल शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के स्तर को उन्नत बनाते है, अपितु शरीर मे रोग प्रतिरोध क्षमता की वृद्धि कर विभिन्न रोगो और मानसिक तनावजन्य विकारो के होने की सम्भावना को कम कर देते हैं।

व्यक्तित्व, बुद्धि और मन का विकास

योग मानव शरीर के लिए एक ऐसी अद्वितीय प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध मानव शरीर के समस्त अंगो, अन्तः कारण और आत्मा से है। योगाभ्यास के द्वारा शरीरावयवों की क्रिया को नियन्त्रित करने और उससे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करने की दिशा मे अनेक योगीजन सफल हुए है। अतः इससे यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि जो लोग योगाभ्यास या योग साधना के द्वारा अपने आध्यात्मिक विकास मे रुचि नही लेना चाहते और जो केवल शारीरिक व मानसिक विकास को ही विशेष महत्व देते हैं उनके लिए भी 'योग' हितावह और उपयोगी है। योग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होती है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ अपनी आदतो और स्वभाव में भी अपेक्षित परिवर्तन कर सकता है। जब मनुष्य हिताहार विहार पूर्वक यौगिक क्रियाओं को करता है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसके शरीर के समस्त आभ्यन्तरिक और बाह्य अवयवों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर की प्रत्येक कोशिका भी यौगिक क्रियाओं से प्रभावित हुए बिना नही रहती। इन्हीं कोशिकाओं (सेलों) से शरीरावयवों का निर्माण होता है और ये ही अणु कोशिकाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। यौगिक क्रियाओं से इन अणुओं में शनैः शनैः ऐसी विकास पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जो मनुष्य के शरीर और शरीर के समस्त अन्तः बाह्य अवयवों को नियन्त्रित करते हुए शरीर का विकास करती है। शारीरिक विकास और अवयवों की नियन्त्रित स्थिति निश्चय ही व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी है।

इसी प्रकार यौगिक क्रियाओं से मनुष्य के बौद्धिक विकास मे भी पर्याप्त सहयता मिलती है। मानव मस्तिष्क के अन्तर्गत धी-धृति-स्मृति का समन्वय मनुष्य के बौद्धिक स्तर का निर्माण करता है। अत यह बतलाना आवश्यक नही है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास मे इन तीनो का ही महत्वपूर्ण योग रहता है। 'धी' शब्द बुद्धि का पर्यायवाची है और बुद्धि का लक्षण बतलाया गया है—"निश्चयात्मिका बुद्धि ।" अर्थात् जिसके द्वारा निश्चय किया जाता है वह बुद्धि कहलाती है। उसे ही 'धी' भी कहते हैं। धृति का लक्षण है—"धृतिर्हि नियमात्मिका ।" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन का नियमन-नियन्त्रण करने वाली शक्ति या भाव विशेष को 'धृति' कहा जाता है। 'स्मरण स्मृति' के अनुसार पूर्व मे घटित बातो या घटनाओ का पुन व्यक्ति भाव (व्यक्त होना) 'स्मरण' कहलाता है। इसे ही 'स्मृति' कहते हैं। इस प्रकार ये तीनो भाव शिरोऽन्तर्गत मस्तिष्क में स्थित रहते हैं और वही से अपनी क्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव इन तीनों भावो पर पडता है जिससे इनके विकास मे सहायता मिलती है। जिस प्रकार पत्थर पर घिसने से चाकू या अन्य शस्त्र तीक्ष्ण धार युक्त होता है उसी प्रकार यौगिक क्रियाए इन तीनो भावो को तीक्षणधार युक्त बनाती हैं जिससे इनकी विषयाभिव्यञ्जक सामर्थ्य मे वृद्धि होती है। विषय प्रवणता, हित विषयो मे प्रवृत्ति, बुद्धि की कुशाग्रता, निग्रह सामर्थ्य आदि कुछ भाव ऐसे हैं जो मनुष्य के बौद्धिक विकास के द्योतक हैं। अतः यह निर्विवद है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास मे यौगिक क्रियाओ का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

योगाभ्यास करने वाले कतिपय युवको पर किए परीक्षणो से ज्ञात हुआ है कि ध्यानाभ्यासी युवको के रक्त मे एक ओर तो कार्टिसाल मे कमी हुई और साथ साथ मूत्र मे नाईट्रोजन के बहिर्गम की गति मे मन्दता आई। दूसरी ओर रक्त मे विभिन्न प्रकार के संज्ञावह ह्यूमर्स तथा एञ्जाइम्स की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति एक ओर तो शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त शान्त रहता है और उसकी शारीरिक क्रियाए मन्द पड जाती हैं और दूसरी ओर मानसिक दृष्टि से वह अधिक क्रियाशील हो जाता है। अत उसका मानसिक दृष्टि से विकास होना स्वाभाविक है।

योगसाधना के द्वारा मन का परिष्कार भी होता है। मानस व्यापार के अन्तर्गत क्रोध-मान-माया-लोभ-भय-जुगुप्सा आदि भाव मनोविकार कहलाते हैं। इनके आधार पर मन के द्वारा जो क्रियाएँ सम्पादित होती है वह सब मानस व्यापार है। उपर्युक्त क्रोध आदि भावों को ही 'चित्तवृत्ति' की संज्ञा दी गई है। योग इन्हीं चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु निर्देश करता है और योग से मन का निग्रह भी किया जाता है। यह सब होना मन का परिष्कार कहलाता है। मन का परिष्कार होने पर

उसकी उन अन्तः प्रवृत्तियों का विकास होता है जो आध्यात्मिक विकास में सहायक होती है। चित्तवृत्ति निरोध या मनः परिष्कार होने पर चित्त बिल्कुल निर्मल एवं शान्त हो जाता है, उसमें चञ्चलता, व्याकुलता या विकार नहीं होता। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मानसिक धरातल इतना उन्नत और विकसित हो जाता है कि वह सांसारिक क्षुद्र विषयों से सर्वथा विमुख होकर स्वात्मानुभव में लीन होने के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहता है। यही है योग साधना के द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास।

यह आवश्यक नही है कि मनुष्य अपने मानसिक विकास के लिए गृह त्याग कर सन्यासी बन जाय। गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुए भी मनुष्य योगाभ्यास के द्वारा अपना मानसिक विकास कर सकता है। जिस प्रकार मनुष्य गृहस्थ जीवन मे रहते हुए अपने व्यक्तित्व के विकास और बौद्धिक विकास के द्वारा अपने जीवन को सफल बनाता है उसी प्रकार उसके मानसिक विकास के द्वारा भी जीवन की अनेक बाधाएं दूर हो जाती हैं। वह सभी चिन्ताओ से मुक्त होकर सरल, सात्विक और सुखी जीवन का अधिकारी बन जाता है। मनुष्य का मानसिक विकास उसे सात्विक जीवन की प्रेरणा देता है, जिससे वह सासारिक छल प्रपञ्चो से दूर रहकर जीवन के वास्तविक आनन्द का उपभोग कर सकता है। समस्त यौगिक क्रियाए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मन और उसकी समस्त प्रवृत्तियो को प्रभावित करती हैं, जिससे उसके चिन्तन, मनन, अध्ययन, विचार, ऊहा, ध्यान, सकल्प आदि मनोभावो मे शुद्धता आती है और मनोभावो की यह शुद्धता उसके आचरण को भी शुद्ध बनाती है। योगशास्त्र मे आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है, क्योकि आचरण की शुद्धता ही मनुष्य की सात्विक वृत्ति का मूल आधार है।

मानसिक विकास जहाँ मनुष्य के सात्विक और सुखी जीवन निर्वाह में सहायक है, वहाँ वह वैराग्य मार्ग के द्वारा उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। मानसिक विकास मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है। आध्यात्मिक विकास मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बनाता है और उसी मे वह अभूतपूर्व अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। योगशास्त्र मे चित्तवृत्ति के निरोध के लिए दो उपाय बतलाए गए हैं—अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यास को गृहस्थाश्रम मे रहते हुए किया जा सकता है, किन्तु वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियो का निरोध तब ही होता है जब समस्त परिग्रहों से रहित होकर मनुष्य एकान्त साधना में लीन हो जाता है। वैराग्य मनुष्य की एक ऐसी संसारविमुख स्थिति है जिसमें वह समस्त सांसारिक विषयो के प्रति अपने

मोह और ममत्व का परित्याग कर देता है । जो भी हो अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनुष्य का समस्त मनो व्यापार नियन्त्रित होकर उसकी स्थिति सत्व प्रधान हो जाती है जो मानसिक विकास की परिचायक है ।

योग वस्तुत हमारी सम्पूर्ण बिखरी हुई शक्तियो का एकीकरण है जो निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है । जब हमारी सम्पूर्ण अन्त' और बाह्य शक्तिया एक हो जाती हैं तो हम अपने व्यक्तित्व के विकास, शारीरिक विकास, मानसिक विकास या बौद्धिक विकास किसी भी रूप मे उसका उपयोग कर सकते हैं । यदि एक विद्यार्थी उन एकीकृत शक्तियो का उपयोग अपनी विद्या अर्जन हेतु करता है तो वह एक प्रबुद्ध और कुशाग्र बुद्धि वाला अच्छा विद्यार्थी बन सकता है । इसी प्रकार एक खिलाडी यदि अपनी एकीकृत शक्तियो का उपयोग करता है तो निश्चय ही उसकी खेल कला मे निखार आकर वह एक श्रेष्ठ खिलाडी बनकर अपनी प्रतिभा का परिचय दे सकता है । एकीकृत शक्तियो के उपयोग से एक शासक अच्छा और कुशल प्रशासक बन सकता है और अपनी प्रशासन क्षमता का परिचय दे सकता है । एक साधारण मनुष्य भी अपनी शक्तियो के एकीकरण से व्यक्तिगत रूप से अपना शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास कर अद्भुत रूप से अपनी प्रतिभा की वृद्धि कर सकता है, वह अपने व्यावसायिक क्षेत्र मे दक्षता प्राप्त कर उन्नति के शिखर पर पहुच सकता है । अत प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विकास के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक स्थिति मे योग की परम आवश्यकता है ।

भारत की महान विभूतिया सदैव योग की उत्कृष्ट शक्ति से अनुप्राणित रही है । यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि ससार के महान वैज्ञानिक, उच्चकोटि के शास्त्रवेत्ता, कुशल राजनेता तथा अन्य प्रतिभाए जिन्होने अपने कार्यकलापो से विश्व को चमत्कृत किया है, वे सभी किसी न किसी रूप मे योगी रहे हैं । भारत मे विदेह के नाम से विख्यात महाराज जनक के योग से कौन परिचित नही है जिनके पास योग विद्या के अध्ययन के लिए ससार भर के योगियो का हर समय जमघट लगा रहता था । योग विद्या मे निपुण भगवान श्रीकृष्ण के कौशल व ज्ञान युक्त विलक्षण प्रतिभा से कौन परिचित नही है जिन्होने युद्धक्षेत्र मे शिथिल और उदासीन हुए अर्जुन को अद्भुत प्रेरणा देकर अपने कर्म क्षेत्र के प्रति और कर्तव्य की ओर अग्रसर किया । योग के द्वारा अपनी समस्त शक्तियो को एकत्रित कर अपना सर्वाङ्गीण विकास करने वाले स्वामी रामतीर्थ की अद्भुत क्षमता से कौन परिचित नहीं है ? जिन्होंने अमेरिका मे लगातार एक सप्ताह तक 'शून्य' पर बोलते हुए अपनी अपूर्व प्रतिभा से सबको चकित

कर दिया था। गणित की एक कठिन समस्या का घोर प्रयत्न करने पर भी जब वे कोई समुचित समाधान नही निकाल सके तो अपनी समस्त शक्तियो का एकीकरण करके उन्होने संकल्प किया कि उन्हे प्रात काल तक अवश्य ही उसका समाधान खोज निकालना है, अन्यथा वे आत्मघात कर लेंगे और यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि प्रात कालीन अरुणिमा म उन्होने समस्या के समाधान के दर्शन किए।

कतिपय योग विशारदो का अनुभव है कि मनुष्य के व्यक्तित्व एव सर्वांगीण विकास के लिए मानव शरीर मे स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना आवश्यक है, क्योकि भारतीय योग शास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी मानव शरीर के अन्दर स्थित वह दिव्य शक्ति है जिसके जागरण से शरीर में प्रतिभा एव ऊर्जा का अद्भुत विकास हो सकता है। कश्मीर के ७२ वर्षीय योगी श्री गोपीकृष्ण ३४ वर्ष की आयु मे किसी गुरू की सहायता के बिना अपनी कुण्डलिनी को जागृत करने मे सफल हुए थे, इसके बाद उनकी प्रतिभा का अद्भुत रूप से विकास हुआ। इस प्रकार ऐसे अनेक उदाहरण आज हमारे सामने मौजूद हैं जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यौगिक क्रियाओ का मानव जीवन मे विशेष महत्व है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उन्हें सही रूप से समझकर विधिवत् उनका सतत अभ्यास किया जाय।

योग परम्परा, भेद एवं अष्टांग

हमारी सस्कृति, सभ्यता ज्ञान तथा अन्यान्य विद्याओ का स्रोत वेद माने जाते हैं। वेद हमारी समस्त विद्याओ के उद्गम भूत प्राचीनतम ग्रथ है। वे ईश्वरकृत होने से अपौरुषेय एवं ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण है। योग विद्या के बीज भी वेद मे विद्यमान हैं, अत योग परम्परा का आदि स्रोत वेद हैं। आदि काल से ही ऋषि-महर्षिगण योग विद्या के ज्ञान एव अभ्यास से परमात्मा साक्षात्कार करते हुए आत्म कल्याण एव मोक्ष प्राप्ति करते रहे। अत. यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नही होगा कि योग परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन सृष्टि और उसका विकासक्रम है। योग शब्द का प्रयोग वैदिक ऋचाओ, शतपथ ब्राह्मण एव उपनिषदो मे प्रभूत रूपेण हुआ है। महा भारत के मोक्षधर्म प्रकरण मे साख्य योग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

ज्ञान या विद्या की परम्परा एव विकासक्रम मे यह एक महत्व पूर्ण तथ्य है कि जिस विद्या के बीज वेद की अथाह राशि मे विद्यमान हैं वे परवर्ती ग्रंथो विशेषत. उपनिषदो मे पर्याप्त रूपेण विकास को प्राप्त हुए है। अत. अनेक बार यह भ्रम होने लगता है कि अमुक विद्या या ज्ञान का मूल उद्गम उपनिषद् हैं। योग विद्या के विषय मे भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। उपनिषदो मे योग विद्या का जितना विस्तार हुआ है उससे योग के मूल स्रोत के रूप मे उपनिषद् ही माने जाते है। यद्यपि औपनिषद् परम्परा मे एक सौ आठ उपनिषदो का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान मे उपलब्ध जानकारी के अनुसार दो सौ से भी अधिक उपनिषदो के विषय मे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो चुकी है। यहाँ इस विवाद मे न उलझते हुए मात्र इतना ही कहना है कि अक्षय ज्ञान के भण्डार उपनिषदो मे व्यापक रूप से योग की विवेचना की गई है। मुख्य रूप से ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण एव नादबिन्दु, शुक्लयजुर्वेद के बृहदारण्यक, हस, त्रिशिखि ब्राह्मण, मण्डल ब्राह्मण और अद्वयतारक, कृष्ण यजुर्वेद के कठ, तैत्तिरीय, कैवल्य, श्वेताश्वतर, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, क्षुरिका, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योग तत्व, योग शिक्षा, योग कुण्डलिनी और वराह, सामवेद के छान्दोग्य, मैत्रायणी

मैत्रेयी, योग चूडामणि और जाबाल दर्शन तथा अथर्ववेद के मुण्डक, शाण्डिल्य, पाशुपत ब्रह्म और महावाक्य उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण हैं जिनमे योग सम्बन्धी विचार एवं विवेचना व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की गई है जो वस्तुतः गम्भीर चिन्तन के परिणाम स्वरूप है। अन्य उपनिषदों मे भी प्रसङ्गोपात्त रूपेण योग विवेचन या कथन किया गया है।

उपनिषदो के पश्चात उत्तरवर्त्ती ग्रथो एव साहित्य मे कही न्यूनाधिक रूप मे और कही विस्तार पूर्वक योग का व्याख्यान किया गया है। उसी क्रम मे जब दर्शन शास्त्र का उद्भव हुआ और उसमे आत्मा तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का विवेचन किया गया तो योग के अश स्वत ही उसमे विस्तार पा गए। सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि योग विद्या एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे विकसित हुई और षड् दर्शनो मे एक प्रमुख दर्शन के रुप मे उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इसका सम्पूर्ण श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है जिन्होने योग विद्या को योगदर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उन्होने योग दर्शन के सिद्धान्तो को ऐसा स्वरूप प्रदान किया कि वे मात्र सिद्धान्त बन कर ही नहीं रह गए, अपितु क्रियात्मक रुप से मनुष्य जीवन के लिए सार्थक एव उपयोगी सिद्ध हुए। योग दर्शन मे अध्यात्म विद्या को मात्र तर्क एवं प्रमाण के घेरे मे सीमित नही किया गया, अपितु उसे सर्वजनोपयोगी बनाने के लिए व्यवहारिक क्रियात्मक रूप प्रदान किया गया जिससे वह मानव मात्र के निकटतम तो हो ही गया, वह उसके लिए अपरिहार्य बन गया। कुछ अन्य विद्वान जैसे याकोबी योग दर्शन को स्वतन्त्र विद्या मानते हैं। फ्राऊवालनर याकोबी की इस अवधारणा को षड्दर्शन पर आधारित मानकर इसे बहुत बाद की अवधारणा बतलाते हैं। स्वय फ्राऊवालनर सांख्य योग को एक ही दर्शन के दो रूप मानते है। उनमें से एक सैद्धान्तिक है तो दूसरा प्रायोगिक। उनके अनुसार योग एक दार्शनिक विद्या मात्र नहीं है, अपितु कैवल्य का एक ऐसा मार्ग है जो सर्व सुलभ एवं सर्वजनोपयोगी है। जिस प्रकार वृषगण सांख्य सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता हैं उसी प्रकार पतञ्जलि भी सांख्य के प्रायोगिक स्वरूप अर्थात् योग दर्शन के प्रमुख व्याख्याता हैं।

योग शास्त्र के सिद्धान्त अन्य दर्शनो की भाँति पारस्परिक विवाद या मतभेद के घेरे मे सीमित नही रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य शास्त्रो या दर्शनों ने भी अपनी आवश्यकतानुसार उन्हे अपनाया, विशेषतः अध्यात्म विद्या के प्रबल समर्थक एवं मोक्ष को चरम लक्ष्य मानने वाले दर्शनो ने। धर्म शास्त्र मे भी उन्हें अपेक्षित स्थान प्राप्त हुआ और धर्माचार्यों ने उन्हे अपने आचरण मे उतारते हुए जन सामान्य को उसका उपदेश देकर उन्हे जीवन मे उतारने एवं आचरण करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार योग के दार्शनिक सिद्धान्त नीरसता के दायरे से निकल कर जन सामान्य के

लिए सुरुचिपूर्ण, व्यवहार्य एवं सार्थक सिद्ध हुए। यह स्पष्ट है कि योग दर्शन मे सांख्य सिद्धान्तों या सांख्य तत्त्वो को अक्षरश स्वीकार नही किया गया है तथा सांख्येतर कुछ अन्य दर्शनो का प्रभाव भी योग दर्शन पर न्यूनाधिक रूप में रहा। जो स्पष्टत· लक्षित होता है।

जैन दर्शन एव जैन धर्म ने योग विद्या की अनेक विधियो को सस्कारित एव परिष्कृत कर आत्मसात कर स्वय को समृद्ध किया। अनेक विषयो मे जैनधर्म एवं योग विद्या मे पर्याप्त समानता है। यही कारण है कि जैन धर्म के सभी तीर्थंकर एव अन्य अनेक तपस्वी-साधु जन योग मुद्रा धारण कर योगी हुए। साधना मे शिथिलाचार को सर्वथा वर्जित करने की दृष्टि से उसने साधना एव ध्यान की पद्धति को और अधिक कठोर बनाया। जिससे कैवल्य का मार्ग प्रशस्त हुआ और तपस्वी कैवल्य प्राप्त करने मे सफल हुए। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन मे भी योग विद्या तथा योग की अन्यान्य विधियो को अङ्गीकार कर भिक्षु के आचरण के लिए उन्हे अनिवार्य बनाया गया। इसके अतिरिक्त जो भी अन्य साधु सन्यासी और तपस्वी हुए उन्होने किसी न किसी रूप मे योग विद्या की अन्यान्य विधियो का आचरण करते हुए उन्हे आत्मसात् किया और अपने लक्ष्य साधन मे लीन रहे। इस प्रकार योग विद्या और उसकी परम्परा का विस्तार प्रत्येक क्षेत्र मे हुआ। आज जबकि मनुष्य स्वय को अधिक अशान्त अनुभव कर रहा है, धर्म, जाति, देश आदि के सभी बन्धन तोड़कर वह योग की ओर उन्मुख है। प्राचीन काल मे योग मुख्यतः साधना का माध्यम रहा जिससे आत्मा का कालुष्य दूर होकर आत्मा मे निर्मलता आई। किन्तु आज योग के साधन मे पूर्व की भाति आध्यात्मिकता का उतना पुट नही है, अपितु उसे मात्र शारीरिक एव मानसिक स्वस्थ्य की रक्षा, तनाव से मुक्ति एव अन्य भौतिक उपलब्धियो तक सीमित कर दिया गया है। कही कही तो उसे प्रदर्शन के रूप मे भी अपनाया गया। योग की साधना आज वस्तुत. आत्म साधन या मोक्ष साधन के लिए उतनी नही की जाती है जितनी शारीरिक स्वास्थ्य एव बाह्य प्रदर्शन के लिए की जाती है। अतः काल प्रभाव से उसमे पर्याप्त परिवर्तन आ गया है।

यह स्पष्ट है औपनिषदीय काल मे योग का जो स्वरूप था वह उत्तरवर्ती दर्शन काल मे नही था। काल प्रभाव से उसमे परिवर्तन आया। इसी प्रकार आज योग का जो स्वरूप है वह प्राचीन काल से भिन्न है। आज का योग मात्र कतिपय आसनो तक तक ही सीमित रह गया है। एक पाश्चात्य विद्वान के मतानुसार अष्टाँग योग की विधि चित्त-वृत्ति निरोध से भिन्न है। उनकी अवधारणा है कि जब चित्तवृत्ति निरोध हो जाता है तो पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अष्टाग योग की विधि से विवेक उत्पन्न होता है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है—यही विवेक है, यही कैवल्य है। यह ज्ञान

की विधा है, जबकि चित्तवृत्ति निरोध ज्ञान की विधा नहीं है। वस्तुत: ये दोनों योग की भिन्न भिन्न विधाएँ है।

योग के भेद

उपनिषदों मे योग की चर्चा विस्तार पूर्वक की गई है। योग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि योग प्रतिपादक उपनिषदो में ध्यानयोग, अभ्यास योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, मन्त्र योग, लययोग, हठयोग एव राजयोग का निरूपण मिलता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् मे योग को मोक्षोपलब्धि का साधन बतलाते हुए उसे ज्ञानयोग एवं कर्मयोग भेद से द्विविध निरूपित किया गया है। यथा—

ज्ञानयोग कर्मयोग इति योगो द्विधा मत —त्रिशिखिब्राह्मणोनिषद् २३

यहाँ कर्मयोग के लिए क्रियायोग शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त वराहोपनिषद् मे मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग इन तीन योगो का उल्लेख मिलता है। अन्य उपनिषदो मे उपर्युक्त तीन योग के साथ चतुर्थ राजयोग को सम्मिलित कर चतुर्विध योग का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक: ॥ —योगतत्त्वोपनिषद् १९
मन्त्रो हठो लयो राजयोगान्ता भूमिका: क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥—योगशिखोपनिषद् १/१२९-१३०
योगराज प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥
योगश्चतुर्विध प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभि ।—योगराजोपनिषद् १-२

इस प्रकार योग चार प्रकार का बतलाया गया है। इस चतुर्विध योग का सामान्य लक्षण बतलाया गया है—'प्राणापानसमायोग'। जैसा कि निम्न औपनिषदीय वचन द्वारा स्पष्ट है—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेय योगचतुष्टयम् ॥ —योगशिखोपनिषद्

इसी प्रकार अन्यत्र आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि इन चार योगाङ्ग को उपर्युक्त चतुर्विध योग मे समान रूप से स्वीकार किया गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

आसन प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिक ।
एतच्चतुष्टय विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् ॥— योग राजोपनिषद् २३

अर्थात् आसन, प्राण संरोध (प्राणायाम) ध्यान और समाधि ये चार योगाङ्ग सभी योगो मे माने गये हैं। अभिप्राय यह है कि चाहे मन्त्र योग हो या लययोग हो, हठयोग हो या राजयोग हो उपर्युक्त चारो योगाङ्ग उसमे स्वीकार किए गए हैं।

इस प्रकार योग मुख्यत मन्त्र योग आदि भेद से चार प्रकार का माना गया है। उनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

मन्त्रयोग

इसमे ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओ के मन्त्र का जप कर वत्सराज आदि के समान सिद्धि प्राप्त की जाती है, जैसा कि योगराजोपनिषद मे प्रतिपादित किया गया है —

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां मन्त्र जाप्य विशारदैः ।
साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ॥

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के मन्त्र का जप करने मे दक्ष लोगो के द्वारा मन्त्र योग सिद्ध किया जाता है, जैसे वत्सराज आदि के द्वारा सिद्ध किया गया।

शास्त्रो मे इस प्रकार के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं कि मन्त्रो का जप करने से साधक को किस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इस सन्दर्भ मे योगतत्वोपनिषद् का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

मातृकादियुत मन्त्र द्वादशाब्द तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥
अल्पबुद्धिरिम योग सेवते साधकाधम ।

—योगतत्वोपनिषद् २१/२२

अर्थात् जो साधक मातृका आदि से युक्त मन्त्र का जप बारह वर्ष तक करता है वह क्रमशः अणिमा आदि गुणो (सिद्धियो) से युक्त ज्ञान को प्राप्त करता है। इस मन्त्र योग की साधना अल्प बुद्धि वाले निम्न कोटि के साधक करते हैं।

मन्त्रयोग के विषय मे बतलाया गया है कि किस प्रकार साधारण व्यक्ति भी निरन्तर गतिमान श्वास निश्वास के द्वारा मन्त्र का जप करता है? योग शिखोपनिषद् का निम्न वचन इस सन्दर्भ मे दृष्टव्य है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन ।
'हंस' हंसेति मन्त्रोऽय सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमिति य स्यान्मन्त्रयोग: स उच्यते ॥

—योग शिखोपनिषद् १/१३०—१३२

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की श्वास 'हकार' के साथ बाहर निकलती है और 'सकार' के साथ पुन प्रविष्ट होती है। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास के रूप मे निरन्तर 'हंस'-'हस' इसके मन्त्र का जप सभी प्राणियो के द्वारा किया जाता है, किन्तु गुरु वाक्य के प्रभाव से साधक सुषुम्ना मे इसके विपरीत 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' इस प्रकार जो मन्त्र का जप करता है वही मन्त्रयोग कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इष्ट देवता के मन्त्र का जप करना मन्त्र योग कहलाता

है। प्राचीन काल मे सम्भवतः मन्त्रयोग का साधन करने वाले साधक को हीन या अधम साधक माना जाता था।

लययोग

नव चक्रो मे लीन होकर योग की साधना या सिद्धि करना लययोग है। शास्त्रो मे लययोग का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्त साधितो लयसञ्ज्ञित ।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभि ॥

—योग राजोपनिषद् ४-५

अर्थात् कृष्णद्वैपायनादि महात्माओ के द्वारा नौ चक्रो मे लय कर के योग की सिद्धि करना 'लययोग' कहलाता है।

कुछ शास्त्रो लययोग को चित्तलय की संज्ञा दी गई है। यथा—

लययोगश्चित्तलयः कोटिश परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥

—योगतत्वोपनिषद् २३

अर्थात् करोडो बार चित का लय करना लययोग कहलाता है। चलते हुए, बैठे हुए, सोते हुए, खाना खाते हुए सदैव निष्कल ईश्वर का ध्यान करे। अभिप्राय यह है कि प्रतिक्षण ईश्वर का ध्यान करते हुए उसी मे अपने चित्त को लीन करना चित्तलय कहलाता है।

इसी बात को निम्न प्रकार से और अधिक स्पष्ट किया गया है—

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मन् ! चित्त याति विलीनताम् ॥
पवन स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्द परं पदम् ॥

—योग शिखोपनिषद्

अर्थात् जब क्षेत्रज्ञ (आत्मा) और परमात्मा दोनो का ऐक्य होता है, तब उस ऐक्य के साधित होने पर हे ब्रह्मन् ! चित्त लीनता को प्राप्त होता है (विलीन हो जाता) है। (यही लययोग है और उस) लययोग के उत्पन्न होने पर वायु (प्राण) स्थिरता को प्राप्त होती है। लय होने से स्वात्मानन्द रूप जो सौख्य एव परम पद है वह प्राप्त होता है।

इस प्रकार लययोग आत्मा और परमात्मा के एकाकार की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमे चित्त स्वयं विलीन होकर तन्मय हो जाता है। उसके परिणाम स्वरूप जिस अलौकिक स्वात्मानन्द की अनुभूति होती है वह लोकोत्तर होने से वर्णनातीत है।

हठयोग

'हठ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि 'हठ' का घटक अक्षर 'ह' सूर्य का वाचक है और 'ठ' अक्षर चन्द्र का वाचक है। इन पारिभाषिक सूर्य और

चन्द्र तत्व द्वय की एकता जब होती है तो वह 'हठ' वाचक होती है याने उसे ही हठ कहते हैं। हठ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है--

हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्यचन्द्रमसोरैक्य हठ इत्यभिधीयते ॥
हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम् ।
— योगशिखोपनिषद् १/१३३-१३४

अर्थात् हकार (ह) से सूर्य और ठकार (ठ) से चन्द्रमा कहलाता है। सूर्य और चन्द्र का ऐक्य 'हठ' कहलाता है। उस हठ से समस्त दोषो को उत्पन्न करने वाली जडता का नाश होता है।

हठयोग कुछ ऐसी क्रियाओ का प्रतिपादन है जिससे शरीर के विभिन्न भागो मे स्थित मल विभिन्न स्रोतो-मार्गों से बाहर निकलता है और शरीर की शुद्धि होती है। इस प्रकार का शुद्ध हुआ शरीर ही योगाभ्यास (राजयोग) के उपयुक्त माना जाता है। हठयोग की क्रियाओ से विवेक का उदय नही होता है, अपितु विवेक का मार्ग प्रशस्त होता है। अत. हठयोग वस्तुत योगाभ्यास या रजयोग की पूर्व पीठिका माना जाना चाहिए।

योगतत्वोपनिषद् के अनुसार हठयोग के बीस अङ्ग है। इनमे से प्रथम आठ-यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि अष्टाङ्ग योग कहलाते हैं।

शेष बारह महामुद्रा, महाबध, महावेध, खेचरी, जालधरबध, उड्डियानबध, मूलबध, दीर्घप्रणवसधान, सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली, सहजोली है।

इन बीस अगो का अभ्यास कर लेने के अन्तर हठयोग की सिद्धि होती है।

राजयोग

सम्पूर्ण योग का आधार राजयोग है। वस्तुतः योग जिसे राजयोग भी माना गया है तत्वतः प्रत्याहार से लेकर समाधि पर्यन्त चार अङ्गों के सम्बन्ध मे ही चरितार्थ होता है। आरम्भ के चार अग तो योग की प्रारम्भिक तैयारी मात्र से सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रो मे यम और नियम केवल योगियो के लिए ही नही हैं, सर्वसाधारण के लिए भी व्यवहार्य माने गए हैं। आसन और प्रणायाम का अभ्यास शारीरिक स्वास्थ्य सवर्धन के लिए ही उपयोगी होता है। ज्ञान, विवेक, साधना, कर्मबन्धन से मुक्ति एवं कैवल्य के लिए प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ही समर्थ है, उनका अभ्यास ही राजयोग है।

उपनिषद् मे राजयोग के अभिधान का कारण इसमे रजस् एव रेतस् का योग होना बतलाया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे प्रयुक्त रेतस् और रजस् शब्द विशुद्ध रूप से पारिभाषिक हैं और इनका प्रयोग क्रमशः शिव एव शक्ति के लिए किया गया है। अतः शिव और शक्ति के योग के कारण यह योग राजयोग कहलाता है। उपनिषदो मे भी यही भाव व्यक्त किया गया है। यथा—

रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृत ।
अणिमादिपद प्राप्य राजते राजयोगत' ॥
— योग शिखोपनिषद् १/१३४

अर्थात रजस् और रेतस् के योग से राजयोग होता है। उस राजयोग से योगी

अणिमा आदि पद (सिद्धि) को प्राप्त कर शोभायमान होता है। (इसीलिए वह राजयोग कहलाता है।) इसकी व्याख्या करते हुए उसे और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद् राजयोग ।"

—उपर्युक्त पर ब्रह्मयोगीकृत व्याख्या

ऊपर हठयोग के जो बीस अङ्ग बतलाए गए हैं उन बीस अङ्गों वाले हठयोग के बिना राजयोग सिद्ध नहीं हो सकता। राजयोग की सिद्धि होने पर योगी को विवेक एवं वैराग्य उत्पन्न होता है और उसे महायोगी पुरुषोत्तम विष्णु का साक्षात्कार होता है। राजयोग मनुष्य को सर्वप्रथम उसकी आभ्यन्तरिक उन शक्तियो के पर्यवेक्षण का मार्ग बतलाता है जो इतस्तत फैली हुई हैं। वे इधर उधर फैली हुई प्रकाश की किरणों की भाति है। जब उन्हे केन्द्रीभूत किया जाता है तब वे मनुष्य के सम्पूर्ण अन्त को आलोकित कर देती है, परिणाम स्वरूप मनुष्य सामान्येतर विषयो को भी जानने व समझने लगता है। यही ज्ञान है जो मन की एकाग्रता एव नियमन से योगियो को प्राप्त होता है। उस ज्ञान के साथ वैराग्य को सयोग होना ही राजयोग है।

योग के आठ अंग

योग के आठ अग होते हैं। आठ अंगो के कारण यह अष्टांग योग कहलाता है। योग के आठ अगो के विषय मे योग दर्शनकार का कथन निम्न प्रकार है—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि ।"

—योग सूत्र २/२९

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अग होते हैं।

योग के आठ अगो से योगी को क्या लाभ होता है, इस विषय मे महर्षि पतञ्जलि का कथन है—

"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते ।"

अर्थात् योग के आठ अगो का अनुष्ठान करने (उनको आचरण मे लाने) से चित्त के मल का अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियो से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

योग के उपर्युक्त आठ अङ्ग सम्पूर्ण मानव जीवन के अन्त शुद्धिकरण के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दोषो का जिस प्रकार निराकरण होकर निर्मल भाव उत्पन्न होता है वही वास्तव मे मानव जीवन के उच्चादर्शों का द्योतक है।

वर्तमान में स्वार्थ, परिग्रह और दुराचार की प्रवृत्ति ने मानव जीवन

मे प्रवेश करके जीवन की आस्थाओ, नैतिक मूल्यो और उच्च आदर्शों को जिस प्रकार छिपा दिया है और जीवन को यथार्थ से विमुख कर कृत्रिमता, आडम्बर तथा भौतिकवाद की ओर तीव्रता से उन्मुख किया है उससे निश्चय ही पौर्वात्य सस्कृति और सभ्यता के आदर्शों की नीव हिलने लगी है। वैज्ञानिक और प्रगतिशील कहे जाने वाले वर्तमान युग मे जिस रूप मे भौतिकवाद का साम्राज्य छाया हुआ है उससे प्राचीन सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यो पर भीषण कुठाराघात हुआ है। योग के द्वारा मनुष्य को एक ऐसा सुदृढ नैतिक आधार प्राप्त होता है जिससे वह अपने अन्त:करण की सम्पूर्ण शक्तियो का विकास कर हीन और तुच्छ विचारो से बहुत अधिक ऊपर उठ जाता है। इससे मनुष्य का जीवन सीधा, सरल और सात्विक बन जाता है, वह विघटनकारी प्रवृत्तियो से विमुख होकर केवल निर्माण और विकास मे सुख का अनुभव करता है।

आठ अगो मे प्रथम दो अग-यम और नियम पूर्णत: मनुष्य के नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी हैं। इनका सम्बन्ध पूर्णत: मनुष्य के आन्तरिक संसार से है। यम और नियम के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक ससार मे शुद्धिकरण की जो महत्वपूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है उससे सारी मलिनता दूर होकर सात्विक भाव का उदय तथा आत्मिक शक्ति का विकास होता है और मनुष्य अपने जीवन की पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर उस ओर उन्मुख हो जाता है। शनै शनै भौतिक जगत उसे नि:सार और हेय लगने लगता है जिससे वह समस्त सांसारिक विषयो से विमुख होता हुआ स्वात्मानुभव मे ही स्वय को केन्द्रित रखता है। यम के द्वारा मनुष्य जीव-हिंसा, असत्यभाषण, पर द्रव्यापहरण या चोरी करना, दुराचार सेवन या वासनामय जीवन और परिग्रह से स्वयं की रक्षा करता है और उन कदाचारो से बचने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपने जीवन मे उतारता है। इसी प्रकार नियम के द्वारा वह शौच-सन्तोष-तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से अपने अन्त करण के सम्पूर्ण विकारो के निराकरण मे समर्थ होता है जिससे उसका जीवन पूर्णत सात्विक और ऋजु बन जाता है।

आसन—प्राणायाम ये दो अग मनुष्य की शारीरिक क्रियाओ को नियन्त्रित कर उसके शरीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए सुदृढ आधार प्रस्तुत करते हैं। आसन और प्राणायाम के द्वारा एक ओर तो मनुष्य के शरीर पर विकार या रोग का आक्रमण नही होता और दूसरी ओर यदि पहले से ही शरीर विकार ग्रस्त है तो इन दोनो क्रियाओ (अगो) के अभ्यास से उसका विकार निर्मूल होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। आसन शरीर की वे क्रियाएं हैं जो विशेष प्रकार से शरीर के विभिन्न अगों के द्वारा भिन्न भिन्न रूप से सम्पन्न की जाती हैं। इन आसनों से शरीर स्वस्थ,

सुन्दर और सुगठित बनता है तथा शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवो की क्रियाएं प्राकृतिक रूप से सम्पन्न होती हैं। प्रणायाम वस्तुतः दीर्घश्वास लेने और कालान्तर मे श्वासावरोध करने की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिससे शारीर दोष वात-पित्त-कफ और मानस दोष रज-तम की समस्थिति होती है। दोषो की एतद्विध समस्थिति शरीर और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अत: यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि प्राणायाम सुदीर्घ जीवन और दीर्घायुष्य का एक महत्वपूर्ण आधार है।

योग का प्रत्याहार अङ्ग इन्द्रियो की बाह्य प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए महत्वपूर्ण है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से जब मन और इन्द्रियां पूर्णतः विशुद्ध हो जाती हैं तब प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियो की समस्त बाह्य प्रवृत्तियो को चारो ओर से समेटकर मन मे विलीन करने का सतत अभ्यास किया जाता है। ऐसा करने मे योगी जब सफल हो जाता है तब उसे 'प्रत्याहार' की सिद्धि प्राप्त हो गई-ऐसा समझा जाता है। प्रत्याहार वस्तुत मन की एकाग्रता के लिए नितान्त आवश्यक हैं। क्योकि उससे योगी की सभी इन्द्रिया वशीभूत हो जाती है और योगी वस्तुतः साधना पथ का अनुगामी बन जाता है। इस प्रत्याहार को साधना की सिद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योगाङ्ग बहिरग साधन कहलाते हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यत: योग या साधना के बाह्य स्वरूप से है। शेष धारणा-ध्यान-समाधि ये तीन अग योग या आत्मासिद्धि रूप साधना के अन्तरग साधन है। इनमे धारणा का अभिप्राय है मन को किसी एक स्थान पर स्थिर करना। इसी को चित्त का देशबन्ध भी कहा जाता है। शरीर मे स्थित नाभिचक्र, हृदय कमल आदि शरीर के अन्त प्रदेश हैं और अन्यान्य देवी देवता या अन्य पदार्थ बाह्य प्रदेश कहलाते है। इनमे से किसी भी एक देश मे चित्त की वृत्ति को लगाना 'धारणा' कहलाता है। जिस ध्येय वस्तु मे चित्त को लगाया जाता है उसी मे चित्त को स्थिर कर एकाग्र कर लेना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यानावस्था मे चित्त की एक ही वृत्ति रह जाती है और वह एकमात्र वृत्ति अपने ध्येय मे केन्द्रित होकर एक ही रूप मे सतत प्रवाहित होती रहती है, इसके बीच मे किसी अन्य वृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता—यही 'ध्यान' कहलाता है। इस प्रकार ध्यान करते करते जब चित्त पूर्णत: ध्येयाकार मे परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है और उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती उस समय उस ध्यान का ही नाम 'समाधि' हो जाता है जिससे जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग होकर उसे अक्षय परम पद 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार योग के ये आठ अङ्ग अध्यात्म साधना के महत्वपूर्ण साधन हैं। इनसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनो ही शक्तियों का विकास होता है।

योगाङ्ग विवेचन—१. यम

पूर्व प्रकरण मे योग के आठ अगो का सक्षिप्त स्वरूप प्रतिपादित किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रकरण मे योग के पूर्वोक्त सभी आठ अगो का योग साधना एव स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। सर्व प्रथम 'यम' का विवेचन प्रस्तुत है।

यम अष्टाग योग का प्रथमाङ्ग है। यम के विषय मे महर्षियो ने पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् मे कहा गया है कि विज्ञजनो के द्वारा देह और इन्द्रियो मे वैराग्य उत्पन्न होना ही 'यम' है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्य यम इत्युच्यते बुधै । —त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/२८

एक अन्य उपनिषद् मे प्रतिपादित विवेचन के अनुसार सर्वब्रह्म का ज्ञान हो जाने से होने वाला इन्द्रिय समूह का सयम ही 'यम' कहलाता है। जैसे—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियज्ञानसयम ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
—तेजो बिन्दूपनिषद् १/१७

इस प्रकार के यम का अभ्यास बार-बार करना चाहिये। क्योकि इससे इन्द्रियो का संयम होने से मनुष्य के हृदय मे स्वत ही समस्त सासारिक विषयो के प्रति राग भाव का नाश हो कर वैराग्यभाव उत्पन्न होता है, अपने शरीर और इन्द्रियो से भी उसका मोह एव ममत्व समाप्त हो जाता है।

यम की सख्या के विषय मे प्राचीन आचार्यों के दो प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। एक वे हैं जो जिनके अनुसार यम की सख्या दस है और दूसरे वे है जो यम पांच प्रकार का प्रतिपादित करते हैं।

विभिन्न उपनिषदो जिनमे त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् आदि मुख्य हैं मे निम्न दस यम प्रतिपादित किए गए हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहार शौच चेति यमा दश ॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, मिताहार और शौच ये दश यम होते हैं।

योग तत्वोपनिषद् मे इन यमो मे लघ्वाहार (मिताहार) को मुख्य बतलाया गया है। यहाँ लघ्वाहार (मिताहार) से तात्पर्य योगोपयुक्त चतुर्थांशावशेष सुस्निग्ध मधुर आहार से है।

पातञ्जल योग में पांच यमों को स्वीकार किया गया है। यम के विषय में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा: ।"—योग दर्शन २/३०

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम होते हैं। ये पाच यम सामान्यत: सभी के लिए उपयोगी हैं। इनका पालन करने से मनुष्य का जीवन स्तर निश्चय ही उन्नत होता है। मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल इन पांच यमो को हम व्रत की संज्ञा दे सकते हैं। गृहस्थ जीवन में रहते हुए पूर्ण रूप से इनका पालन अवश्य किया जा सकता है। क्योकि कोई भी गृहस्थ अपने जीवन मे पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन नही कर सकता और न ही वह गृहस्थ जीवन की वर्तमान अनेक झझटो के कारण पूर्णत· सत्याचरण का निर्वाह कर सकता है। अस्तेय का पालन वह सहज रूप से कर सकता है। अत दृढता पूर्वक अस्तेय यम का निर्वाह किया जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य का सर्वांशत परिपालन भी सम्भव नही है। एक पत्नीव्रत का निर्वाह तो गृहस्थो के द्वारा सम्भव है, किन्तु भरपूर जवानी मे पूर्णत· ब्रह्मचर्य का परिपालन गृहस्थ जीवन के निर्वाह और पारिवारिक जीवन के सुखपूर्वक यापन के लिए सम्भव नही है। गृहस्थ जीवन मे आवश्यकता के अनुसार वस्तुओ का सचय अवश्य किया जाता है—यह परिग्रह कहलाता है। पूर्णत· अपरिग्रही केवल गृहत्यागी साधु-सन्यासी ही होते है। अत गृहस्थ जीवन मे पूर्णरूप से परिग्रहो का त्याग करना सम्भव नही होता। इस प्रकार अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह इन पांच व्रतो का निर्वाह और परिपालन गृहस्थ जीवन मे केवल आशिक रूप से किया जा सकता है। इन पांच व्रतों का आशिक परिपालन ही 'यम' कहलाता है। जब इनका परिपालन पूर्ण रूप से किया जाता है तो इन्हे 'मह'व्रत' कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने निम्न सूत्र के द्वारा इसी आशय की पुष्टि की है—

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ।"

—योग दर्शन २/३१

अर्थात् जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर (उक्त यम) महाव्रत हो जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त अहिंसा आदि का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं मछली के सिवा अन्य किसी जीव की हिंसा नही करूगा, तो यह जाति-अवच्छिन्न अहिंसा है, इसी भांति कोई तीर्थ क्षेत्र में हिंसा न करने का प्रण करता है तो यह देश अवच्छिन्न अहिंसा है, किसी के द्वारा अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को हिंसा के परित्याग का नियम लेना काला-

वच्छिन्न अहिंसा है तथा कोई यह नियम करे कि मैं विवाह के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से हिंसा नही करूँगा तो यह समयावच्छिन्न (निमित्त से सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का परिपालन भी जाति-देश-काल-समय का प्रतिबंध होने के कारण ये व्रत 'यम' कहलाते हैं। इन व्रतों के साथ जब जाति-देश-काल-समय का प्रतिबध न लगा कर समस्त प्राणियो के साथ सब देशों में सदा सर्वदा इनका सर्वांशत परिपालन किया जाय और किसी भी निमित्त से इनमे शिथिलता आने का अवकाश न दिया जाए तब ये व्रत सार्वभौम होने पर महाव्रत कहलाते हैं।

अहिंसा

प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखते हुए किसी भी प्राणि को किंचित् मात्र भी क्लेश नही पहुचाना अहिंसा है। अपने से छोटे या बडे किसी भी मनुष्य के प्रति अपशब्द कह कर उसका अपमान करना, किसी भी रूप मे मनुष्य का तिरस्कार करना, अपमान जनक शब्दो से उसका हृदय दुखाना यह सब हिंसा का परिचायक है। शास्त्रो मे हिंसा की निम्न परिभाषा दी गई है--

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।" —तत्त्वार्थ सूत्र

अर्थात् प्रमाद के योग से जीव मात्र के प्राणो का घात करना हिंसा कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रमाद वश हमारी अज्ञानता मे जो छोटे छोटे जीवो के प्राणो का घात होता है यह 'हिंसा' कहलाती है। इस प्रकार हमारे दैनिक जीवन मे हमारी अज्ञानता वश न जाने कितने प्रणियो को अपने प्राणो से हाथ धोना पड़ता है। यह हिंसा दो प्रकार की होती है —द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। प्रत्यक्ष रूप मे किसी को मारना, पीडित करना या क्लेश पहुचाना 'द्रव्यहिंसा' है। अपने मन मे किसी के प्रति अहित करने का विचार रखना, किसी को किसी भी रुप मे मारने के लिए मन मे सोचना, सकल्प या दृढ़ निश्चय करना अथवा हिंसा के कार्य के लिए किसी को प्रेरित करना 'भावहिंसा' कहलाती है। यह दोनो प्रकार की हिंसा अशुभ परिणाम कारक है। अत इस प्रकार की समस्त हिंसा से यथा सम्भव बचने का प्रयत्न करना अहिंसा यम कहलाता है। अन्य धर्मों मे इसे ही 'अहिंसाणुव्रत' कहा गया है।

अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सभी धर्मों ने एक स्वर से इसके महत्व को स्वीकार कर इसे अपनाया है। अहिंसा के द्वारा प्राणिमात्र को अभय प्राप्त होता है, अतः प्राणिमात्र के लिए यह कल्याणकारी भी है। अहिंसा का पालन करने वाले मनुष्य के हृदय मे सत्वगुणोत्कर्ष पूर्वक सात्विक भाव का उदय होता है। जिससे उसके स्वभाव मे सरलता, मृदुता, नम्रता आदि गुणों का उत्कर्ष होता है। मानसिक विकार

को दूर करने के लिए अहिंसा परमौषध है। अहिंसक मनुष्य का चित्त सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। मानव जीवन के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है। योगाभ्यास के द्वारा अपने ध्येय की पूर्णता के लिए सतत प्रयत्नशील योगीजन के लिए अहिंसावृत्ति, अहिंसाचरण, अहिंसा का परिपालन और अहिंसा का भाव उतना ही आवश्यक है जितना जीवन निर्वाह के लिए अन्न-जल-वायु। इस प्रकार अहिंसा मानव जीवन की प्रथम आवश्यकता है। सात्विक जीवन का वह मुख्य आधार है।

भारतीय संस्कृति के प्राचीन आध्यात्मिक ग्रंथों विशेषतः उपनिषदों में अहिंसा की चर्चा व्यापक रूप से की गई है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१/५) में बतलाया गया है कि मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी कष्ट नही देना अहिंसा है। इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् (१/७/८) में मीमांसकों के मत एवं वेदान्त के दृष्टिकोण का समन्वय करते हुए कहा गया है कि वेद विहित प्रकार से विभिन्न रूप में मन वाणी या कर्म से किसी जीव को मारना हिंसा है और उसका अभाव अहिंसा है। वेदान्त के ज्ञाता एवं प्रवक्ता आत्मा को सर्वगत, अविकार्य, अच्छेद्य और अग्राह्य समझने को उत्तम अहिंसा कहते हैं। अहिंसा का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग ।" —योग सूत्र २३/५

अर्थात् अहिंसा की दृढ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट समस्त (हिंसक) प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।

इस प्रकार अहिंसा भाव की पूर्णत दृढ़ स्थिति इतनी प्रभावशाली होती है कि हिंसक प्राणी भी अपना स्वभाव छोड कर शात भाव से उसके पास विचरण करते हैं।

सत्य

विद्वानो ने सत्य को वाणी का भूषण बतलाया है। वाणी मे जब सत्य की प्रतिष्ठा रहती है तो वाणी का गौरव द्विगुणित हो जाता है। सत्य वचन मानव मन की शुद्धि के परिचायक होते हैं। सत्य के द्वारा सदैव मनुष्य के स्वाभिमान की रक्षा होती है और उसका सिर सदैव गर्वोन्नत रहता है। सत्य मे ऐसी अद्भुत शक्ति होती है कि मिथ्या भाषी उसके सामने टिक नहीं सकता और उसे नतमस्तक होना पड़ता है। झूठ बोलने वाले को सदा अपमानित होना पड़ता है, समाज और जाति में उसकी कोई प्रतिष्ठा या सम्मान नही रहता। किसी बात मे उसका विश्वास नहीं किया जाता।

योगाभ्यासी को सदैव सत्य की रक्षार्थ सत्य का आचरण करना चाहिए, सत्याचरण से उसकी वाणी पर सदा उसका नियन्त्रण रहता है और उसकी वाणी में आकर्षण की अद्भुत क्षमता आ जाती है। सत्यानुष्ठान से चित्त की निर्मलता में वृद्धि होती है और अनेक मानसिक विकारों का उपशम होता है। सत्य के परिपालन से मनुष्य की

वाणी की शुद्धि तो होती ही है उसके मन की भी शुद्धि होती है। सत्याचरण मनुष्य को नैतिक दृष्टि से सबल बनाता है और उसका कथन सुनियन्त्रित, सन्तुलित एवं सदृढ़ होता है। अतः मानसिक दृष्टि से भी वह सबल होता है। सत्यवादी मनुष्य को कोई भी लालच या भय अपने कर्त्तव्य से विचलित नही कर पाता और वह स्थिर चित्त से दृढ़ता पूर्वक अपने कर्त्तव्य के पालन मे लगा रहता है। इस प्रकार सत्य का आचरण मनुष्य को जहाँ सुदृढ़ नैतिक आधार प्रदान करता है वहाँ उसे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने मे भी अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

मानव जीवन के उत्कर्ष के लिए सत्य का निर्वाह अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सत्य ऐसा हो जो दूसरो को पीडा या क्लेश न पहुंचाए। सत्य वचन कटु और कठोर न हो और उससे किसी प्राणि का अहित न होता हो। ऐसा सत्य ही उपादेय एव श्रेयस्कारी होता है। दूसरो को कष्ट देने वाला या दूसरो के लिए अहितकारी सत्य वचन सत्य होते हुए भी कल्याण कारी एव उपादेय नही है। इसलिए शास्त्रो मे बतलाया गया है—"**सत्यं ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् मा ब्रूयात्-सत्यमप्रियम्**। हित और मित सत्य वचन के द्वारा परहित साधन और आत्म कल्याण दोनो होते है।" सत्य के द्वारा मन की शुद्धि होती है, इसमे कोई सशय नही है—**मन सत्येन शुद्ध्यति**।" सत्य के विषय मे निम्न कथन भी महत्वपूर्ण है—

सत्य भूतहित प्रोक्त यथा न्यायाभिभाषणम्।
प्रियं च सत्यमित्युक्त सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

—वशिष्ठ सहिता

अर्थात् न्याय पूर्ण सत्य का कथन प्राणियो के लिए हितकारी बतलाया गया है। जो सत्य प्रिय होता है वही सत्य कहलाता है।

इस प्रकार सत्याचरण मन और वाणी को शुद्ध करने वाला पर हितकारी तथा आत्म श्रेयस्कारी होता है। योगाभ्यास के लिए इसका पालन एव आचरण करना नितान्त आवश्यक है। मन, वचन एव कर्म से सर्वभूतहितावह, समस्त प्राणियो के लिए कल्याण-कारी यथार्थ भाषण, यथा गृहीत की अभिव्यक्ति करना सत्य है। वेदान्तज्ञों की दृष्टि में ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानना, सत्य को भी सत्य समझना उत्तम सत्य साधना है।

सत्य के फल की महिमा को महर्षि पतञ्जलि स्वयं कहते हैं—

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।" **—योग सूत्र २/३६**

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा (दृढ स्थिति) होने पर योगी मे क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है। जब योगी सत्य का परिपालन करने मे दृढ़ और परिपक्व हो जाता है, उसमे किसी प्रकार की कमी नही रहती तब वह योगी कर्त्तव्य पालन रूप

क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है। जो कर्म किसी ने नहीं किया है उसका भी फल उसे प्रदान कर देने की शक्ति उस योगी में आ जाती है।

अस्तेय

अस्तेय का सामान्य अर्थ है—चोरी नहीं करना। स्तेय—चोरी करना एक ऐसी क्रिया है जिसका सीधा सम्बन्ध मन और शरीर से है। मन में जब स्वार्थ और लोभ का भाव उत्पन्न होता है तो मन दूसरो की वस्तु के अपहरण या प्राप्त करने के लिए शरीर को प्रेरित करता है। मन की प्रेरणा से हाथ पैर आदि शारीरिक अवयव परद्रव्यापहरण आदि कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं। यही निन्दनीय चौर कर्म या स्तेय है। मनसा-वाचा-कर्मणा इस कर्म से बचना और इसका परिहार करना 'अस्तेय' या 'आचौर्य' व्रत कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाग योग के प्रथम अग 'यम' के अन्तर्गत इसका प्रतिपादन किया है। मन-वचन-शरीर की शुद्धि के लिए अस्तेय का परिपालन भी उतना ही आवश्यक है जितना अन्य यमो का।

हमारे दैनिक जीवन मे प्रतिदिन अनेक ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं जिनसे किसी न किसी रूप में स्वार्थवश हम अवश्य बंधे रहते हैं। स्तेय मे भी हमारा स्वार्थ निहित होता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की अज्ञानता, मूर्खता या दुर्व्यवस्था का लाभ उठाकर उसकी बहुमूल्य वस्तु को वास्तविक मूल्य से कम मूल्य में लेना या किसी को दिलवाना स्तेय कर्म है। इसी प्रकार अनुचित लाभ उठाने के लिए या चुंगी से बचने के लिए किसी भी वस्तु को छिपा कर लाना, चुंगी-अधिकारी को बनावटी बीजक दिखा कर कम चुंगी चुकाना, जाली और बनावटी हिसाब-किताब रखना, जाली बहीखाता दिखाकर कम आयकर चुकाना, रेल में या बस मे बिना टिकट सफर करना, बढ़िया चीज मे घटिया वस्तुए मिला कर ऊंची कीमत मे बेचना, वस्तुओ के नाप-तोल मे हेरा फेरी करना निन्दनीय चौर्य कर्म है। रिश्वत लेना और देना, चोर बाजारी करना, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह करना, वस्तुए बहुत अधिक ऊंची कीमत मे बेचना आदि भी स्तेय कर्म है। ये काम स्वयं करना, दूसरों से करवाना, इन कामों को करने के लिए दूसरो को प्रेरित करना अथवा इन कर्मों के लिए योजना बनाना, युक्ति निकालना या मात्र मन मे विचार करना चोरी के अन्तर्गत समाविष्ट है। मन-वचन-काय पूर्वक इन कर्मों का परिहार करना अस्तेय (यम) या अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

किसी स्थान मे गड़े हुए, घर-दुकान या कहीं रखे हुए, अमानत के तौर पर रखे हुए, किसी के मकान, गली, बाजार, सड़क पर पड़े हुए, किसी के यहां भूले हुए द्रव्य को अपने पास रखकर उस पर स्वामित्व प्रकट करना, अधिकारी व्यक्ति के द्वारा

मांगने पर वापिस नहीं करना स्तेय कर्म है। अतः ऐसी वस्तु अपने पास नहीं रखना-उसके वास्तविक स्वामी या अधिकारी को लौटा देना अस्तेय कहलाता है। हिसाब-किसाब मे भूलचूक होने पर उसे सुधार लेना, किसी भी परद्रव्य को बिना अनुमति के नही लेना और न ही किसी को देना, स्थूल चोरी का परित्याग अस्तेय व्रत कहलाता है।

बेईमानी और अनीति पूर्वक कमाए हुए तथा दूसरो के धन की अभिलाषा न रखते हुए न्याय और नीति पूर्वक उपार्जित धन में ही संतोष रखते हुए अपना जीवन निर्वाह करना अस्तेय यम का मूल है। अस्तेय का पालन करने से अशुभ कर्म का बंध नहीं होता और संसार में उसका यश उज्जवल होता है। ऐसा महापुरुष ससार की अनेक अलभ्य विभूति को भोग कर परम्परा से अक्षय-अखण्ड परम निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

उपनिषद् मे अस्तेय का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार मन, वचन और कर्म से परस्व मे नि स्पृहता, उससे मन की विनिवृत्ति अस्तेय है। आत्मवेत्ताओ (वेदान्तियो) ने यथार्थ अस्तेय आत्मा को अनात्म समझकर किए जाने वाले व्यवहार का त्याग करना बतलाया है। जैसा कि दर्शनोपनिषद् (१/१२) मे प्रतिपादित है—

आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भि र्महामुने ॥

अस्तेय के फल के विषय मे महर्षि पतञ्जलि कहते हैं –

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्।" —योग सूत्र २/३७

अर्थात् अस्तेय (चोरी के अभाव) की प्रतिष्ठा (दृढ स्थिति) होने पर साधक के समक्ष ससार में स्थित समस्त रत्न (धन-धान्य वैभव) प्रकट हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचर्यं परं तप।" यह मूल मंत्र मानव जीवन की उत्कृष्टता के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मानव जीवन के शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक विकास मे ब्रह्मचर्य का पालन अपना विशेष महत्व रखता है। ब्रह्मचर्य मानव जीवन का प्रधान अग है और इसके द्वारा ही योगियो का योग, तपस्वियों का तप तथा साधको की साधना पूर्णता को प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य का पालन एक महान् व्रत है जो सभी सिद्धियो के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का अखण्ड रूप से पालन त्यागी, योगी, साधक, साधु या महात्मा ही कर सकते हैं, सामान्य गृहस्थ पूर्णरूप से इसका पालन नहीं कर सकता। किन्तु ब्रह्मचर्य पालन की अभिलाषा रखने वाला गृहस्थ स्वदार सतोषी होता है जो अपनी जाति, कुल और गृहस्थ धर्म की मर्यादा के अनुसार अग्नि साक्षी पूर्वक विवाही गई स्त्री में ही सन्तोष रखता है और अन्य समस्त स्त्री मात्र में राग भाव का परित्याग करता है। परस्त्री, वेश्या, दासी,

कुल्टा, कन्या आदि स्त्रियों में उदासीन वृत्ति को धारण कर उनके साथ वचनालाप, उनके स्पर्शन, अवलोकन आदि का त्याग करता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला गृहस्थ परस्त्री का त्यागी और स्वदार सन्तोषी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है— ब्रह्म = आत्मा और चर्या = रमण करना अर्थात् अपने शुद्ध चिदानन्द रूप आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुजन मन—वचन—काय की शुद्धता पूर्वक अपने भाव और परिणामों को उज्ज्वल रखते हैं। वे किसी प्रकार के भी विकार भाव से अपनी आत्मा को मलिन नहीं होने देते। इन्द्रियो के विषय भोग और भौतिक सुखों से सर्वथा विरक्त होकर अन्तरंग परमात्मा स्वरूप अपनी आत्मा की उज्ज्वलता और निर्मलता का ही अवलोकन करना उनका परम ध्येय होता है।

सामान्य गृहस्थ जीवन के सुख पूर्वक निर्वाह के लिए ब्रह्मचर्य का धारण करना आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोतम उपाय है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही मनुष्य के शरीर मे अपूर्व शक्ति का सचार होता है, उसके चेहरे पर कान्ति और तेज झलकता है, वाणी मे ओजस्विता रहती है तथा व्यक्तित्व मे अद्भुत आकर्षण होता है। शरीर के सम्पूर्ण अग-प्रत्यंग और संधिस्थल सुदृढ़ होते हैं, मन मे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अनुशीलन करने से शरीर मे बल, बुद्धि, वर्ण, कान्ति और तेज की वृद्धि होती है तथा मन मे साहस और उत्साह का सचार होता है।

ब्रह्मचर्य के स्वरूप प्रतिपादन मे समस्त धर्मशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र एकमत हैं। उपनिषदो मे भी उसका वही स्वरूप प्रतिपादित मिलता है। शाण्डिल्योपनिद (१/१/८) मे मन, वचन और कर्म से सभी प्रकार के मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। किन्तु दर्शनोपनिषद् मे ब्रह्मवादियों ने ब्रह्मचर्य के स्वरूप को अधिक व्यापकता दी है। उन्होंने महती भार्या इत्यादि कह कर गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सभी आश्रमो का ध्यान रखते हुए मन के ब्रह्मभाव में विचरण करने (ब्रह्मभावे मनश्चारं) को ब्रह्मचर्य कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्म स्वरूप में लीन होना और समस्त भौतिक विषयों को तिलाञ्जलि देते हुए उनसे विमुख होना ब्रह्मचर्य का मूल है।

ब्रह्मचर्य के महात्म्य का निरूपण करते हुए श्री हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

प्राणाभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य मानव चरित्र का प्राणभूत होता है, वह परमब्रह्म की प्राप्ति का एक मात्र कारण है। ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मनुष्य पूजित लोगों के द्वारा भी पूजा जाता है।

ब्रह्मचर्य के फल का निरूपण महर्षि पतञ्जलि ने निम्न प्रकार से किया है—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" —योग दर्शन २/३८

अर्थात् ब्रह्मचर्य की दृढ स्थिति हो जाने पर वीर्य लाभ (सामर्थ्य का लाभ) होता है। योग शास्त्र के अनुसार जब साधक ब्रह्मचर्य के अनुशीलन में दृढ हो जाता है और कोई भी मनोविकार उसे विचलित नही कर पाता है तब उसके मन-बुद्धि-इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा वह स्वयं अपने आप मे वैशिष्ट्य का अनुभव करने लगता है।

अपरिग्रह

परिग्रह नही करना ही अपरिग्रह है। परिग्रह का सामान्य अभिप्राय है संचय करना। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार "परि समन्तात् गृह्णातीति परिग्रहः" अर्थात् भोगोपभोग की सासारिक वस्तुओ का चारों ओर से ग्रहण करते हुए संचय करना परिग्रह कहलाता है। वस्तु का सचय नही करना अथवा परिग्रह का त्याग करना ही अपरिग्रह है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियगम्य समस्त पदार्थों मे अनाशक्ति रखना अपरिग्रह है। अपने भौतिक सुख के लिए आवश्यकता से अधिक पदार्थों का सग्रह करना सामाजिक विषमता, कलह और सघर्ष का कारण है। जब तक समाज मे आवश्यक वस्तुओ का समान वितरण नही होता और लोगों को आवश्यकता की वस्तुए सुलभ नही होतीं तब तक समाज मे सुख और शांति की कल्पना करना व्यर्थ है।

व्यक्तिगत सुख और शाति के लिए परिग्रह वृत्ति का परित्याग कर अपरिग्रह व्रत का परिपालन करना नितान्त आवश्यक है। योगी अथवा साधक के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सासारिक झझटो की कारण भूत परिग्रहवृत्ति का परित्याग करे। द्रव्य-सचय के मोह मे न पड़ कर वह निस्सग एव अनाशक्ति पूर्वक अपने सात्विक जीवन के निर्वाह हेतु प्रयत्नशील रहे। किसी भी प्रकार का रचमात्र भी परिग्रह सभी पापो का मूल कारण और सभी अनर्थों की जड है। व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण के लिए इस महापाप से बचना आवश्यक है और इसका एकमात्र उपाय है—परिग्रह की प्रवृत्ति का परित्याग।

सांसारिक सुखो का स्वेच्छा पूर्वक त्याग, वासनाओ से विरक्ति, आडम्बरो से निर्लिप्तता, कृत्रिमता से रहित और वस्तुओ के सग्रह मे अरुचि-यही अपरिग्रह के लक्षण हैं। अपरिग्रह के विषय मे नीतिकारों का कथन है कि मनुष्य को अपनी भौतिक सम्पत्ति के प्रति मोह या राग नहीं रखना चाहिए। उसे सभी प्रकार के प्रलोभनों से सदैव बचने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अपने जीवन को सादा, सरल और उच्च बनाने

के लिए सर्वेव प्रयत्न शील रहना चाहिए। सांसारिक मोह को उत्पन्न करने वाले परिग्रह के जाल में फंसकर जीवन के यथार्थ आदर्श और चरम लक्ष्य को नहीं भूल जाना चाहिए। मनुष्य के अपरिग्रह व्रत की सार्थकता तब ही है जब वह इन्द्रिय जनित विषय भोगो के प्रति विरक्त होकर अपने आन्तरिक शत्रुओ राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ पर विजय प्राप्त कर सात्विक जीवन की निर्बाध धारा को प्रवाहित करता है।

यद्यपि आत्म कल्याण की दृष्टि से समस्त परिग्रह त्याज्य हैं, किन्तु जो गृहस्थ जीवन मे रहते हुए धर्म सेवन करना चाहते हैं उन्हें थोड़ा बहुत परिग्रह अपने जीवन निर्वाह के लिए रखना ही पड़ता है। यदि गृहस्थ के पास यथावश्यक परिग्रह न हो तो काल-दुष्काल मे, रोग में, आपत्ति समय में, विवाह आदि के समय उसके परि-णाम बिगड जाते हैं। अत. जीवन निर्वाह और गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए एक गृहस्थ के लिए कुछ न कुछ परिग्रह करना आवश्यक हो जाता है, किन्तु यह भी आवश्यक है कि उसकी आजीविका ऐसे साधनो पर आधारित हो जो नीति और न्याय पूर्ण हो। शास्त्रकारो का कथन है कि सच्चा साधु यदि तिल तुष मात्र भी परिग्रह रखता है तो दोनो लोको से भ्रष्ट हो जाता है और गृहस्थ यदि आवश्यकता के अनुसार उचित परिग्रह नहीं करता तो वह भी धर्म और नीति के मार्ग से च्युत हो जाता है। अत: लोभ रहित परिग्रह उसके जीवन निर्वाह एवं लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है। असीमित परिग्रह हमेशा दु:ख-दायी होता है। परिग्रह के कारण ही हिंसा आदि पापों मे प्रवृत्ति होती है। परिग्रह से गृद्धता होती है, गृद्धता होने पर मनुष्य धन का संचय करता है, धन संचय से लोभ बढ़ता और लोभ से दु:खो की परम्परा बढ़ती है। इस प्रकार परिग्रह महान् अनर्थों का मूल है। अत: ऐसे दु:खदायी परिग्रह का त्याग कर अपरिग्रह व्रत का पालन करना चाहिए।

उपनिषदों में यम के अन्तर्गत जिन भावों का परिगणन किया गया है उनमें अपरि-ग्रह का समावेश नही है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि वैदिक परम्परा में चारों पुरुषार्थों धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन हेतु इनके समन्वय पर अधिक बल दिया जाता था और जन सामान्य के लिए अपरिग्रह को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था जितना श्रमण परम्परा मे। मनुष्य मात्र के आध्यात्मिक विकास के लिए अपरिग्रह का पालन करना अपरिहार्य माना गया है। आध्यात्मिक या मोक्ष पथ का अनुसरण करने वाले साधुजनों महात्माओं और योगीजनों के लिए तो उसका अनुशीलन एवं आचरण अनिवार्य है ही। योग प्रतिपादक उपनिषदों का प्रणयन-जैसा कि अद्वयतारको-पनिषद् में कहा गया है—शम, दम आदि षड्गुण सम्पन्न जितेन्द्रिय यतियों के लिए किया गया था जो संभवतः अपरिग्रही होते थे। महर्षि पतञ्जलि ने योग साधना के लिए तत्पर होने वाले जिज्ञासुओं एवं योगियों के लिए अपरिग्रह के आचरण की अनिवार्यता

प्रथम ही बतलाकर श्रमण परम्परा के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को न केवल अपनाया अपितु योग विद्या मे आत्मासात् कर दिया। इसका प्रभाव औपनिषद परम्परा के परवर्ती ग्रथो पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा। यही कारण है कि शाङ्कर सम्प्रदाय के ग्रंथो मे अपरिग्रह को योग का प्रथम द्वार कहा गया। जैसाकि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

> योगस्य प्रथम द्वार वाङ् निरोधोऽपरिग्रहः।
> निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥
>
> —विवेक चूडामणि ३६८

अर्थात् योग का प्रथम द्वार वाणी का सयम, अपरिग्रह, निराशा, निरीहा और नित्य एकान्तवास है।

योगाङ्ग विवेचन-२ नियम

योग के आठ अगों में यम के बाद नियम परिगणन किया गया है। इस प्रकार योग के द्वितीय अंग के रूप में निगम को स्वीकार किया गया है विभिन्न उपनिषदों में नियम की व्याख्या या परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से मिलती है। यथा—

अनुरक्तिः परे तत्वे सतत नियम. स्मृत. ।

—त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् २/२६

अर्थात् परम तत्व मे निरन्तर अनुरक्ति ही नियम है।

इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद् मे नियम की व्याख्या निम्न प्रकार से मिलती है—

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृति ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधै: ।।

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/१८

अर्थात् घट पटादि की विजातीय वृत्तियो का निरोध करते हुए अखण्ड चिन्मात्र की सजातीय वृत्तियो के प्रवाह जो परम आनन्द दायक होता है को नियम कहते हैं। विद्वजनों के द्वारा उसका अनुसरण नियम पूर्वक किया जाता है।

उपनिषदों में यमों की भांति नियमो की चर्चा भी विस्तार पूर्वक की गई है जो विशेषतः शाण्डिल्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड एवं दर्शनोपनिषद् के के द्वितीय खण्ड मे मिलती है। इन दोनो उपनिषदो मे नियम का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३३-३४), वराहोपनिषद् (५/१३-१४), दर्शनोपनिषद् (२/१-२) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१/२/२/१) में नियम का वर्णन करते हुए तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, वेदान्त (सिद्धान्त) श्रवण, ह्री, मति जप और व्रत इन दस नियमों का प्रतिपादित किया गया है। किन्तु मण्डलब्राह्मणो-पनिषद् मे उपर्युक्त परम्परा का अनुसरण नहीं करते हुए भिन्न रूप से निम्न नौ नियमों का प्रतिपादन एवं वर्णन किया गया है—

गुरुभक्ति सत्यमार्गानुरक्ति: सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टि: नि:सङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्ति: फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमा: ।

—मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१/४

नियम के विषय मे महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

"शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा: ।"

—योग सूत्र २/३२

अर्थात् शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम होते हैं।

योग-साधना के लिए तत्पर योगीजन या साधक के लिए यमों की भाँति नियमो का परिपालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। नियमो के परिपालन के बिना साधक की साधना मे पूर्णता आना सम्भव नहीं है। नियमो का परिपालन वस्तुत: योगी या साधक के मन का परिष्कार कर उसके अन्त:करण को निर्मल और नि:संग बनाता है। मन की पवित्रता से चित्त की अस्थिरता या चञ्चलता दूर हो जाती है और चित्त की समस्त वृत्तियाँ आभ्यन्यरमुखी होकर शनै: शनै: उनका निरोध होता जाता है जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ स्वत्मानुभव के लिए अग्रसर होता है। इस प्रकार नियमो के द्वारा योगी आत्म नियन्त्रण पूर्वक योग-साधना मे प्रवृत्त होता है।

पाँचो ही नियम साधक की आन्तरिक शुद्धि के परिचायक हैं। यम के द्वारा जहा योगी की बाह्य प्रवृत्तियाँ नियन्त्रित होती हैं और उसके आचरण का संस्कार होकर उसमे शुद्धता आती है वहां नियम के द्वारा अन्त: प्रवृत्तियाँ नियन्त्रित होती हैं। नियम का विधि पूर्वक आचरण करने से योगी के अन्त:करण मे ज्ञान के आलोक का प्रसार होता है और वह मिथ्यात्व और सम्यक्त्व को समझते हुए मिथ्यात्व का परिहार तथा सम्यक्त्व का ग्रहण करने लगता है। नियम के परिपालन से जब योगी के आचरण मे शुद्धता आ जाती है तो वह सामान्य स्थिति से ऊपर उठ कर अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उसका व्यक्तित्व और जीवन अधिक उन्नत हो जाता है।

नियम का क्रमश: परिपालन योगी को सर्वशक्तिमान् ईश्वर स्वरूप परम ब्रह्म के निकट ले जाता है। सांसारिक प्रपञ्च उसे हेय जान पड़ते हैं और उसके अविवेक का जाल छिन्न भिन्न होकर विवेक जागृत होने लगता है। नियम का आचरण योगी की आत्मा के परिणामों को विशुद्ध बनाता है और उसमे विकार उत्पन्न नहीं हो पाता। इन नियमों का निरन्तर अभ्यास करने से राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ ईर्ष्या-भय-जुगुप्सा आदि मलो का अभाव होकर मनुष्य का अन्त:करण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। मन की व्याकुलता का विनाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है। विक्षेप दोष का विनाश होकर मन में एकाग्रता आती है और सम्पूर्ण

इन्द्रियां मन के अधीन हो जाती हैं। अतः उसमें आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। मन के सभी भाव संस्कारित हो जाते हैं जिससे उनमें विकल्प आदि का अभाव हो जाता है। विकल्प आदि दोषों से रहित और संस्कारित मानसिक भाव मनुष्य को सामान्य स्थिति से अधिक उन्नत अवस्था में पहुंचा देते हैं जिससे वह जीवन की सार्थकता का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नियमों का विधि पूर्वक आचरण मनुष्य के सामान्य जीवन के लिए भी आवश्यक है।

शौच

शौच का सामान्य अर्थ है शुद्धि। यहाँ बाह्य शुद्धि और आभ्यन्तरिक शुद्धि दोनों अभिप्रेत है। बाह्य शुद्धि का अभिप्राय शारीरिक शुद्धि और आन्तरिक शुद्धि का अभिप्राय मानसिक शुद्धि से है। यह दोनों प्रकार की शुद्धि शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है। स्नान आदि के द्वारा शारीरिक मल का निर्हरण कर उसे स्वच्छ रखना शारीरिक शौच या बाह्य शुद्धि है। मानसिक दोषों और विकारों के उपशमन के लिए क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-अकिंचन्य-अहिंसा-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह आदि भावों का निरन्तर अनुशीलन करना मानसिक शुद्धि या अन्तः शौच का परिचायक है। इन दोनों प्रकार के शौच के अतिरिक्त वाचनिक शौच अर्थात् वचन शुद्धि भी आवश्यक है। यद्यपि अन्तः शौच में ही वचन शुद्धि का समावेश हो जाता है, किन्तु वाणी की निर्मलता मनुष्य के स्वभाव और वचन के माधुर्यभाव का द्योतक होने से इसका विशेष महत्व है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मन-वचन-काय तीनों की शुद्धि पर विशेष बल दिया है।

किसी भी प्रकार का शौच हो, उससे शारीरिक और मानसिक शुद्धि का निकटतम सम्बन्ध है। योगी या साधक के लिए शौच का विशेष महत्व है। क्योंकि शौच नियम का पालन करने से बुद्धि की स्थूलता, मन की मलिनता, चित्त की चञ्चलता और शरीर की अस्वस्थता दूर होती है। सभी इन्द्रियां निर्मल व अनुकूल होती हैं, शरीर का आलस्य व प्रमाद दूर होता है, मन के विकारों का उपशम होता है तथा मन में रज और तम दोषों का शमन होकर सत्वगुण का उत्कर्ष होता है।

शाण्डिल्लोपनिषद् (१/४/१४) में शौच के बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद करके प्रथम को मृज्जलादि से निष्पाद्य और द्वितीय जो मन शुद्धि रूप है को अध्यात्म विद्या से प्राप्य बतलाया है। इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् (१/२०-२३) में कहा गया है कि मृज्जलादि से शरीर मल का अपनोदन करना बाह्य शौच है और आध्यात्मिक तत्वों जैसे आत्म तत्वों, ब्रह्मतत्व आदि का अनुचिन्तन-मनन करना मानस शौच है। 'मैं शुद्ध ब्रह्मतत्व हूं'' इस प्रकार का ज्ञान ही उत्तम शौच है। विभिन्न

दोषों एवं मलो के कारण शरीर अत्यन्त मलिन होता है और शरीरी (आत्मा) निर्मल। दोनों मे यह स्पष्ट अन्तर समझने वाला व्यक्ति किसके शौच में प्रवृत्ति करेगा ? यदि वह ज्ञान शौच को छोड़ कर बाह्य शौच में प्रवृत्त होता है तो निश्चय ही वह मूढ़ और अज्ञानी है। स्वहित विवेक से शून्य वह मोक्ष का पात्र कैसे हो सकता है ?

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शौच से निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं—

"शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरससर्गः।" —योग दर्शन २/४०

अर्थात् शौच का परिपालन करने से अपने शरीर के अगो के प्रति जुगुप्सा (वैराग्य भाव) और दूसरो से ससर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि शौच का अनुशीलन साधक को उस अवस्था तक पहुचा देता है जहाँ वह अपने शरीर से भी द्वेष करने लगता है और शरीर व संसार के प्रति उसके मन मे वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार छोटे बालक को कटु पदार्थ अरुचिकर प्रतीत होते हैं उसी प्रकार योगी को सांसारिक विषय भी अरुचिकर लगने लगते हैं और वह उन्हे हेय समझने लगता है।

आन्तरिक शौच जनित परिणाम के विषय में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।"

—योग दर्शन २/४७

अर्थात् (शौच का सतत अनुशीलन करने से) अन्तःकरण की शुद्धि, मानसिक प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियो का वश मे होना और आत्म साक्षात्कार की योग्यता ये पाँच भी होते हैं।

आन्तरिक शौच तब ही हो सकता है जब मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमे निर्मलता उत्पन्न हो, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारों का शमन होकर उसमे सात्विक प्रकृति भाव उत्पन्न हो तथा सशय, विक्षेप, विकल्प आदि दोषों का निराकरण होकर उसमे एकाग्रता उत्पन्न हो। ऐसी स्थिति मे ही योगी की साधना मे पूर्णता की अपेक्षा की जा सकती है। मन की उपर्युक्त स्थिति योगी को इस योग्य बना देती है कि वह स्वात्मानुभव मे लीन होकर आत्म साक्षात्कार कर सके। यही शौच की पराकाष्ठा और साधना का चरम लक्ष्य है।

सन्तोष

सन्तोष का साधारण स्वरूप यदृच्छालाभ से तुष्टि है। किन्तु दर्शनोपनिषद् के अनुसार पदार्थ मात्र मे अनासक्त रहते हुए प्राप्त पदार्थ को स्वीकार करना और उससे अधिक की अभिलाषा नहीं करना ही सन्तोष है। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। चाहे

वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, चाहे वह कितना ही उच्च पदासीन क्यों न हो चाहे उसकी इच्छाएं पूर्ण क्यो न हो गई हो—उसे कभी सन्तोष नहीं होता। आज प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक सामाजिक तथा अन्य दृष्टि से सम्पन्न होना चाहता है। जब उसकी एक अभिलाषा पूर्ण होती है तो वह और अधिक की लालसा करने लगता है। मनुष्य अपनी चाह के बन्धन मे इतना अधिक बधा रहता है कि वह उससे चाह कर भी नही छूट पाता। मनुष्य की चाह की कोई सीमा नही होती, वह सीमातीत होती है। जब तक वह अपनी चाह के बंधन से मुक्त नही होता तब तक उसे सन्तोष नहीं हो सकता। वस्तुत: सन्तोष वही होता है जहां चाह, इच्छा या लालसा नही होती। इच्छा या चाह इन्द्रिय जनति होने के कारण सांसारिक बधन ओर दुःख का कारण है। इसके विपरीत सन्तोष मनुष्य को सासारिक कष्टो से मुक्ति दिलाता है। सन्तोषी मनुष्य सदैव सुख पाता है।

जहां सन्तोष होता है वहां राग-द्वेष-छल-कपट-मायाचारिता आदि का अभाव होता है तथा मनुष्य हर एक स्थिति मे सुख व सन्तोष का अनुभव करता है। यदि सन्तोषी मनुष्य पर कोई आकस्मिक विपत्ति आ जाती है तो उस स्थिति में भी वह घबडाता नही है और मुस्कराता हुआ सभी कष्टो को सहन करता है। वह धैर्यवान होता है अपनी वर्तमान स्थिति मे ही सन्तुष्ट रहता है। उसे अधिक की लालसा नहीं होती। जो कुछ उसके पास है उसी को वह पर्याप्त समझता है।

योगी अथवा साधक के लिए सन्तोषी होना परम आवश्यक है। सन्तोष मे ही उसे परम सुख का अनुभव होता है। सन्तोष से कारण परिग्रह को बल नहीं मिल पाता और न ही कोई विकार उसे ग्रस्त कर सकता है। मानसिक एवं शारीरिक विकार रहित स्थिति मे परम आत्मिक शान्ति का अनुभव होता है। सन्तोष के कारण सभी यम और नियमों के परिपालन मे अनुकूलता रहती है।

सन्तोष वस्तुत: मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। किन्तु जब क्रोध-मान-माया-लोभ तथा राग-द्वेष आदि विकार भाव मनुष्य के अन्त:करण को विकृत कर देते हैं तो उस अवस्था मे सन्तोष का लोप हो जाता है और मनुष्य भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि मे ही सन्तोष का अनुभव करता हुआ उसमें स्वयं को लीन रखता है। उसकी लोभी प्रकृति उसे यथार्थ सुख से वंचित कर देती है और वह सुख की खोज में भौतिक साधनों का आश्रय लेकर इधर उधर भ्रमित होता रहता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी सन्तोष जनित फल को उत्तम सुख ही निरूपित किया है। यथा—

"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।" —योग दर्शन २/४२

अर्थात् सन्तोष से उत्तमोत्तम सुख का लाभ (प्राप्त) होता है।

तप

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का अनुशीलन और पालन करना तथा उसके पालन मे जो शारीरिक और मानशिक कष्ट हो उन्हें निर्विकार भाव से सहर्ष सहन करना 'तप' कहलाता है। तपश्चरण में निष्काम भाव से किए गए व्रत उपवास आदि भी सम्मिलित हैं। अत ऐसे सभी अनुष्ठान जो मन की पवित्रता और चित्त की शुद्धि करने वाले हो, भले ही उनसे शरीर को कितना ही कष्ट क्यो न हो तप का परिचायक है। जिस प्रकार सुवर्ण को अग्नि सन्ताप मल रहित और खरा बना देता है उसी प्रकार तपश्चरण भी मानव शरीर और मन को कंचन की भांति निर्मल कर देता है। तपश्चरण का निरन्तर अभ्यास मनुष्य को कष्ट सहिष्णु बना देता है और भौतिक सुखो मे उसकी आसक्ति निर्मूल हो जाती है।

शास्त्रों मे तप का यह लक्षण भी बतलाया गया है—"**इच्छा निरोधो तपः**" इसके अनुसार अपनी सभी प्रकार की इच्छाओ, इन्द्रिय जनित वासना तथा मन की विभिन्न अभिलाषाओं का निरोध कर उन्हे निर्मूल करना, उसके परिपोषण के प्रति उदासीन रहना, कठोरता पूर्वक शरीर-इन्द्रिय-मन का निग्रह करना तप कहलाता है। इस प्रकार का तप मनुष्य को सांसारिक समस्त बाह्य विषयो की अपेक्षा स्वत्मानुभव मे सुख की अनुभूति कराता है। बाह्य विषय उसके लिए गौण और निष्प्रयोजन हो हो जाते है।

तप का अभिप्राय केवल यही नही है कि गृह त्याग कर साधुवेश धारण कर वन मे विचरण करना और कन्द, मूल, फल आदि खा कर जीवन निर्वाह करना। तप का आचरण गृहस्थ अवस्था मे भी किया जा सकता है और यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन कितनी उत्कृष्ट स्थिति मे इसका पालन करता है। एक गृहस्थ भी अपनी शक्ति और साम्यर्थ के अनुसार यथेच्छा रूप से अपने शरीर, मन और इन्द्रियो का नियन्त्रण कर सकता है। जो स्वयं का अधिक रूप मे नियन्त्रण करता है उसकी तपश्चरण की स्थिति उतनी ही अधिक उत्कृष्ट होगी और जो कम रूप मे नियन्त्रण करता है उसकी स्थिति न्यून रूप मे उत्कृष्ट होगी।

योगी के लिए योग साधना की दृष्टि से तपश्चरण नितान्त आवश्यक है। तप के द्वारा जहा मन की चचलता और चित्त के विकार दूर होते हैं वहाँ काम की परिशुद्धि होती है और इन्द्रियो मे निर्मलता आती है। वह अधिकाधिक कष्ट सहिष्णु होता है तथा शरीर के प्रति उसका ममत्व भाव कम होता है। वह अरम परिशुद्धि को ही जीवन का एकमात्र लक्ष समझने लगता है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।" —योग दर्शन २/४३

अर्थात् तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। अभिप्राय यह है कि शरीर और इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं। उनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का विनाश होकर वे योगी के स्वाधीन हो जाती है। इस प्रकार तपश्चरण के द्वारा योगी और भी अधिक उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर अपने लक्ष्य के अधिकाधिक निकट पहुच जाता है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय आत्म ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। शास्त्रो का निरन्तर अभ्यास, तत्वो का सतत अनुशीलन और अबाध रूपेण आत्मानुचिन्तन ही स्वाध्याय है। जिनके द्वारा अपने कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का बोध, हिताहित विवेक और यथार्थ सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि हो ऐसे वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, रामायण, ज्ञानीजनो के अनुभव से परिपूर्ण लेख आदि का पठन पाठन 'स्वाध्याय' कहलाता है। स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य को जो ज्ञान लाभ होता है उससे उसके मानसिक विकारो का उपशम होता है, कषायो मे मन्दता आती है तथा आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय ही सर्वोत्तम साधन है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस वाक्य के अनुसार ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नही है। जब तक मनुष्य को ज्ञानोपलब्धि नही होती, तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। ज्ञान के बिना साधु, सन्यासी, त्यागी तथा अन्य सभी लोगो की समस्त क्रियाएँ व्यर्थ एव निष्फल हैं। ज्ञान के साथ ही आचरण की पूर्णता है। अज्ञानी जन के क्रिया कलापों मे ज्ञानाभाव के कारण पूर्णता नही आ पाती। ज्ञान का लाभ तब ही होता है जब मनुष्य निरन्तर शास्त्रो का अभ्यास करे। स्वाध्याय से ही विवेक जाग्रत होता है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

रोगियो के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। जिस प्रकार योगाभ्यास उनके दैनिक जीवन का आवश्यक अग है उसी प्रकार स्वाध्याय भी उनके दैनिक जीवन का आवश्यक अंग होना चाहिए। स्वाध्याय से धर्म में आस्था, व्रत उपवास आदि मे दृढ़ता तथा ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा बलवती होती है। स्वाध्याय से ही शरीर और आत्मा मे भेद विज्ञान की प्रतीति तथा तत्व ज्ञान की वृद्धि होती है। योग की सिद्धि ज्ञानी जन को ही होती है, अज्ञानी और मूर्ख लोगो को नहीं। यदि ऐसा नही होता तो बिना ज्ञान के कोई भी व्यक्ति योग मे सिद्धि प्राप्त कर मुक्ति का अधिकारी बन जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता।

स्वाध्याय आत्मा के कल्मष को धोने वाला अज्ञानान्धकार का विनाश कर ज्ञान ज्योति पुंज का प्रसार करने वाला तथा चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने वाला होता

है। निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से जड़मति व्यक्ति भी ज्ञानवान् बन जाता है। उसे अच्छे और बुरे की समझ आ जाती है जिससे वह सत्कार्यों में प्रवृत्ति और असत्कार्यों से निवृत्ति करता है। जो उसके स्वात्महित के लिए होता है वही श्रेयस्कारी एवं सन्मार्ग पर अग्रसर करने वाला होता है। स्वाध्याय के द्वारा जब योगी का हिताहित विवेक जाग्रत होता है तो वह परम आत्म संतुष्टि का अनुभव करता है, क्योंकि उसमे उसके आत्मिक विकास की सहज अनुभूति निहित रहती है।

निरन्तर स्वाध्याय करने से उत्साह और पुरुषार्थ की वृद्धि, धारणा ध्यान और समाधि की सिद्धि, ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान और इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है। योगी मूर्द्ध ज्योति में संयम कर ग्रन्थ के जिस विषय का स्वाध्याय करता है उस विषय के लिखने के समय ग्रन्थ कर्त्ता का जैसा ज्ञान, विचार और भाव था योगी वैसा ही जान लेता है और ग्रन्थकर्त्ता की आत्मा का दर्शन करता है। वेदो का स्वाध्याय करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। स्वाध्याय के फल के विषय मे महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग ।" —योग दर्शन २/४४

अर्थात् स्वाध्याय से अभीष्ट देवता से साक्षात्कार हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्राभ्यास, मन्त्रजप और अपने जीवन का अध्ययन रूप स्वाध्याय करने से योगी जिस इष्ट देव का अध्ययन करना चाहता है उसी का दर्शन हो जाता है।

ईश्वर-प्राणिधान

सदैव ईश्वर की उपासना करना ईश्वर—प्राणिधान कहलाता है। ईश्वर की उपासना के लिए मन-वचन-काय से उसकी स्तुति करना, प्रार्थना करना तथा उसके ध्यान मे ही निमग्न रहना आदि कार्य किए जाते हैं। ईश्वर के स्वरूप का सतत चिन्तवन करते रहना, उसके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापन करना तथा पतितोद्धारक के रूप मे सदा उसका स्मरण करना उसकी उपासना का ही अंग है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वाधार, अन्तर्यामी, करुणानिधि, सकल दुख विनाशक और अधर्मोद्धारक होता है। वही ईश्वर परम पिता परमात्मा तथा निराकार परम ब्रह्म होता है। ईश्वर की उपासना करने से योगी की आत्मा के कल्मष धुल जाते हैं। कल्मष रहित आत्मा विशुद्ध चैतन्य रूप निज स्वभाव का अनुभव करने लगता है।

योग दर्शन के अनुसार ईश्वर के शरणापन्न हो जाना ही 'ईश्वर प्रणिधान' है। उसके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन और मनन करना, अपने समस्त कर्म भगवान को समर्पित कर देना, उसकी आज्ञानुसार ही

आचरण करना, उसी मे अनन्य प्रेम, श्रद्धा और भक्ति रखना, ये सब ईश्वर प्रणिधान के ही अंग हैं। ईश्वर सर्वसिद्धि प्रदाता, सर्व समर्थ, करुणानिधान है, अत: वह शरणागत अपने भक्त पर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार उसे सब कुछ प्रदान कर सकता है। इसलिए योग शास्त्र में नियम-पालन के अन्तर्गत योगी को ईश्वर प्रणिधान का निर्देश दिया गया है।

ईश्वर प्रणिधान शरणागति या ईश्वर भक्ति का ही पर्याय है। जब योगी ईश्वर प्राणिधान मे लीन होता है तो वह परमपिता का अनन्य भक्त बन जाता है और अपनी श्रद्धा व भक्ति के द्वारा अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भक्त वत्सल जगत्प्रभु अपने शरणागत भक्त की श्रद्धा और भक्ति के वशीभूत हो जाते है तो वे भक्त के कल्याण की दृष्टि से उसे यथेष्ट और यथेच्छ वस्तु प्रदान करते है। अर्थात् उसे भव सागर से तार देते हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। यथा—

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।" —योग दर्शन २/४५

इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की शरणागति से योग साधन मे आने वाले विघ्नो का नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है। योग दर्शन के समाधिपाद १ के सूत्र २३ मे भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

"ईश्वरप्रणिधानाद्वा।"

अर्थात् अथवा ईश्वर प्रणिधान से (निर्जीव की सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

ईश्वर पर निर्भर रहने वाला साधक तो केवल तत्परता से अपनी योग साधना करता है। उसे साधना के परिणाम की चिन्ता नही रहती। उसकी साधना मे आने वाले विघ्नो को दूर करने का और उसकी साधना की सिद्धि का भार ईश्वर के जिम्मे पड जाता है। अत. अनायास और शीघ्रता से साधना की सिद्धि होना स्वाभाविक है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण यही कहते हैं—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"— गीता ४/११

अर्थात् जो मुझे जैसा भजते है, मैं भी उन्हे वैसा ही फल देता हूं।

ईश्वर प्रणिधान वस्तुत ईश्वर के प्रति एक प्रकार का समर्पण भाव है जिसमे अपनी समस्त क्रियाएँ, क्रियाओ के फल तथा धन सम्पत्ति आदि सभी कुछ परम पिता परमेश्वर को समर्पित कर देना, उसके प्रति ममता या राग भाव का त्याग कर देना पडता है, अर्थात् यह मेरा है—ऐसी भावना छोड देना पडता है। इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए समस्त कर्म, खाना-पीना, यज्ञ, दान, पुण्य, तपश्चर्या आदि सब कुछ अर्पित करने का निर्देश दिया। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ —भगवद गीता ९/२७

अर्थात् हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ यज्ञ करते हो जो कुछ दान करते हो और जो कुछ तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो।

यह समर्पण दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) अपने कर्तृत्व भाव का परित्याग अर्थात् ऐसा मानना कि ससार मे समस्त कार्य परमात्मा की प्रेरणा से हो रहे हैं और सब कुछ बलात् उसके द्वारा ही कराया जा रहा है—ऐसा मान कर उस परम ब्रह्म के कर्तृत्व को स्वीकार करना, जैसाकि प्रतिपादित है—

नाहं कर्ता सर्वमेतत् ब्रह्मैव कुरुते यथा।
एतद् ब्रह्मार्पण प्रोक्तं ऋषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ॥

—कूर्मपुराण २-१६

समर्पण का दूसरा प्रकार है सम्पूर्ण मनोयोग से कर्म करते हुए भी उसके फल की इच्छा का पूर्णरूप से परित्याग कर देना। जैसा कि बतलाया गया है—

यद्वा फलानां सन्यास प्रकुर्यात्परमेश्वरे।
कर्मणामेतदप्याहु' ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ॥ —कूर्म पुराण २-१६

वस्तुत यदि देखा जाय तो उपर्युक्त दोनो ही प्रकारो मे मौलिक अन्तर नही है। अन्तर की प्रतीति केवल बाह्य रूप से है। क्योकि किया गया कर्म और उससे प्राप्त होने वाले फलो मे परस्पर कार्य-कारण भाव है। अर्थात् जहा कर्म होगे वहाँ उसके कार्य के रूप मे कालान्तर मे फल अवश्य होगे। इसी प्रकार जहा सुख दुःख रूप फल हैं वहाँ उनके कारण रूप मे उनसे पूर्वकृत कर्म अवश्य रहे हैं। अत. इनका नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्पष्ट है। इसलिए एक (कारण) का त्याग होने पर दूसरे (कार्य) का त्याग स्वत: हो जाता है। यदि कर्मो का विसर्जन हो गया याने ईश्वर के प्रति समर्पण तो गया तो इसके फल रूप सुख और दुखो का समर्पण भी स्वत हो जाता है। इमी प्रकार कृत कर्म के बाद यदि प्राप्त होने वाले सुख और दुखो को प्रभु की इच्छा मान कर अनासक्त भाव से स्वीकार कर लिया जाय तो कर्म के परिणाम उसे प्रभावित या विचलित नही कर पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनो प्रकार का समर्पण भिन्न न होकर एक ही है।

ईश्वर प्रणिधान मे वस्तुत. अनासक्ति का भाव निहित है। समस्त सुख-दुख के भोग को प्रभु की कृपा मान कर अनासक्त भाव से भोगना तथा मन-वचन काय से सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाओ को परम प्रभु ईश्वर को समर्पित कर देना, कर्तृत्व के अहभाव का सम्पूर्ण रूप से विसर्जन कर देना ईश्वर प्रणिधान कर रहस्य है। यह साधना का अनुपम सोपान है जिसके मूल मे श्रद्धा और भक्ति निहित है। इसके प्रभाव से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारो विकार भावो की निवृत्ति सहज भाव से जाती है। जिससे अविद्या का नाश होता होता है और योगी अनायास ही साधना के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो जाता है।

इस प्रकार समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर प्रणिधान एक महत्वपूर्ण साधन है। मुक्ति रूपी चरम लक्ष्य की प्राप्ति मात्र इसी से सम्भव है।

योगाङ्ग विवेचन—३ आसन

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। शरीर की स्वस्थता के कारण ही मनुष्य की धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष मे प्रवृत्ति होती है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही ईश्वर की आराधना और लौकिक कर्मों का सम्पादन होता है। शरीर की पुष्टि, अगो की दृढ़ता, जाठराग्नि की प्रदीप्तता, मन और इन्द्रियो की प्रसन्नता तथा शरीर की निरोगता ये कुछ ऐसे लक्षण हैं जो स्वस्थ शरीर के परिचायक हैं। उन लक्षणो की संपूर्ति हेतु तथा इनके माध्यम से अन्त मे परम ब्रह्म का साक्षात्कार कर उससे तादात्म्य भाव स्थापित करने हेतु महर्षि पतञ्जलि ने योगाङ्गो के अन्तर्गत 'आसन' का कथन किया है। उन्होने यम और नियम के पश्चात् तीसरे अग के रूप मे आसन का कथन किया है, किन्तु कतिपय अन्य विद्वानो ने आसन को प्रथमाङ्ग के रूप मे ही स्वीकार किया है। जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

आसनं प्राणसंयाम: प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ —गोरक्ष शतक

यहा पर यद्यपि योग के आठ अग न मान कर केवल छह अग ही स्वीकार किए गए हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे योगाङ्गो की सख्या के विवाद मे न पड़ कर कहने का मुख्य अभिप्राय यह है कि योगाङ्गो मे प्रथमाङ्ग के रूप मे आसन का कथन करना उसके महत्व का परिचायक है। हठयोग मे भी आसन को प्रथमाङ्ग कहकर उसका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासन स्थैर्यमारोग्य चाङ्गलाघवम्॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् हठयोग का प्रथम अग होने से आसन (के गुण और उसकी विधि) को प्रथम कहते हैं। आसन (शरीर तथा मन मे) स्थैर्य, आरोग्य और शरीर के विभिन्न अंगों में लाघव उत्पन्न करते हैं।

इसके अतिरिक्त हठयोग के अभ्यास क्रम में भी आसन प्रथम ही होता है —

आसन कुम्भक चित्र मुद्राख्यकरण तथा ।
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।।

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् हठयोग मे आसन, कुम्भक, चित्र, मुद्राख्यकरण, नाद और अनुसन्धान का क्रमानुसार अभ्यास करना चाहिए ।

उपनिषदो मे जहा पञ्चादशाङ्ग योग का वर्णन किया गया है वहा आसन को सातवा और जहा अष्टाग योग प्रतिपादित है वहा आसन को तीसरा अग माना गया है । ध्यान बिन्दु और योग चूडामणि उपनिषदो मे यम और नियम को आध्यात्मिक साधना की आधार शिला होने के कारण पूर्व गृहीत मानकर उनका स्वतन्त्र योगाङ्ग के रूप मे उल्लेख न कर षडङ्ग योग का प्रतिपादन करते हुए आसन को प्रथम योगाङ्ग बतलाया गया है । अमृतनादोपनिषद् मे यम नियम की ही भाति आसन को भी योग साधना के लिए आवश्यक मानने के कारण उसका स्वतन्त्र योगाङ्ग के रूप मे उल्लेख न करते हुए भी पद्मासन, स्वस्तिकासन या भद्रासन मे बैठकर षडङ्ग योग की साधना करने का प्रतिपादन किया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणो से आसन की उपयोगिता और महत्व सुस्पष्ट है । हठयोग के आचार्यों ने आसन का कथन प्रथमतः करके उसकी उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि आसनो का अभ्यास किए बिना योग मे सिद्धि प्राप्त नही की जा सकती । यम और नियम योगी के आचरण की शुद्धि और मनोगत विकारो को निर्मूल करने के लिए उपयोगी है । किन्तु आसन का अभ्यास एक ऐसी क्रियाविधि है जो ब्रह्म-साक्षात्कार कराने का महत्वपूर्ण साधन है ।

आसन किसे कहते हैं ?

आसन शब्द का सामान्य अर्थ है बैठना । लोक व्यवहार मे उस चौकोर या गोल वस्त्र खण्ड या कम्बल के टुकडे को भी आसन कहा जाता है जो बैठने के काम आता है । इसके अतिरिक्त बैठने के लिए लकडी, चमडा, कुश या पत्तियो से बनाए गए चौकोर खण्ड की भी आसन सज्ञा है । अत. सामान्य व्यवहार मे बैठने के लिए प्रयोग किया जाने वाला उपयोगी साधन आसन कहलाता है । शास्त्रीय सन्दर्भ विशेषत योग के सन्दर्भ मे शरीर और उसके षडगो की विशिष्ट स्थिति को आसन कहते है । जब शरीर को सामान्य स्थिति की अपेक्षा हाथ-पैर को सकुचित कर उन्हे ऊपर या नीचे कर शरीर को झुकाकर या तानकर किसी विशेष स्थिति मे रखा जाता है तो वह आसन कहलाता है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (२/८) मे 'त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीरम्' इत्यादि कह कर योगासन का उल्लेख किया गया है। किन्तु वहा आसन की परिभाषा और उसके भेदों का निरूपण नही मिलता। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् मे आसन के निरूपण प्रसङ्ग मे कहा गया है कि आसन ऐसा होना चाहिये कि जिसमे व्यक्ति सुख पूर्वक अधिक देर तक बैठ सके। यथा—

"सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति।"

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १/१/५

जो साधक या योगी अपनी योग्यता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले डुले स्थिर भाव से सुख पूर्वक बिना किसी प्रकार की पीडा के देर तक बैठ सके वही आसन उसके लिए उपयुक्त है। अन्य शास्त्रो मे भी आसन का यही भाव प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद् मे प्राप्त विवरण के अनुसार आसन वस्तुतः वह स्थिति है जिसमे सुख पूर्व चिरकाल तक बैठकर निरन्तर ब्रह्म चिन्तन किया जा सके। ऐसी स्थिति से भिन्न अन्य स्थितिया केवल सुख का नाश करने की साधन मात्र हैं। यथा —

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम्॥

—तेजोबिन्दूपनिषत्

अर्थात् जिस स्थिति मे बैठ कर सुखपूर्वक निरन्तर परमब्रह्म का चिन्तन किया जा सके उसे ही आसन समझना चाहिए। सुख का विनाश करने वाली अन्य (आसनातिरिक्त) स्थिति आसन नही है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी आसन की कुछ ऐसी ही परिभाषा बतलाई है जो निम्न है—

"स्थिरसुखमासनम्।" —योग सूत्र २/४६

अर्थात् स्थिर और सुख पूर्वक बैठना आसन कहलाता है।

इस प्रकार शरीर और उसके षडङ्गो की विशेष स्थिति चाहे वह बैठने की हो, खडे होने की हो, शरीर को मोड़ने की या सीधा रखने की हो को 'आसन' कहा जाता है। कुछ लोग आसन का अर्थ केवल बैठना लगाते हैं। उनके अनुसार सुखपूर्वक बैठना मात्र ही 'आसन' है। किन्तु ऐसी बात नही है। योगशास्त्र में जो आसन बतलाए गए है उनमे अनेक ऐसे हैं जो खडे होकर, विभिन्न प्रकार से लेटकर, सिर को नीचा और पैरो को ऊपर कर किए जाते हैं। अतः केवल बैठना ही आसन का ज्ञापक नही है।

आसन और व्यायाम

आसन योग का अङ्ग होने से उन्हें "यौगिक व्यायाम" भी कहा जाता है। वैद्यकीय दृष्टि मे आसन और सूर्य नमस्कार आदर्श व्यायाम हैं। सूर्य नमस्कार में व्यायाम के अतिरिक्त भगवान सूर्य की आराधना, पूजा, नामस्मरण तीर्थसेवन इत्यादि दैवी कर्म होने से उसे "दैवी व्यायाम" कह सकते है। अधिक सह्य सामान्य व्यायाम केवल शरीर बलवर्धक होते हैं। अत वे शारीरिक व्यायाम कहलाते हैं। शारीरिक व्यायामो की अपेक्षा यौगिक व्यायाम (आसन) और दैवी व्यायाम (सूर्य नमस्कार) अधिक श्रेयस्कर होते हैं, क्योकि उनमे शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा भी अनुबधित रहते हैं।

आसन और व्यायाम का निकटतम सम्बन्ध है। आयुर्वेद शास्त्र मे व्यायाम की परिभाषा निम्न प्रकार से बतलाई गई है—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायाम सख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥

—चरक सहिता, सूत्रस्थान ७/३१

अर्थात् शरीर की वह चेष्टा (क्रिया) जो शरीर की स्थिरता के लिए की जाती है और जो शरीर के बल को बढाने वाली होती है, व्यायाम कहलाती है। उसे मात्रा-पूर्वक करना चाहिए।

इसके अनुसार आसन भी व्यायाम की परिधि मे आ जाते हैं। क्योकि योग शास्त्र मे वर्णित सभी आसन शारीरिक चेष्टा हैं और उनसे शरीर की स्थिरता होती है तथा शरीर मे बल की वृद्धि होती है। आसनो के द्वारा शरीर के अवयव पुष्ट, दृढ़ और स्थिर होते हैं। आसनो से शरीर मे रक्त सचार व्यवस्थित होता है तथा शरीर के अनेक रोगो का उपशम होता है। आसनो का सतत अभ्यास करते रहने से शरीर को वे गुण सहज ही प्राप्त हो जाते है जो व्यायाम के द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः आसन व्यायाम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं।

शारीरिक स्थिरता, बल, की वृद्धि शारीरिक आरोग्य तथा अन्य भौतिक दृष्टि से आसन और व्यायाम मे जहाँ निकटता और समानता है वहाँ अनेक दृष्टि से दोनो मे भिन्नता भी है। व्यायाम के द्वारा केवल देहसिद्धि ही होती है, जबकि आसन के द्वारा देह सिद्धि के अतिरिक्त मोक्षसिद्धि भी होती है। इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन का क्षेत्र अधिक व्यापक है। आसन जहाँ आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति का साधन हैं, व्यायाम वहाँ मात्र भौतिक उपलब्धि तक ही सीमित हैं। कुछ लोग आसनों का सम्बन्ध शक्तिशाली शारीरिक व्यायाम या शरीर को मांसल व पुष्ट बनाने वाली प्रक्रियाओ से जोडते हैं, किन्तु यह उचित नही है। आसनो का उपदेश न तो शरीर को झटके के साथ हिलाने

हुलाने के लिए किया गया है और न मांस पेशियों को अनावश्यक रूप से बढ़ाने व पुष्ट करने के लिए ही उनकी रचना है। 'आसन' तो वस्तुतः शरीर की वह स्थिति है जिसमे आसनाभ्यासी या योगी अपने शरीर और मन के साथ शात, स्थिर और सुखपूर्वक स्थित हो सके। क्योकि अपनी अन्तरात्मा के साथ एकाकार होने का अनुभव ही 'योग' है और इस अनुभव की उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन 'आसन' हैं।

आसन के द्वारा स्वास्थ्य लाभ तो अनायास ही हो जाता है। हां अनेक रोगों के उपचार के लिए भी विभिन्न आसनो का अभ्यास किया जा सकता है। अनेक रोगों में कतिपय आसन अत्यन्त उपयोगी एव लाभदायक सिद्ध हुए हैं। कई बार विभिन्न रोगों के उपचार के लिए योगासनो की उपयोगिता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हुई है। जो व्यक्ति अपनी दैनिकचर्या मे से प्रतिदिन नियमित रूप से थोडा सा समय भी आसनो के लिए निकालता है उसे कभी भी बीमारी के लिए अपना कीमती समय बर्बाद करने की आवश्यकता नही पडेगी। स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता एक प्रसिद्ध विद्वान का यह कथन— "जिसे व्यायाम के लिए समय नहीं मिलता उसे बीमारी के लिए समय निकालना पड़ेगा" कितना सार्थक, महत्वपूर्ण एव उपयोगी है ? यह कथन यद्यपि व्यायाम के लिए किया गया है, तथापि आसन के लिए भी पूर्णत. चरितार्थ होता है।

चाहे धर्म का आचरण करना हो या अर्थ की प्राप्ति, चाहे काम के निमित्त मनुष्य प्रेरित हो या मोक्ष साधन मे लगा हुआ हो, शारीरिक आरोग्य उसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य के बिना चारो पुरुषार्थों मे से किसी भी पुरुषार्थ की प्राप्ति या साधन सम्भव नही है। आसनो का अभ्यास करते हुए जब योगी आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तो आसनो के अभ्यास के माध्यम से वह धार्मिक आचरण मे तो तत्पर रहता ही है, उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर भी उन आसनो का अनुकूल प्रभाव पढ़ता है। प्रत्येक आसन किसी न किसी रूप से शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवो और उनकी क्रियाओ को अवश्य ही प्रभावित करते हैं, जिससे सभी अवयवो की क्रियाए प्राकृत रूप से सम्पन्न होती हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि शरीर पर अकस्मात् रोग ५ा आक्रमण नही हो पाता और जो रोग पहले से शरीर मे विद्यमान है उसका नाश हो जाता है। अतः शरीर स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष साधन मे सहायक आसन पहले ही आरोग्य लाभ उत्पन्न करा देते हैं, जिससे मूल उद्देश्य की प्राप्ति मे कोई शारीरीक बाधा न हो। आसनो के द्वारा आध्यात्मिक साधना के मार्ग मे आई हुई बाधाओं का निराकरण होता है और स्वस्थ शरीर उसके लिए पूर्ण सहायक एव तत्पर रहता है।

आसन और व्यायामों मे एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य के शारीरिक,

मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास मे आसनों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, जबकि व्यायामो का प्रभाव केवल शारीरिक स्वास्थ्य, शारीरिक सगठन, शरीर की मास पेशियो की पुष्टता एवं अस्थियो की दृढता तक ही सीमित रहता है। शारीरिक व्यायाम के द्वारा मनुष्य अपने शरीर को सुसगठित बना सकता है, अधि-काधिक मासोपचय कर सकता है तथा शरीर को सुदृढ और अत्यन्त बलशाली तो बना सकता है, किन्तु वह अपना मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास नही कर सकता। क्योंकि व्यायाम का इससे कोई सम्बन्ध नही है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए भी व्यायाम उत्तरदायी नही है। इसके विपरीत आसनो मे मनुष्य के बहु-मुखी व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर उसका विकास करने की अद्भुत क्षमता है। असनो के द्वारा प्रथम सीढ़ी के रूप मे मनुष्य का नैतिक उत्थान होता है, तत्पश्चात क्रमश उसकी मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक शक्तियो का विकास होता है जो उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, बहुमुखी व्यक्तित्व और विलक्षण कार्यक्षमता के निर्माण मे सहायक होता है। मनुष्य शनै शनै. सासारिक बाह्य विषयो से पराङ्मुख होता हुआ आभ्यन्तर मुखापेक्षी होता जाता है और भौतिक पदार्थों से विरक्त होता हुआ मात्र स्वात्मानुभव मे तत्पर रहता है।

व्यायाम और आसन की क्रिया विधि मे भी पर्याप्त अन्तर होता है। अधिकाश व्यायाम प्राय भारी, शीघ्रता पूर्वक किए जाने वाले और अधिक या त्वरित् श्वास-प्रश्वास की क्रिया वाले होते हैं। इस प्रकार के श्रमसाध्य व्यायाम, भारी वजन उठाने वाले अभ्यास और शारीरिक गठन को लक्ष्य कर की जाने वाली विविध विधिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी होती हैं। कृशकाय दुर्बल व्यक्ति, किसी रोग से पीडित व्यक्ति, वृद्ध पुरुष, बालक और स्त्रिया उन व्यायामो का अभ्यास करने मे असमर्थ रहती है। इन लोगो के लिए व्यायाम का पूर्णत निषेध किया गया है। इसके विपरीत आसन सरल होते हैं, उन्हे धीरे धीरे किया जाता है, उनकी क्रियाविधि मे कोई दुरूहता, श्रमसाध्यता और त्वरित या अधिक श्वास प्रश्वास की अपेक्षा नही रहती है। आसनो की क्रियाविधि की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके अभ्यास से चित्त में एकाग्रता आती है। यह एकाग्रता प्राणायाम और ध्यान के लिए अत्यन्त उपयोगी होती है। एकाग्रता के बिना ध्यान का कोई महत्व नही रहता। आसनो की बाह्य क्रियाविधि जहाँ शरीर के बाह्य अगो को प्रभावित करती है वहाँ आभ्यन्तरिक सस्थान भी उससे प्रभावित हुए बिना नही रहते। अत समग्र स्नायुमण्डल, सम्पूर्ण अन्त.स्रावी ग्रथियाँ, आभ्यन्तरिक अन्यान्य अवयव और सभी संस्थान सुचारू रूप से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इससे आसनाभ्यासी को यथा सम्भव अनेक रोगो से छुटकारा मिल

जाता है । आसनो का सतत अभ्यास केवल शरीर को ही स्वस्थ नही बनाता, अपितु वह मन को भी स्वस्थ और प्रसन्न रखता है जिससे अनेक मानसिक दुर्बलताओ, कष्टों, व्याधियों तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक तनाव, चिन्ता आदि से भी मुक्ति मिलती है । अत: आसनो का अभ्यास बालक, वृद्ध, युवा, स्वस्थ, अस्वस्थ स्त्रियो, रोगियों आदि सभी के लिए सामान रूप से हितावह, उपयोगी एवं लाभदायक है ।

इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन अधिक सरल और उपयोगी होते हैं । आसनो का क्षेत्र प्रत्येक दृष्टि से व्यायामो की अपेक्षा अधिक व्यापक है । आसनो का प्रभाव व्यायाम की अपेक्षा चिरस्थायी और अधिक व्यापक होता है । आसनो का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व है । वे व्यायाम की अपेक्षा अधिक उपयोगी और उत्कृष्ट होते हैं । मनुष्य मात्र के लिए उनकी उपयोगिता असदिग्ध है ।

आसनों की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता

योगासनो की प्राचीनता एव ऐतिहासिकता निर्विवाद है । योग शास्त्र मे आसन का महत्वपूर्ण स्थान है, अत. भारतीय सस्कृति और साहित्य मे जो स्थान योगशास्त्र का है वही स्थान आसान का है । इस आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि योगशास्त्र की भाति योगासनो का भी इतिहास समय की अनन्त गहराइयों मे आवृत है । भारत की आध्यात्मिक सस्कृति सदैव योगशास्त्र एव योगदर्शन से अनुप्राणित रही है । अत. सास्कृतिक दृष्टि से योगासनो की प्राचीनता और ऐतिहासिकता को अस्वीकार नही किया जा सकता । इसके अतिरिक्त मानव जाति, मानव सस्कृति, मानव सभ्यता, मानव ज्ञान और मानव धर्म की निधि के रूप में वेद विश्व के प्राचीनतम अपौरूषेय ग्रथ हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान के अक्षय भण्डार हैं । उन वेदो मे योगासनो का पर्याप्त उल्लेख मिलता है । अत: वेदो की भाति योगासनो का इतिहास भी उतना ही प्रचीन है ।

वेदो के पश्चात् उपनिषदो का स्थान है । ज्ञान की दृष्टि से उपनिषदो का स्थान महत्वपूर्ण है । उपनिषदो मे योग सम्बन्धी सामग्री प्रचुर रूप से विद्यमान है । चाहे पञ्चादशाङ्ग योग का वर्णन हो या अष्टांग योग का अथवा षडग योग का, उसमें आसन का प्रतिपादन अवश्य किया गया है । उपनिषदो मे आसन सम्बन्धी कतिपय उद्धरणो का उल्लेख इसी प्रकरण के पूर्व पृष्ठो मे किया जा चुका है । इससे स्पष्ट है कि औपनिषद् काल मे योगाङ्ग के रूप मे आसनो का प्रयोग एव प्रचलन पर्याप्त रूप से था । इससे आसनों की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता सुस्पष्ट है ।

भारतीय षड् दर्शन मे योग दर्शन का भी परिगणन किया गया है । भारतीय शास्त्र के बीज उपनिषदो मे निहित हैं और वे ही भारतीय दर्शन शास्त्र के मूलोद्गम

माने गए हैं। अतः योग दर्शन मे प्रतिपादित आसनों का इतिहास भी न्यूनतम उपनिषद् काल से मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरातत्वीय दृष्टि से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई विश्व मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो विश्व की प्राचीनतम सस्कृति स्वीकृत की गई है। इस खुदाई में अनेक ऐसी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमे शिव और पार्वती की विभिन्न योगासनो मे विभिन्न मुद्राए अकित हैं। शिव और पार्वती की विभिन्न मुद्राओं मे प्राप्त हुई इन विभिन्न मूर्तियो से तत्कालीन योगासनो का आभास सहज ही मिल जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस खुदाई मे जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं वे उन लोगो के हैं जो वैदिक युग मे थे और उनके निवास स्थान (हड़प्पा और मोहन जोदड़ो) वैदिक काल मे पूर्ण विकसित रूप से विद्यमान थे।

योगासनो के इतिहास मे पुराण, धर्मशास्त्र एव अन्य ग्रथो का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय पुरातन परम्परा भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। हमारे धर्मग्रन्थो एव अन्य शास्त्रों के अनुसार यह माना जाता है कि आसनो सहित योगविद्या का उपदेश सर्व प्रथम शिवजी ने दिया था। योग विद्या के अन्तर्गत उन्होने सभी आसनो की रचना की और उसका ज्ञान उन्होने सर्वप्रथम अपनी प्रथम शिष्या पार्वती जी को दिया। तत्पश्चात् उन आसनो का ज्ञान उत्तरोत्तर अन्य लोगो को मिलता रहा और वे उन्हें परम्परागत रूप से सीखते रहे। यह क्रम निरन्तर चलता रहा और कालान्तर मे शताब्दियो से इन आसनो के स्वरूप मे अपेक्षित परिवर्तन एवं सुधार होता रहा। कहा जाता है कि प्रारम्भ में जब शिव जी ने सर्वप्रथम आसनो का उपदेश दिया था, तब इनकी सख्या ८४,००००० थी। कालान्तर मे ऋषि—महर्षियो और योगियो ने आवश्यकतानुसार इनकी संख्या कम कर दी, जिससे वह केवल कुछ सौ तक ही सीमित रह गई। वर्तमान मे केवल चौरासी आसानो का विवरण विशेषत. मिलता है। इस प्रकार आसनो के विषय मे कोई निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता कि वे कितने पुराने हैं और कितने समय से उनकी अनवरत परम्परा चली आ रही है। किन्तु इतना अवश्य है कि आसनो के आदि उपदेष्टा शिवजी होने के कारण उनकी प्राचीनता और ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नही रह जाता। विद्वानो का यह मत भी समीचीन प्रतीत होता है कि योगशास्त्र अध्यात्म विद्या का प्रतिपादक होने से उसमे निहित आसन सम्बन्धी ज्ञान भी योग शास्त्र की भांति प्राचीनतम है।

आसनो की प्राचीनता, ऐतिहासिकता और परम्परा के प्रसंग मे कहा जाता है कि आसनो के ज्ञान का प्रसार करने वाले ऋषि-मुनि और योगियो में वैसे तो अनेक नाम उल्लेखनीय हैं, क्योकि अपनी ज्ञान साधना, तपश्चरण और आत्मा सिद्धि के लिए उन्हें योगासनों का ही आश्रय लेना पड़ता था। किन्तु योगासनो के प्रथम व्याख्याकार

के रूप में ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर महान योगी गोरखनाथ का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है जिन्होने अपने निकटतम शिष्यों को योगासन का उपदेश करते हुए उन्हें उनकी विधिवत् व्यावहारिक शिक्षा दी। उन्होने वैज्ञानिक ढग से आसनो की विधि अपने शिष्यों को सिखलाई। अत: वर्तमान मे हमारे सामने जो योगासन हैं उनके प्रथम व्याख्याकार गोरखनाथ जी थे। उनके पश्चात् यह क्रम निरन्तर चलता रहा। अनेक शिष्यो-प्रशिष्यो के माध्यम से यह परम्परा सतत चलती रही। हठयोग प्रदीपिका में विस्तार पूर्वक उन शिष्यो का नामोल्लेख किया गया है।

प्राचीन काल में ऋषि, मुनि, तपस्वी और योगीजन सामान्यत: नगरों और जन समुदाय से दूर जगलो, पर्वतो ?ौर कन्दराओ मे रहते हुए अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। सांसारिक बातो से उन्हे कोई प्रयोजन नही था, साधना और तपश्चरण ही उनका एक मात्र लक्ष्य था। उनका जीवन पूर्णत: प्रकृति पर आश्रित, सादा और सरल था। वे ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण एकनिष्ठ तपस्वी होते थे। सभी प्रकार की चिन्ताओ से मुक्त उनका जीवन उन्मुक्त प्रवाह की भाति अविरल रूप से प्रवाहित था। ऐसी स्थिति मे उनके द्वारा प्रयोगात्मक रूप से जो आसन अपनाए गए और जिन्हें उन्होने जन सामान्य के लिए उपयोगी पाया उनका ही उपदेश उन्होने अपने शिष्यो को दिया। कहा जाता है कि वन्य प्रान्त और पर्वत-कन्दराओ मे विचरण करने वाले पशुओं का उनसे निकटतम सम्बन्ध था। वे उन वन्य पशुओ की प्रत्येक गतिविधि का बडी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया करते थे और आवश्यकतानुसार उसका अनुसरण करते थे। इस प्रकार वन्य जीव-जन्तुओं की गति विधियों के अध्ययन से आसन और योग की विभिन्न विधियो का विकास हुआ। यही कारण है कि योग को रोगो के उपचार की एक सरल, प्राकृतिक और प्रभावशाली प्रणाली माना जाता है। आसनों के प्रयोग से चिरकाल से विविध रोगो का उपचार किया जाता रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आसनो की परम्परा अति प्राचीन काल से निर्बाध रूप से चली आ रही है। शास्त्रीय प्रमाणो और वैदिक साहित्य मे मिलने वाले आसन सम्बन्धी उद्धरणो से आसनो की ऐतिहासिकता प्रमाणित एवं निर्विवाद है। यह एक महत्व पूर्ण तथ्य है कि योगविद्या या आपन सम्बन्धी ज्ञान का सम्बन्ध किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से नहीं रहा। सभी धर्मों ने समान रूप से उसे आत्मसात् किया। योगासनो की विभिन्न मुद्राओ मे अंकित अनेक मूर्तियां इसके प्रमाण हैं जो पुरातत्वीय सर्वेक्षण के अन्तर्गत की गई भूगर्भीय खुदाई में उपलब्ध हुई हैं। आज भी ऐसी अनेक कलाकृतियाँ या मूर्तियां भूगर्भ से निकल रही हैं जो किसी विशिष्ट योगासन मे अंकित रहती हैं। इसके अतिरिक्त क्या इस तथ्य से योगासनो की प्राचीनता

सिद्ध नहीं होती कि योगासन कोई कृत्रिम प्रक्रिया नही है, अपितु एक प्रकृति प्रदत्त सहज प्रक्रिया है जिसे प्राणि गर्भ से ही सीख कर आता है। अतः यह मानना अयुक्ति संगत नही होगा कि योगासन का इतिहास भी उतना प्राचीन है जितना प्राचीन प्राणि-सृष्टि का इतिहास है।

आधुनिक युग में आसन की उपयोगिता

आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील वैज्ञानिक युग मे भारतवासियो का जीवन द्रुतगति से विलासिता की ओर बढता जा रहा है। विभिन्न प्रकार के श्रम साधनों से हटकर मशीनो तथा अन्य भौतिक साधनो पर हमारा जीवन अधिक निर्भर होता जा रहा है। कृत्रिमता आज हमारे जीवन मे इस तरह से व्याप्त हो गई है कि हमारे रहन-सहन का ढग, हमारा आचरण, हमारा व्यवहार, हमारे खाने पीने की आदतें, सब कुछ कृत्रिम हो गई है। इस प्रकार वर्तमान युग मे हमारा जीवन प्रकृति से हटकर कृत्रिम होता जा रहा है। जीवन का नैसर्गिक सौन्दर्य एक प्रकार से नष्ट हो गया है। हमारे दैनिक भोजन मे प्राकृतिक तत्वो का स्थान कृत्रिम रसायनो और तज्जनित मिश्रणो ने ले लिया है जिसका दूषित और घातक प्रभाव हमारे शरीर मन और मस्तिष्क को प्रभावित किए बिना नही रहता। भौतिकवाद की चकाचोंध मे हम अपने हिताहित के विवेक को भी खो बैठे हैं और आख बद कर मीठे जहर को आत्मसात् करते जा रहे है। इसके दूरगामी और कालान्तर भावी अनेक परिणाम आज हमारे सम्मुख विद्यमान है, किन्तु फिर भी विलसिता के क्षणिक सुखो मे डूबा हुआ हमारा जीवन बेसुध है। श्रम विहीन आलस्य पूर्ण विभिन्न विधिया आज हमारे जीवन की मुख्य अग बनी हुई है। ऐसी स्थिति मे आसन की क्या उपयोगिता है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या योगासनो के द्वारा हमारे आधुनिक विलासितापूर्ण जीवन मे परिवर्तन लाया जा सकता है ? इस का सीधा सा उत्तर है कि योगासन हमारे शरीर, मन और मस्तिष्क को प्रत्यक्षत. प्रभावित करते है। अत: योगासनो के द्वारा निश्चित ही जीवन की वर्तमान धारा को बदला जा सकता है और जीवन मे प्राकृतिक स्वास्थ्य और सौदर्य का सुखमय प्रवाह प्रवाहित किया जा सकता है।

वर्तमान समय मे अनेक प्रकार की सुख सुविधाए, विभिन्न प्रकार की भौतिक साधन सामग्री होते हुए भी आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक रोगग्रस्त है। आज मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक साधन एव चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है, फिर भी विभिन्न प्रकार के रोग उसे घेरे हुए है। इसका मूल कारण है हमारा आधुनिक विलासिता पूर्ण जीवन और हमारे दैनिक भोजन मे प्राकृतिक तत्वो का ह्रास या अभाव। यदि शास्त्र समस्त योगासनो का अभ्यास निरन्तर किया जाय तो उन दोनो ही कारणों

का निवारण स्वत: ही हो जाता है। आसनाभ्यासी मनुष्य को विलासिता पूर्ण जीवन का परित्याग करना होता है और अपने आहार मे परिवर्तन कर उसे पूर्णत: शुद्ध, सात्विक, लघु और सुपाच्य आहार ग्रहण करना होता है। इसके अतिरिक्त स्वयं योगासनो मे रोग नाशक विशेष क्षमता होने के कारण शरीर में रोगाक्रमण की सभावना नितान्तत: निर्मूल हो जाती है। योगासनो के द्वारा शरीरगत विजातीय दूषित पदार्थों का निष्क्रमण होता है और शरीर मे लाघव एव प्रसन्नता का अनुभव होता है। योगासन मानसिक तनाव को दूर करने का एक अपूर्व साधन है। कुण्ठा और निराश से आपूरित मानव जीवन के लिए योगासन अमूल्य वरदान की भाति है।

आधुनिकता आज हमारे जीवन का अनिवार्य अग बन गई है। वह हमारे जीवन मे दूध और पानी की तरह घुली मिली है। शारीरिक आराम और इन्द्रिय सुख मे रत रहना उसी आधुनिकता की देन है। आज मनुष्य उसे अपने जीवन के लिए वरदान समझ रहा है, जबकि वस्तुत हमारे जीवन के लिए वह अभिशाप बनी हुई है। आधुनिक जीवन के जो भयकर दुष्परिणाम हमारे सामने आए है उनसे बचने और मानसिक तनाव को दूर करने के लिए उस तथाकथित आधुनिकता के पास कोई सुगम साधन नही है। जब मनुष्य उत्तेजनात्मक भावो और विकारो से पीडित रहता है, कुण्ठा और तनाव से उसका जीवन दूभर हो जाता है तब वह इन सब से छुटकारा पाने तथा शान्ति और सुख पूर्वक जीवन यापन एव विश्रान्ति प्राप्ति के लिए बेचैन हो उठता है। आधुनिकता मे इसके लिए नीद की गोलिया खाना ही एकमात्र उपाय है। किन्तु इससे भी उसकी समस्या का समाधान नही होता। ऐसी स्थिति मे योगासनों का अभ्यास उसके लिए अत्यन्त लाभदायक एव उपयोगी हो सकता है। योगासनो के सतत अभ्यास से आधुनिक सभ्य जीवन के कब्ज, गठिया, जकडन, हृद्रोग, तनाव, दुश्चिन्ता, कुण्ठा, निराशा, स्नायु शैथिल्य वायु विकार (गैस) आदि अनेक रोगो से सहज ही मुक्ति पा सकता है वह अपने शरीर मे अधिक शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव करता है। योगासनों का सतत अभ्यास करने वाला मनुष्य अधिक सतर्कता पूर्वक जीवन के प्रति अपने उत्तर-दायित्वो का निर्वाह करता है और अधिक सक्षमता पूर्वक शारारिक एव मानसिक समस्या का सामना करने मे समर्थ होता है।

वर्तमान समय वैज्ञानिक आविष्कारो का युग है। आधुनिक वैज्ञानिक अविष्कारो ने मनुष्य की सुख सुविधा के लिए अनेक महत्वपूर्ण साधनो को प्रसूत या विकसित किया है। किन्तु फिर भी मनुष्य की महत्वाकाक्षाएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन मे जिस तीव्रता से मादक द्रव्यों का सेवन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है वह भारी चिन्ता का का विषय है। मादक

द्रव्यों का प्रयोग जहां मानसिक सतुलन को विगाड़ देता है वहाँ शरीर और मस्तिष्क के लिए भी उनकी हानिकर सम्भावाए अत्यधिक हैं। मादक द्रव्यो का किसी भी रूप मे प्रयोग मनुष्य के नैतिक पतन का मूलकारण है। कुछ लोग जो यह तर्क देते हैं कि जब अधिक काम करने से उनका मस्तिष्क थकावट का अनुभव करता है तो उसकी ताजगी और स्वस्थता के लिए वे अमुक द्रव्य का सेवन करते हैं। किन्तु यह एक थोथा तर्क है और इसमे कोई दम नही है। क्योकि जिस प्रकार तपाये हुए गरम लोहे को ठंडा करने के लिए यदि उस पर पानी डाला जाय तो इससे वह ठडा तो हो जाता है, किन्तु साथ ही साथ वह कमजोर भी हो जाता है। यही स्थिति मस्तिष्क और मादक द्रव्यो की है। मस्तिष्क की थकावट दूर करने के लिए केवल विश्राम ही उपयुक्त उपाय है, मादक द्रव्यो का सेवन नही। मस्तिष्क की शक्ति का विकास करने की दृष्टि से कतिपय योगासनो को अत्यन्त उपयोगी पाया गया है। कई बार मस्तिष्क मे जो तनाव और शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है उसके निराकरण मे योगासनो का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी होता है।

योगासनो के अभ्यास के द्वारा मानव जीवन की नीरसता को दूर कर उसे सरस बनाया जा सकता है। यौगिक क्रियाओ के परिणाम कई बार दैवी शक्ति की भाँति प्रतीत होते हैं। यौगिक आसनो के द्वारा शरीर-मन-आत्मा और मस्तिष्क मे ऐसा सतुलन स्थापित होता है कि जीवन निर्वाह अबाधगति से होता जाता है। हृदय मे सात्विक भावो का उदय होता है और ईर्ष्या, भय, द्वेष, क्रोध आदि वैकारिक भावो का क्रमश शमन होकर मानसिक भावो मे निर्मलता आती है। अत: आधुनिक युग के तनावपूर्ण वातावरण मे मनुष्य को शान्ति और सुख प्रदान करने के लिए योगासनो का अभ्यास अपरिहार्य रूप से करना चाहिए। ये आसन जीवन की अनेक विषमताओं को दूर करने, अनेक प्रकार के रोगो से मुक्त करने और मानसिक उद्विग्नता को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। आमनो का अभ्यास करने वाले मनुष्य को जीवन की यथार्थता का अनुभव होता है और वह जीवन के वास्तविक आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है।

आसनो का नियमित अभ्यास करने से मनुष्य दीर्घ आयु, निरोग जीवन तथा शान्त चित्तता तो प्राप्त करता ही है, उसके जीवन मे आध्यामिकता एवं लोकोत्तर सुख शान्ति का ऐसा प्रवाह आता है कि जीवन की सार्थकता का आभास सहज ही होने लगता है। आसनो का सतत अभ्यास शरीर एव मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है, वह शरीर में स्थित कशेरुक दण्ड (सुषुम्ना काण्ड) को भी विशेष रूप से अनुकूल रूप में प्रभावित करता है। सुषुम्ना काण्ड मे क्रियाशीलता रहने से वह लचीला बन जाता है जिससे वह प्राकृत रूप से अपनी क्रियाएँ करता है। आसनों के सतत अभ्यास से पृष्ठ

वंश लचीला रहता है, क्योंकि पृष्ठवंशीय कशेरुकाओं विशेषतः सम्पूर्ण सुषुम्ना काण्ड मे क्रियाशीलता रहने से वह स्वयं लचीला बन जाता है जिससे वह प्राकृत रूप से अपनी क्रियाए करता है। सुषुम्ना काण्ड की स्वस्थता एवं प्राकृत स्थिति मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। सामान्यतः यह देखा गया है कि जिस व्यक्ति का मस्तिष्क आर्द्रता युक्त होता है और सुषुम्ना काण्ड में लचीलापन होता है वह व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निश्चय ही स्वस्थ रहता है। साथ ही बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर भी उसे स्वस्थ पाया जाता है।

आसनो को प्राणायाम का पूरक माना जाता है, क्योंकि आसनाभ्यास मे दक्ष व्यक्ति को प्राणायाम मे होने वाली दुरुहता और कठिनाई का सामना नही करना पडता है। कतिपय विद्वानों का ऐसा भी मत है कि आसान और प्राणायाम दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं, क्योकि दोनो के योग से जीवन मे नव चेतना का सचार होता है, तथापि यह तो सन्देह से रहित है कि आसन और प्रणायाम का सुयोग मनुष्य के स्वस्थ सुखी-जीवन एवं दीर्घायुष्य के लिए परम हितावह है। अत यदि दोनो की अनुपूरकता मान ली जाय तो आपत्तिजनक नही है। इसके अतिरिक्त यह भी एक सुस्पष्ट तथ्य है कि आसनो का अभ्यास शरीर मे प्राणवायु के सचार को बढता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब शरीर मे प्राणवायु (आक्सीजन) की पूरी मात्रा पहुचती है तब वह फुफ्फुसो मे आने वाले रक्त का शोधन करती है, साथ ही कोशिकाओ को भी शक्ति निर्माण क लिये अपेक्षित तत्व प्राप्त होते हैं। इससे शरीर मे प्राण शक्ति एवं ऊर्जा का सवर्धन होता है।

आज अनेक लोग ऐसे हैं जिनके पास धन-दौलत की कमी नही है और वे भौतिक विलासिता पूर्ण जीवन मे डूबे हुए हैं। किन्तु वास्तव मे यदि देखा जाय तो उनके जीवन मे क्षण भर के लिए भी सुख और शान्ति नही है। शान्ति के लिए वे तरसते रहते हैं। सुरा सुन्दरी की उनके पास कोई कमी नही है। ऐसे लोग जीवन को वास्तविकता से काफी दूर रहते है। उनके पास सब कुछ होते हुए भी वे अपने नीरस जीवन की गाडी को खीचते जाते हैं। उनको होश तब आता है जब वे जीवन के सुनहरे क्षणो को कई बसन्तो के रूप मे व्यतीत कर चुके होते हैं और तब ही वे जीवन की नीरसता का अनुभव करते हैं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन निर्वाह के इस नीरस और निर्जीव ढग को आसनो के द्वारा ठीक किया जा सकता है। जीवन पद्धति को व्यवस्थित करने के लिए योगासन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है उसमे जीवन का वह वास्तविक आनन्द छुपा हुआ है जिसके लिए मनुष्य इधर उधर भटकता है। आध्यात्मिकता के सोपान के रूप मे आसन जीवन निर्वाह के लिए सही मार्ग प्रशस्त करते हैं। अतः निःसन्देह वे आधुनिक युग मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं।

कुछ लोग योगासनों की दुरूहता की शिकायत करते हैं। किन्तु यह बात सही नही है। कुछ प्रारम्भिक आसन तो इतने सरल हैं कि सहज ही उनका अभ्यास किया जा सकता है। अतः नवाभ्यासी को पहले सरल आसनो का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से कठिन आसन भी धीरे-धीरे सरल हो जाते है और मनुष्य उनका अभ्यस्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी नवीन वस्तु को नए ढग से सीखने मे कुछ कठिनता का अनुभव तो होता ही है। मनुष्य मे यदि रुचि, लगन और उत्साह हो तो वह कठिन से कठिन कार्य को भी करने मे समर्थ हो जाता है। अत मनुष्य को चाहिए कि वह आसनो का अभ्यास भी प्रयत्न पूर्वक करे। आसनो के अभ्यास से निश्चय ही उनके जीवन में सरसता और यथार्थता का सचार होगा। वह जीवन मे सच्चे सुख और सफलता का अनुभव करेगा।

आसनों की संख्या एवं प्रकार

आसनो की सख्या और प्रकार (भेद) के विषय मे शास्त्रो, शास्त्रकारो एव विद्वानो मे मतैक्य नही है। उपनिषदो मे इस विषय मे भिन्न भिन्न मत देखने को मिलते है। योग चूडमाण्युपनिषद् (३) मे सिद्धासन और कमलासन बतलाए गए हैं, जबकि योगकुण्डल्युपनिषद् (१/४) मे पद्म एवं वज्र इन दो आसनों का प्रतिपादन किया गया है। अमृतनादोपनिषद् (१८) मे तीन आसनो पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रक का उल्लेख है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (४३) एव योगतत्वोपनिषद् (२९) मे सिद्ध, पद्म, सिह एव भद्र इन चार आसनो को सभी आसनो मे मुख्य बतलाया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१/३) मे आठ आसनो का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है— स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिह, भद्रासन, मुक्तासन और मयूरासन। इसी उपनिषद् मे एक अन्य स्थान (१/३-१३) पर इन आठ आसनो के अतिरिक्त नौवा सिद्धासन भी बतलाया गया है। दर्शनोपनिषद् के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ मे निम्न नौ आसनो का उल्लेख मिलता है-स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, और सुखासन। वराहोपनिषद् (५/१५-१७) मे योगियो के लिए चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन कुँक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन इन आसनो का प्रतिपादन करते हुए चक्रासन का स्वरूप बतलाया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३४-५२) मे सत्रह आसनो का उल्लेख विवरण सहित मिलता है जिनमे उपर्युक्त ग्यारह आसनो के अतिरिक्त योगासन, बद्धपद्मासन, उत्तानकूर्मासन, मयूरासन, धनुरासन, और पश्चिमतानासन इन छह आसनो का विवरण अधिकता से प्रतिपादित किया गया है।

प्राचीनकाल मे योगियो ने पशु पक्षियो के बैठने के ढग तथा उनकी विशेषताओ का अध्ययन सूक्ष्मता से किया। उन्होने देखा कि पशु पक्षियो के बैठने के ढग अलग-

अलग प्रकार के हैं और वे किसी न किसी रूप में मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। इसीलिये योगियों ने उन पशु पक्षियों के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए आसन के रूप में उन्हें अपनाया और उनसे लाभ उठाया। जिस पशु या पक्षी के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए मनुष्य को विशेष लाभ या सुख का अनुभव हुआ, मनुष्य ने उसे अपनाकर बैठने के उस प्रकार विशेष का नामकरण उसी पशु या पक्षी विशेष के नाम के साथ जोड दिया। जैसे मयूरासन, कुक्कुटासन, मत्स्यासन, मकरासन आदि। इसके अतिरिक्त योगियो, ने पर्वत, वृक्ष, चक्र, धनुष आदि स्थावर द्रव्यो की स्थितियो के अनुकरण के आधार पर साधक के बैठने, खड़े होने आदि की स्थिति की कल्पना की। उस स्थिति में रह कर तज्जनित हानि-लाभ की विवेचना की तथा जिन स्थितियो मे उसे अनुकूलता प्रतीत हुई और लाभ का अनुभव हुआ उस स्थिति को आसन के रूप मे अपनाकर उसके आधार पर आसन का नामकरण किया। इससे आसन के अनेक प्रकार हो गए और सख्या अनन्त हो गई।

८४ आसनो के विषय मे कोई सर्वसम्मत राय वर्तमान मे उपलब्ध नही है। योगीजन या विद्वज्जन अपनी इच्छानुसार भिन्न भिन्न आसनो का निर्धारण स्वत: ही कर लेते हैं जिससे आसनो मे तो भिन्नता प्रतीत होती ही है, उनकी सख्या मे भी पर्याप्त भिन्नता लक्षित होती है। वर्तमान मे विभिन्न योगियों, योगशास्त्र के ज्ञाताओ और विद्वानो के जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमे अनेक आसनों के नामों और उनकी सख्या में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। अतः सर्वसम्मत ८४ आसनों के नाम यहाँ लिखना सम्भव नही है। फिर भी प्रचलित सभी आसनो को संकलित कर उनमें से ८४ आसनो का नाम-निर्देश यहा किया जा रहा है जो सर्व सम्मत तो नही है, किन्तु अधिक सख्य-सम्मत हो सकता है। ८४ आसन निम्नलिखित है—

१- पद्मासन	२-सिद्धासन	३-स्वस्तिकासन
४-सुखासन	५-वीरासन	६-भद्रासन
७-वज्रासन	८-नौकासन	९-शवासन
१०-अद्धासन	११-ज्येष्टिकासन	१२-मकरासन
१३-सिद्धायोनि आसन	१४-उत्कटासन	१५-शशाँकासन
१६-मार्जारि आसन	१७-मृगासन	१८-प्रणामासन
१९-सूर्यनमस्कार	२०-उष्ट्रासन	२१-सुमेरु आसन
२२-व्याघ्रासन	२३-नाभि आसन	२४-कटिचक्रासन
२५-ताडासन	२६-लोलासन	२७-मेरुपृष्ठासन
२८-उत्तानासन	२९-कोणासन	३०-दोलासन

३१-मत्स्यासन	३२-पवनमुक्तासन	३३-हृदयस्तम्भास
३४-कुक्कुटासन	३५-तोलागुलासन	३६-भुजगासन
३७-शलभासन	३८-धनुरासन	३९-ग्रीवासन
४०-कंधरासन	४१-सेतु आसन	४२-शीर्षपादासन
४३-अर्धचन्द्रासन	४४-पृष्ठासन	४५-गोमुखासन
४६-मेरुवक्रासन	४७-शीर्षासिन	४८-कपालि आसन
४९-सर्वाङ्गासन	५०-गरुडासन	५१-वकासन
५२-पर्वतासन	५३-मेरुदण्डासन	५४-वशिष्ठासन
५५-नटवरासन	५६-नटराजासन	५७-पूर्णमत्स्येन्द्रासन
५८-कूर्मासन	५९-धनुराकर्षणासन	६०-वृश्चिकासन
६१-मयूरासन	६२-हनुमानासन	६३-ब्रह्मचर्यासन
६४-मूलबधासन	६५-गोरक्षासन	६६-अष्टवक्रासन
६७-हलासन	६८-योगमुद्रासन	६९-खगासन
७०-ध्रुवासन	७१-तुलासन	७२-मण्डूकासन
७३-शुतुरमुर्गासिन	७४-हसासन	७५-हस्तपादगुप्तासन
७६-जानुशिरासन	७७-पादतलसयुक्त मूर्द्धा स्पर्शासन	७८-योगासन
७९-लता आसन	८०-कन्दपीडासन	८१-नाभिपीड़ासन
८२-समकोणासन	८३-द्विकोणासन	८४-त्रिकोणासन

यहा चौरासी आसन गिनाए हैं। इनमे से कुछ आसन ऐसे भी हैं जिनके दो तीन या अधिक भेद होते हैं। सूर्य नमस्कार दस क्रियाओ मे सम्पन्न होता है। इन चौरासी आसनो की सख्या सौ से भी अधिक हो सकती है। अतः यहा प्रमुख आसन ही गिनाए गए हैं, अन्य असनो को छोड दिया गया है। किन्तु अपनी आवश्यकता एवं सुविधा के अनुसार उनका भी अभ्यास किया जा सकता है।

हठयोग प्रदीपिकाकार श्री स्वात्माराम योगी ने अष्टांग कथन के अन्तर्गत आसन का कथन सर्वप्रथम किया है। आसन के अन्तर्गत उन्होने कुछ प्रमुख निम्न आसनो का उल्लेख वर्णन पूर्वक भी किया है जैसे—स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन कुक्कुटासन, उत्तान कूर्मासन, धनुरान, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमतान आसन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, सिहासन और भद्रासन। इन आसनो मे से अतिम चार आसनो को वे सर्वश्रेष्ट मानते हैं। यथा—

> सिद्धं पद्म तथा सिह भद्रं चेति चतुष्टयम्।
> श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा॥
>
> —हठयोग प्रदीपिका १/३९

अर्थात्—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, और भद्रासन ये चार आसन सर्वश्रेष्ट हैं। इन मे भी सिद्धासन मे योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है।

हठयोग प्रदिपिका मे यद्यपि केवल पन्द्रह आसनों का वर्णन किया गया है, किन्तु कुल आसनो की सख्या उन्हें भी चौरासी ही अभिष्ट है। वे ८४ आसनो मे ही उपर्युक्त चार आसनों को श्रेष्ट मानते है, अत: वे लिखते है—

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्।।

—हठयोग प्रदीपिका १/३४

अर्थात्—भगवान शिवजी के द्वारा चौरासी आसन का कथन किया गया है। उनमे से सारभूत चार आसनों को लेकर मैं उन चार आसनो का कथन करता हूं।

इस प्रकार हठयोग मे चार आसनो को सर्वश्रेष्ठ एंव विशेष उपयोगी बतलाया गया है। इसका कारण सम्भवत यह हो सकता है कि इन चतुर्विध आसनो मे योगी स्थिरता एव सुखपूर्वक बैठ सकता है। योगियो को अभीष्ट सिद्धि अर्थात् परम ब्रह्म साक्षात्कार कराने मे भी ये ही आसन अधिक उपयोगी होते हैं। योगियो के अतिरिक्त अन्य महा-पुरुष भी अधिकाशतः इन्ही चार आसनो मे से किसी एक आसन का आलम्बन लेकर अपनी साधना मे तत्पर हुए और अन्त मे कार्य सिद्धि में समर्थ हुए।

वर्तमान मे सामान्यत. आसनो की सख्या ८४ है। योगशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में आसनो की सख्या ८४ लाख बतलाई गई है। इस सख्या का आधार सम्भवतः शास्त्रोक्त यह परिकल्पना है कि ससार मे प्रत्येक योनि के जीव का आसन भिन्न होने से और शास्त्रो में जीवयोनि की सख्या ८४ लक्ष होने से आसनो की कुल सख्या ८४ लाख होती है। ऐसा भी उल्लेख से मिलता है कि शिव जी ने प्रत्येक लक्ष योनि के आसनो मे से एक एक आसन छाटकर अभ्यास के लिए उनकी सख्या ८४ निर्धारित की। अतः प्रत्येक आसन एक-एक लाख योनि के जीवो का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा इनका इतिहास शास्त्रो मे मिलता है। इस प्रकार आसनो की संख्या ८४ है।

इन आसनो के दो प्रकार हैं—शरीर संवर्धनात्मक और ध्यान धारणात्मक। इनमें शरीर सवर्धनात्मक आसन बैठने के नही होते। उनकी अंतिम स्थिति में पहुंचने के लिए पृष्ठवश तथा शरीर के षडंगों को मोडने और सीधा तानने की आवश्यकता होती है, इसलिए उनको सिद्ध करने में तथा सिद्ध करने पर दीर्घकाल तक धारण करने मे बहुत कष्ट होता है। इस प्रकार के आसन के अन्तर्गत शीर्षासन, सर्वांगासन, भुजंगासन, मयूरासस, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, हलासन, शलभासन, आदि आसनों का समावेश है। ये आसन शरीरसंवर्धनात्मक प्रकार के सुपरिचित उदाहरण है।

द्वितीय प्रकार के आसन ध्यानधारणात्मक होते हैं। ये आसन दीर्घकाल तक ध्यान धारण करने के लिए होने से सरल और सुखप्रद हुआ करते हैं। ये आसन थोड़े अभ्यास से ही दीर्घकाल तक धारण किये जा सकते हैं। सिद्धासन और स्वस्तिकासन प्रमुख ध्यान धारणात्मक शासन हैं।

कही कही तीन प्रकार से आसनो का अभ्यास किए जाने का उल्लेख मिलता है। यथा—(१) खडे होकर, (२) बैठकर और (३) लेटकर। तदनुसार सभी चौरासी आसनो को इन तीन प्रकार मे वर्गीकृत या विभाजित किया जा सकता है।

उपर्युक्त दोनो अथवा तीनो ही प्रकार के आसनो मे अतः स्पष्ट है कि हो जाता है जो लोग आसनो का अभ्यास व्यायाम के रूप मे केवल शरीर के सवर्धन और पुष्टि के लिए तथा बलाधानार्थ करना चाहते हैं इन्हें शरीरसर्धनात्मक आसनो का का ही अभ्यास करना चाहिए। ये आसन शरीर के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

आसनाभ्यास से पूर्व ज्ञातव्य

आसनो का अभ्यास करने से पूर्व कुछ आचणीय बातो का ध्यान रखना भी आवश्यक है, अन्यथा आसनो का पूर्ण लाभ और फल प्राप्त करना सम्भव नही होगा। ऐसी स्थिति मे आसनो का अभ्यास निरर्थक एव अनुपयोगी प्रतीत हो सकता है। वस्तुत. आसन हमारे लिए उपयोगी, प्रभावशाली और लाभकारी तब ही हो सकते हैं जब उनका विधि पूर्वक, समुचित ढग से यथावश्यक निर्देशो को ध्यान मे रखते हुए और तत्सम्बन्धी नियमो का पालन करते हुए अभ्यास किया जाय। आसनो का अभ्यास चाहे योग साधना के लिए किया जाय अथवा स्वास्थ्य लाभ एव रोग-मुक्ति के लिए किया जाय आवश्यक निर्देशो और सम्बन्धी नियमो का पालन करना आवश्यक है। आसनाभ्यास करने से पूर्व एव अभ्यास करते समय कुछ मुख्य बातो का ध्यान रखा जाना चाहिए जो निम्न हैं—

१—आसनो का अभ्यास करने से पूर्व मूत्राशय, मलाशय और आतो को खाली कर लेना आवश्यक है। आसनाभ्यास के समय विबन्ध (कब्ज) की स्थिति होना ठीक नही है। प्रतिदिन आसनाभ्यास से पूर्व मलत्याग का एक निश्चित समय निर्धारित कर लेना चाहिए। ऐसा करने से कुछ दिनो बाद निर्धारित समय पर स्वतः ही मल त्याग की इच्छा होने लगेगी। मल प्रवृत्ति के लिए यथा सम्भव आंतो पर जोर न डाला जाय अपितु सम्पूर्ण शरीर को यूं ही ढीला छोड देना चाहिए। शरीर को शिथिल करने से आतो मे स्वभावतः आकुञ्चन-प्रसारण की क्रिया होने लगेगी और कुछ सप्ताह पश्चात् आतें स्वय ही प्रतिदिन निश्चित समय पर मलप्रवृति करने लगेंगीं।

२—विबन्ध (मलावरोध या कब्ज) की स्थिति होने पर तीक्ष्ण विरेचक

औषधियों के प्रयोग (जुलाब) से बचना चाहिए। आसनों के अभ्यास के द्वारा ही विबन्ध को दूर करना चाहिए। इसके लिए दो तीन गिलास हल्का नमकीन पानी पीकर तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्रासन, तिर्यक्-भुजंगासन, उदराकर्षणासन आदि का अभ्यास अपनी सुविधानुसार करना चाहिए। इससे निश्चय ही कब्ज में राहत मिलेगी। इन आसनो के अभ्यास से यदि कोई विशेष लाभ लक्षित न हो तो पवनमुक्तासनों के अभ्यास का क्रम अपनाना चाहिए। यह अवश्य ही विबन्ध को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा।

३—आसनाभ्यास करते समय पेट (आमाशय) का खाली रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि भोजन करने के लगभग चार घंटे बाद तकआसनाभ्यास नही करना चाहिए। प्रात: काल शौच आदि आवश्यक क्रियाओ से निवृत्त होने के बाद आसनाभ्यास करना सबसे अधिक अच्छा माना गया है। क्योंकि उस समय पेट भी खाली रहता है और आते भी खाली हो जाती हैं।

४—आसनाभ्यास के समय केवल नासिका के द्वारा ही श्वासोच्छ्वास किया जाना चाहिए। यदि किसी आसन विशेष मे इसके विपरित निर्देश दिया गया हो तो तदनुसार ही अभ्यास करना चाहिए।

५—आसनो का अभ्यास ऐसे खुले हुए हवादार कमरे में करना चाहिए जहा का वातावरण स्वच्छ, शात और उपयुक्त हो। कमरे मे निर्बाध रूप से शुद्ध और ताजी वायु का आवागमन रहना चाहिए, ताकि श्वास के लिए पर्याप्त रूप से प्राणवायु प्राप्त हो सके। कमरे में यथावश्यक प्रकाश-किरणे भी पडती हुई होनी चाहिए, ताकि वहा के वातावरण मे जीवाणु-सक्रमण की सम्भावना न हो। साथ ही, यथा सम्भव कमरा पूर्णत' खाली होना चाहिए या कमरे मे बहुत कम सामान होना चाहिए जिससे अभ्यास करने मे असुविधा या बाधा उत्पन्न न हो।

६—अभ्यास के समय कमरे में एकान्त होना आवश्यक है। ऐसा होने से अभ्यासी या योगी व्यक्ति दत्त चित्त हो कर आसनो का अभ्यास कर सकता है।

७—आसनो का अभ्यास घर से बाहर किसी खुले हुए स्थान मे भी किया जा सकता है। किन्तु वह स्थान ऐसा होना चाहिए जहा किसी प्रकार की गन्दगी, धुआं या दूषित वायु का प्रवेश न हो। वह स्थान कोलाहल से रहित पूर्णत: एकान्त और शान्त होना चाहिए। इस दृष्टि से कोई सुन्दर बाग-बगीचा एक उपयुक्त स्थान है।

८—अभ्यास के समय भूमि पर अच्छा सा आसन बिछा लेना चाहिए जो पर्याप्त लम्बा-चोड़ा हो। अथवा कम्बल को चार पर्तों में मोड़ कर भी आसन की जगह बिछाकर प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु मुलायम गद्देदार या हवा भरे हुए बिछावन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

९—अभ्यास करते समय किसी भी आसन के लिए जोर लगाना उचित नहीं है। सदैव तनाव की स्थिति से बचना चाहिए और मस्तिष्क चिन्ता से मुक्त होना चाहिये। अभ्यास के समय मानसिक शाति एव स्थिरता भी अत्यन्त आवश्यक है।

१०—आसनाभ्यास करने के लिए 'ब्राह्म मुहूर्त' का समय सर्वाधिक उपयोगी होता है। जो व्यक्ति किसी कारणवश ब्राह्म मुहूर्त (प्रातः ४ से ६ बजे तक) मे आसनाभ्यास न कर सके उन्हे प्रातः ६ बजे से ७ बजे तक अभ्यास करना उपयोगी होगा। अन्यथा भोजन करने के बाद चार घटे छोड कर किसी भी समय अभ्यास किया जा सकता है।

अगलाघवार्थ जिन आसनो का अभ्यास किया जाय उन्हे दीर्घकाल तक प्रतिदिन एक आसन का अभ्यास करने की अपेक्षा अनेक आसन थोडी-थोडी देर तक करना, प्रतिदिन कुछ नए आसनो को बदलते रहना और इस प्रकार परिवर्तन के साथ अधिक आसनो को करने का अभ्यास करना अधिक श्रेयस्कर एव सुखप्रद है।

आसन से लाभ

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यौगिक आसन शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी, महत्वपूर्ण एव लाभदायक हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आसनो का निरन्तर अभ्यास करने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। शारीरिक आसन मुख्य रूप से शरीर और उसके समस्त बाह्य-आभ्यन्तरिक अवयवो को प्रभावित करते है। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर के रुग्ण अवयव भी क्रियाशील हो जाते है और प्राकृत रूप से अपना कार्य करने लगते हैं। शारीरिक आसनो का एक प्रभाव यह होता है कि शरीर मे स्थित अन्त स्रावी ग्रन्थियां अपना कार्य सुचारू रूप से करने लगती हैं और सम्पूर्ण अन्त.स्रावी ग्रन्थि प्रणाली नियन्त्रित व सुव्यवस्थित हो जाती है। फल स्वरूप सभी ग्रथियो से उचित मात्रा मे रस का स्राव होता है जो विभिन्न दृष्टि से शारीरिक विकास के लिए उपयोगी एव आवश्यक है।

आसनो का नियमित अभ्यास सभी आन्तरिक अवयवो को क्रियाशील बनाने मे सहायक होता है। शरीर की मांस पेशियां स्वस्थ और क्रियाशील हो जाती हैं। आमाशय, ग्रहणी, आत, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, हृदय आदि अवयव अपना कार्य सुचारू रूप से करते हैं। आसन के द्वारा श्वासोच्छ्वास की नियन्त्रित गति और सतत रूप से प्राणवायु का ग्रहण होते रहने से फुफ्फुस स्वस्थ एवं क्रियाशील रहते हैं। शरीर मे रक्त शुद्धि और रक्त प्रवाह यथोचित रूप से होता है। इससे हृदय को शक्ति एवं गति प्राप्त होती है। शरीर मे रक्त संचार ठीक रहने से अनेक रक्त सम्बन्धी व्याधिया नहीं हो पातीं और रक्तचाप भी सामान्य और नियन्त्रित रहता है। रक्त के द्वारा सभी अवयवो

को सामान्य रूप से पोषण प्राप्त होता रहता है। शरीर के सभी संस्थान,जैसे रक्तवह संस्थान, श्वासवह संस्थान, आदि प्राकृत रूप से अपना कार्य सम्पादित करते हैं और शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाए रखते हैं। सभी संस्थानो, अवयवों आदि के द्वारा प्राकृत रूप से अपना कार्य करने के कारण शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि होती है जिससे शरीर पर अकस्मात् रोगाक्रमण नही होता और शरीर रोगों से बचा रहता है। इस प्रकार आसनो के अभ्यास का प्रभाव शरीर के बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनो संस्थानों एवं सम्बन्धित अवयवों पर पड़ता है, जिससे स्नायुमण्डल, अंत स्रावी ग्रंथियाँ, माँस पेशिया, सधियां और अन्यान्य आन्तरिक अंग सुचारू रूप से अपना कार्य करते हैं।

आसनो के अभ्यास का जितना प्रभाव शरीर पर पडता है उतना ही प्रभाव मन पर भी पडता है। आसनो के अभ्यास से मन की चञ्चलता शनैः शनैः दूर होकर मन मे स्थिरता और शांति आती है। आसनों के दीर्घकालीन अभ्यास के आधार पर यह अनुभव किया गया है कि इससे अनेक प्रकार के मानसिक विकारो और व्याधियो के उपशमन मे बडी सहायता मिलती है। आसनो का प्रत्यक्ष प्रभाव स्नायुमण्डल पर पड़ता है जिससे तनाव और उत्तेजना की स्थिति का निर्माण नहीं हो पाता और मानसिक सन्तुलन बना रहता है। मन मे उत्पन्न होने वाले विविध भावो पर आसनों का पर्याप्त प्रभाव पडता है। ऐसे भाव जो मानसिक विकृति को उत्पन्न करने वाले होते है भी आसनो के द्वारा प्रभावित और नियन्त्रित होते हैं। आसनो से मन की दृढ़ता और एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है। अन्य मानसिक शक्तिया भी विकसित होती हैं। अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओ, समस्याओं और कुण्ठापूर्ण स्थितियों से मुक्ति प्राप्त होती है। स्नायुमण्डल की शिथिलता से होने वाले विकारो के होने की सम्भावना भी निर्मूल हो जाती है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए आसनों का अभ्यास निश्चय ही उपयोगी है।

आसनो के द्वारा मस्तिष्क सम्बन्धी विभिन्न शक्तिया भी विकसित होती है। मस्तिष्क शक्तिशाली बनता है और उससे सम्बन्धित अन्यान्य प्रवृत्तिया निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। मस्तिष्क का सतुलन बना रहता है, जिससे वह सदैव स्फूर्त, क्रियाशील, सजग ओर स्वस्थ वना रहता है। कुछ विशिष्ट आसन ऐसे भी हैं जो केवल मष्तिष्क को प्रभावित कर उसे न केवल स्वस्थ बनाते हैं अपितु उसकी अन्यान्य शक्तियों का विकास भी करते हैं। आसनो के प्रभाव से रक्तप्रवाह सुचारू एव सुव्यवस्थित होकर मस्तिष्क को यथावश्यक पोषण प्रदान करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मस्तिष्क को पोषण प्रदान करने मे रक्त और उसके व्यवस्थित प्रवाह की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

यद्यपि आसन और व्यायाम में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी आसनो को एक विशिष्ट मास पेशी का व्यायाम कहा जा सकता है। हमारे दैनिक जीवन मे सामान्य क्रिया कलापो के द्वारा शरीर की सभी माँस पेशियों को पूर्ण व्यायाम नही मिल पाता, जिससे वे प्राय: शिथिल बनी रहती हैं। योगासनो के द्वारा शरीर की लगभग सभी मास पेशियो को समुचित व्यायाम मिलता है, शरीर मे समुचित रूप से रुधिराभिसरण होकर उनके दोष दूर होते हैं, जिससे उन्हे पर्याप्त पोषण प्राप्त होता है। आसनो के द्वारा अग लाघव और स्वस्थता का जो अनुभव होता है वह आसनो से होने वाले मासपेशियो के विशिष्ट व्यायाम का ही सुपरिणाम है।

आसनो मे कुछ आसन ऐसे भी है जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसे आसन राजयोग के लिए साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस दृष्टि से उन आसनो का कार्य समाधि की ओर अग्रसर करने वाले उच्च यौगिक अभ्यास, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के लिए शरीर को स्थिर बनाना है। हठयोग मे आसनो का वही स्थान है जो अन्य अगो का है। कुछ विद्वानो के अनुसार हठयोग मे आसनो का विशेष स्थान है, इसीलिए उसका कथन सर्वप्रथम किया गया है। एक प्रकार से हठयोग और उसके पश्चात राजयोग का मूल आधार आसन ही है। वस्तुत. हठयोग का गहन सम्बन्ध शरीर को उच्च आध्यात्मिक प्रक्रिया के लिए तैयार करने वाले साधन विशेष से है। इसीलिए इस (हठयोग) मे आसनों के द्वारा शरीर और मन की स्थिरता, दृढ़ता एवं शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। आसान स्वयं आध्यात्मिक अनुभव भले ही नही करा सकें किन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि आध्यात्मिक मार्ग के वे एक महत्वपूर्ण सोपान हैं और किसी भी आध्यात्मिक जिज्ञासु का काम आसन के बिना चलना सम्भव नही है।

इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से आसान की उपयोगिता निर्विवाद है। वे सभी वर्ग के सभी व्यक्तियो के लिए समान रूप से हितकारी हैं। हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता जैसे प्राचीन ग्रथो मे इनका विस्तृत विवरण मिलता है। अत: हमारे लिए आवश्यक है कि इन का अध्ययन कर समुचित रूप से ज्ञान प्राप्त करे और योग्य गुरु के मार्ग निर्देशन मे इनका विधि पूर्वक अभ्यास करते हुए इनसे होने वाले लाभ अर्जित करे।

योगासन और आयुर्वेद

योग शास्त्र मे जिस प्रकार आसनो का वर्णन किया गया है उस प्रकार का वर्णन या उल्लेख यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र मे नही है, किन्तु योगासनों का आयुर्वेद के साथ निकटतम सम्बन्ध है-इसमे दो मत नही हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और व्याधि पीड़ित मनुष्य के रोग का निवारण करना है। जैसा कि महर्षि चरक ने स्वयं ही प्रतिपादन किया है—"स्वस्थ स्यस्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकार प्रशमनम्।" इस प्रयोजन की सिद्धि के द्वारा ही वह मनुष्य को दीर्घायुष्य का लाभ कराता है। योगसनो के सतत अभ्यास से प्रथमत मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा होती है और यदि वह किसी रोग से पीड़ित होता है तो उसके रोग का प्रतिकार होता है। योगासनो के निरन्तर अभ्यास से शरीर के मुख्य सस्थान जैसे रुधिराभिरण संस्थान (Circulatory System) स्नायु सस्थान (Nervous System), श्वसन सस्थान (Respiratory System), माँस सस्थान (Muscular System), पाचन सस्थान (Digestive Sytem) आदि प्रभावित होते हैं। ये व्यवस्थित होकर सुचारु रूप से इनके कार्य का सम्पादन होता है, जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा होती है, रोग का निवारण होता है और शरीर एवं उसकी शक्तियों का विकास होता है। इसका व्यापक प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। शरीर मे बलाधान होता है, अगो मे सौष्ठव और कार्यक्षमता आती है, आभ्यन्तरिक अवयव और अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता सुनियोजित एव नियन्त्रित होती है, आरोग्य लाभ होता है, यौवन में स्थिरता आती है, शरीर में दृढ़ता और स्थिरता के साथ स्फूर्ति का संचार होता है जिससे दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योगासनो से दीर्घायु प्राप्ति रूप जो फल मिलता है, आयुर्वेद के द्वारा भी अन्ततः वही फल प्राप्त किया जाता है।

योगासन वस्तुतः मानसिक शान्ति प्राप्त करने के अपूर्व साधन हैं। योगासनों से जहाँ चित्त में स्थिरता एवं एकाग्रता आती है वहाँ उसके द्वारा अनेक मानसिक विकारों

का उपशम होता है, जिससे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। योगासनों की यह एक विशेषता है कि ये आसन शरीर को जितना स्वस्थ रख सकते हैं उससे कही अधिक अशो मे ये मन की एकाग्रता और शक्ति को बढ़ाते हैं। मन की एकाग्रता से विकसित होने वाली धी (बुद्धि), स्मृति (स्मरण शक्ति या मेधा) आदि बौद्धिक शक्तियो का विकास करते हैं। अत. सहज ही मानसिक एवं बौद्धिक विकास मे योगासन सहायक होते हैं। आयुर्वेद मे भी इनके विकास हेतु किए जाने वाले उपायो की पर्याप्त रूप से चर्चा की गई है।

आयुर्वेद मे जिस प्रकार अनेक रोगो का शमन औषधोपचार के द्वारा किया जाता है उसी प्रकार योग शास्त्र मे आसनो के द्वारा अन्यान्य रोगो का प्रतिकार वर्णित है। योगासन वस्तुत. प्रत्यक्ष रूप से किसी रोग को प्रभावित नही करते, अपितु वे विभिन्न सस्थानो (Systems) और आभ्यन्तरिक अवयवो को प्रभावित कर उनकी क्रियाओ को सुचारु एव व्यवस्थित करते हैं जिससे उस सस्थान या अवयवगत विकृति का निराकरण होकर रोग का शमन होता है। अत यहाँ शरीर मे स्थित संस्थानो, अवयवो और ग्रथियो को प्रभावित करने वाले आसनो का उल्लेख किया जा रहा है।

सस्थानों को प्रभावित करने वाले आसन

१ श्वसन सस्थान—एक नासिका घर्षण, कपालभाति, प्राणायाम, पद्मासन स्वास्तिकासन, सिद्धासन, मत्स्यासन और भुजंगासन।

२. रुधिराभिसरण सस्थान—शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन और उत्तानपादासन।

३. पाचन संस्थान—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजगासन, शलभासन, मत्स्येन्द्रासन और शीर्षासन।

४. मांस संस्थान—शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, कर्णपीडनासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रासन, भुजगासन और प्राणयाम।

५. स्नायु संस्थान—सूर्यनमस्कार, उत्तानपादासन, वज्रासन, लोलासन शक्ति-आसन, कुक्कुटासन और धनुरासन।

अन्तःस्रावी ग्रथियों को प्रभावित करने वाले आसन

१. पीनियल— शीर्षासन
२. पिट्युटरी— शीर्षासन
३. थाय राइड— सर्वांगासन, हलासन

४. यकृत्— मत्स्येन्द्रासन (दाहिनी ओर)
५. प्लीहा— उड्डियान बंध, नौली क्रिया
६. क्लोम— मत्स्येन्द्रासन (बाईं ओर)
७. एड्रीनाल— मयूरासन
८. वृक्क— भुजंगासन
९. अण्डकोष— सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन, सुप्त वज्रासन और शीर्षासन

अवयवों को प्रभावित करने वाले आसन

पेट, जठर, यकृत, प्लीहा, आन्त्र, आमाशय—उपर्युक्त पाचन संस्थान के आसन
हृदय— शीर्षासन, सर्वांगासन, शवासन और प्राणायाम।
फुफ्फुस— श्वसन संस्थानोक्त आसन।
मस्तिष्क— शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पद्मासन, योगमुद्रासन और प्राणायाम।
आंख— शीर्षासन, मत्स्यासन, सूत्रनेति, जलनेति, और त्राटक कर्म
नासिका, दांत कान—नेति, मत्स्यासन, श्वसन क्रियाए और सिंहासन।

विभिन्न व्याधियों में उपयोगी आसन

मन्दाग्नि—उत्तानापादासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन और धनुरासन।
विबन्ध—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, धनुरासन, मयूरासन और शीर्षासन।
अजीर्ण—उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन धनुरासन, सुप्तवज्रासन और शीर्षासन
जठराग्नि—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजगासन, मत्स्यासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन, मयूरासन और मत्स्येन्द्रासन।
पेट की बीमारियों में—उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, वज्रासन, योगमुद्रासन, भुजंगासन और मत्स्यासन।
गैस—पवनमुक्तासन, जानुशिरासन, खगासन, योगमुद्रासन और वज्रासन।
अर्श—उत्तानपादासन, सर्वांगासान मयूरासन, शीर्षासन और यानासन।
स्वप्न दोष—पादांगुष्ठासन, गोरक्षासन, लोलासन, कन्दपीडनासन, शीर्षासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन और सर्वांगासन।

आन्त्रपुच्छशोथ—उत्तानादापासन, सर्वांगासन और शीर्षासन ।

शीत या श्लेष्म विकार—मत्स्यासन, सर्वांगासन, हलासन, कपाल भाति,
(प्रतिश्याय) उड्डियान बंध और गजकरणी ।

फुफ्फुस विकृति—वज्रासन, मत्स्यासन और सर्वांगसन,

श्वास रोग (दमा)—एक नासिका घर्षण, मत्स्यासन सर्वांगासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, शीर्षासन, उड्डियान बंध, गजकरणी और धौति ।

कुष्ठरोग—धौति, गजकरणी, शीर्षासन और महामुद्रा ।

आन्त्र च्युति—शीर्षासन, सर्वांगासन और कपाल भाति ।

रक्तविकार और त्वक् रोग—गजकरणी सर्वांगासन और कपालभाति ।

आमवात (गठिया)—सर्वांगासन, पवनमुक्तासन, पद्मासन, मत्यासन, उष्ट्रासन वज्रासन, सुप्तवज्रासन, और पश्चिमोत्तानासन ।

रजो विकृति—भुजगासन, शलभासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन और पश्चिमो-त्तानासन (गर्भावस्था और ऋतुकाल मे आसनाभ्यास वर्जित है)

योषापस्मार और अनिद्रा—शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्ता-नासन, उत्तानापादासन, पवनमुक्तासन, हलासन, भुजगासन, शलभासन और मयूरासन ।

मधुमेह—सर्वांगासन, मयूरासन, नौकासन, वज्रासन, भुजगासन, हलासन, प्रश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन और उड्डियानबंध ।

वीर्य दोष—सर्वांगासन, वज्रासन योगमुद्रा ।

सिर की बीमारियो मे—सर्वांगासन, शीर्षासन और चन्द्रासन ।

गले की बीमारियो मे—सुप्तवज्रासन, भुजगासन और चन्द्रासन ।

आंख की बीमारी में—सर्वांगासन, शीर्षासन, और भुजंगासन ।

नाभि विकृति—धनुरासन, नाभि-आसन और भुजगासन ।

गर्भाशय विकृति—उत्तानपादासन, भुजगासन, सर्वांगासन, ताड़ासन और चन्द्रनमस्कारासन ।

कटि शूल—हलासन, चक्रासन, धनुरासन और भुजगासन ।

यकृत् विकृति—लता आसन, पवनमुक्तासन और यानासन

भगंदर आदि में—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, जानुशिरासन, यानासन और नमस्कारासन ।

सभी रोगों में सामान्य आसन—पद्मासन, शीर्षासन, सर्वांगासन और पश्चिमो-त्तानासन ।

स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य—पद्मासन शीर्षासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तानासन।

यौवन रक्षा—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन पश्चिमोत्तानासन और मत्स्यासन

मेधाशक्ति—सर्वांगासन, शीर्षासन, मत्स्यासन, पद्मासन, प्राणायाम और ध्यान

ज्ञान तन्तुओं की क्षमता—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन शलभासन, और धनुरासन।

शिथिलीकरण—शवासन

त्रिदोष को प्रभावित करने वाले आसन

आयुर्वेद के अनुसार शरीर मे त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिदोष ही इस सम्पूर्ण शरीर का मूल और शरीर मे होने वाली प्रत्येक क्रिया का आधार है। जब ये दोष सम अवस्था मे होते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है और इनमें विषमता होने पर शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की प्रकृति का निर्माण भी दोषो पर ही आधारित है। अत शरीर मे दोषो का विशेष महत्व है।

योगासन अपनी क्रिया विशेष के द्वारा जब शरीर, उसके अवयवो और क्रियाओं को प्रभावित करते है तो त्रिदोष को प्रभावित करना भी स्वाभाविक है। अत किस दोष की प्रकृति वाले व्यक्तियो के लिए कौन कौन से आसन उपयोगी एवं हितकारी हैं उनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

वात प्रकृति—पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, पूर्ण मत्स्येन्द्रासन, धनुरासन, बस्ति, उड्डियान बंध और नौली।

पित्त प्रकृति—भुजंगासन, अर्धशलभासन शलभासन और उड्डियान बंध।

कफ प्रकृति—कपाल भाति, उड्डियान बंध, उत्तानपादासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन और गजकरणी।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद मे दोषानुसार जो प्रकृति बतलाई गई है वह सात प्रकार की है—वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति, वातपित्त प्रकृति, वात-कफ प्रकृति, पित्त-कफ प्रकृति और सन्निपातिक प्रकृति। इनमे प्रारम्भ की तीन प्रकृतियाँ एक दोषज प्रकृतियाँ हैं, उसके बाद की तीन द्विदोषज प्रकृतियां हैं और अंतिम त्रिदोषज प्रकृति है। एक दोषज प्रकृति वालो को कौन-कौन से आसान हितकारी हैं यह ऊपर बतलाया जा चुका है। द्विदोषज प्रकृति वालो को दोनो दोषों के आसनों का और त्रिदोषज प्रकृति वालों को तीनो दोषों के आसनों का अभ्यास अपनी आयु, सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार करना चाहिए।

—o—

यौगिक षट् कर्म

□

आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर मे वात-पित्त-कफ ये तीन दोष होते हैं। यद्यपि इनका नाम 'दोष' है, किन्तु जब ये तीनो दोष शरीर मे सम प्रमाण मे होते हैं अर्थात् किसी दोष की न्यूनाधिकता नही होती तो ये दोष शरीर को धारण करते हैं और शरीर की समस्त क्रियाओ का प्राकृत रूप से सम्पादन करते हैं। ये तीनो दोष सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रहते हैं। इन दोषो की प्राकृत अवस्था से ही शरीर स्वस्थ, और निरोगी बना रहता है। जब ये दोष विषम (न्यूनाधिक) हो जाते हैं तो उसके परिणाम स्वरूप शरीर मे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है। उन रोगो का उपशमन करने के लिए आयुर्वेदाचार्य गण औषधोपचार करते हैं तथा दोषो के शोधन-शमन के लिए स्नेहन, स्वेदन (दोनो पूर्व कर्म) वमन, विरेचन बस्ति, शिरोविरोचन रक्तमोक्षण आदि पञ्चकर्म करते है। इससे शरीर का शोधन होकर शरीर पूर्णत. शुद्ध हो जाता है।

शरीर मे कफ की अधिकता, मेद की वृद्धि और तमोगुण की अधिकता के कारण योग साधना सम्भव नहीं है। मेदस्वी, कफज विकार वाले और कफ की अधिकता वाले लोगो को प्राणायाम की सिद्धि नही हो सकती। अत योगाचार्यो ने आयुर्वेद की भाँति कफादि मलो और मेद आदि विकारो को दूर करने के लिए यौगिक षटकर्म का निर्देश दिया है। इन षट्कर्मों से कफ का नाश और मेद का क्षय होता है। इससे नाडियो मे प्राणावायु का प्रवाह निर्बाध रूप से होता है। अतः मेदस्वी और कफ की अधिकता वाले लोगो को प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व षट्कर्म के द्वारा शरीर का शोधन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा प्राणायाम की सिद्धि सम्भव नही है। योगशास्त्र मे इसका स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२१

अर्थात् जिन लोगों को मेद और श्लेष्मा की अधिकता है वे पहले षट्कर्म का आचरण करें। जिन्हें मेद और श्लेष्मा की अधिकता नहीं है वे दोषों का समभाव होने से इनका आचरण न करें अर्थात् समदोष वालों के लिए षट्कर्म करना आवश्यक नहीं है।

षट्कर्म निम्न बतलाए गए हैं—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥

—हठ योग प्रदीपिका २/२२

अर्थात् धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये छः कर्म होते हैं।

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः ॥

—हठ योग प्रदीपिका २/२३

अर्थात् ये छ कर्म गुप्त करने योग्य हैं। ये छः कर्म शरीर का शोधन करने वाले विचित्र गुणो का सघात करने वाले हैं जिससे वह योगियों द्वारा पूज्य माना जाता है। यदि इन कर्मों को गोपनीय नही रखा जायेगा तो अन्य सामान्य जन भी इन्हे कर सकेंगे और योगियो की पूजनीयता कम हो जायेगी। अत: योगियो मे श्रेष्ठता उत्पन्न करना ही इन षट् कर्मों का फल है।

१—धौति कर्म

'धौति' का सामान्य अर्थ होता है धोना या साफ करना। इसके द्वारा सामान्यत: आमाशय एवं अन्य प्रणाली का शोधन होता है। आमाशय मे जो कफादि दोष संचित रहते हैं इस कर्म के द्वारा उनका निर्हरण हो जाता है। इस कर्म के अन्तर्गत सामान्यत. तीन क्रियाओ का समावेश है—

१—वस्त्र धौति, २—कुंजल या गजकरणी और ३—दण्डधौति।

वस्त्र धौति

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्‌ ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

—हठ योग प्रदीपिका २/२४

अर्थात् गुरू के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे भीगे हुए वस्त्र को धीरे-धीरे ग्रसित करे और धीरे-धीरे उसका प्रत्याहरण करे अर्थात् बाहर निकाले—इसे धौतिकर्म कहते हैं।

प्रयोग विधि

लगभग पन्द्रह हाथ लम्बी और चार अंगुल चौड़ी महीन मलमल (कपड़े) की पट्टी लेकर उसे दो तीन बार गरम जल से अच्छी तरह धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् यथा नियम गुरू के निर्देशानुसार कपड़े का एक छोर मुंह में डालकर दूसरा छोर हाथों मे पकड़े रहे। तत्पश्चात् पशुओ की भाँति धीरे धीरे उसे चबाते हुए वह पट्टी पेट मे उतारना चाहिए। यह क्रिया क्रम पूर्वक करना चाहिए। अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ पट्टी पेट मे उतारे, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, चौथे दिन चार हाथ, इस प्रकार एक-एक हाथ की वृद्धि से वस्त्र पट्टी गले से नीचे उदर मे उतारने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रारम्भ मे धौति कर्म करते समय अर्थात् पट्टी को गले के नीचे उतारते समय हिचकी आने या उल्टी होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी स्थिति मे प्रातः काल कालीमिर्च का काढ़ा पी लेना चाहिए। कुछ दिनो के लिए धौति को दूध मे भिगो कर दूध के साथ, फिर पानी मे भिगो कर पानी के साथ और और अन्त मे कोरी धौति को पेट मे उतारना चाहिए। इसके बाद दो या तीन किलो नमकीन पानी व साधारण गर्म पानी पीकर धौति करके दोनो नल फिराएँ या केवल उदर को ही अच्छी तरह से हिलाएं। तत्पश्चात् शनै शनै उस पट्टी को बाहर निकालें।

वस्त्र धौति को बाहर निकालने के लिए सावधानी अपेक्षित है। वस्त्र धौति के मुख में प्रवेश के अनन्तर जब उसे बाहर निकलना हो तो मुख को पूरा खोल कर धोती के बाहर बचे भाग या सिरे को पकड कर धीरे-धीरे खीचना चाहिए। जब तक धौति आसानी से बाहर निकलती आए, उसे निकालते रहे, किन्तु रुकने पर खीचना तुरन्त बन्द कर धौति को पुनः उसी प्रकार भीतर निगले जैसे पहले निगल कर उसे भीतर प्रविष्ट किया था। दो तीन ग्रास निगलने के बाद पुन: मुख को खोलकर पूर्ववत् धौति को धीरे धीरे बाहर खीचना शुरू करें। ऐसा करने से गले से पेट तक की धौति सीधी हो जाती है, उसका रुकना या अटकना बन्द हो जाता है और सारी धौति बाहर निकल आती है।

यदि किसी कारणवश धौति बाहर नहीं आए तो जितना जल पिया जा सके पी लेना चाहिए। उसके बाद खड़े हो कर नाभि से ९० डिग्री का कोण बनाते हुए कमर झुका कर "कुंजल" की भाँति मुख मे अंगुली डाल कर उलटी (वमन) करना चाहिए। इससे रुकी हुई धौति बाहर निकल आती है। यद्यपि इस प्रकार कुंजल द्वारा धौति को बाहर निकालने की आवश्यकता बिरले ही लोगों (हजारो मे एक-आध) को ही होती है।

धौति सम्बन्धी ज्ञातव्य

चार अंगुल चौड़ी तथा पन्द्रह हाथ लम्बी महीन सूती कपड़े की पट्टी लेना चाहिए। पट्टी यदि किसी चौड़े कपडे में से फाडी गई हो तो उसके किनारे के दो दो धागे निकाल लेना चाहिए। उसके बाद उसे साबुन से भली भांति साफ करके गरम पानी में कम से कम पाँच मिनट उबालना चाहिए। फिर उसे निचोड कर साफ स्थान में सुखाया जाय जहां मक्खी आदि उस कपडे पर न बैठने पावें। तत्पश्चात् उसे पट्टी की तरह गोल लपेट कर रख लेना चाहिए।

जिसे कफ की शिकायत हो उसे गरम पानी में धौति को भिगोकर निगलना चाहिए। जिसे कफ की शिकायत न हो, किन्तु जिसे पित्त की अधिकता हो या पित्त बिगडा हुआ हो उसे गरम पानी के बदले गरम दूध में धौति को भिगोकर निगलना चाहिए। यदि धौति को निगलने से अधिक उबकाई (मचली) आती हो तो धौती के अग्रभाग पर तथा बीच में थोडी शहद लगा कर निगला जा सकता है। पूरी धौति कभी नहीं निगलना चाहिए। लगभग एक बालिश्त (९ इंच) या एक फुट धौति मुख के बाहर अवश्य बची रहना चाहिए, ताकि पुनः निगल कर निकालने की गुंजाइश रहे।

कुछ सिद्धहस्त योगाभ्यासी लोग धौति को निगलने के पश्चात् खड़े होकर घुटनो पर हाथ रख कर नौलि क्रिया के समान (जिसकी विधि आगे बतलाई जायगी) साढ़े तीन चक्र बाएं और साढ़े तीन चक्र दाएं से देते हुए नौली को बार बार चलाते हैं और उसके बाद बैठ कर उपर्युक्त विधि से धौति को मुख के बाहर निकालते हैं।

धौति से लाभ

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२५

अर्थात् धौतिकर्म के प्रभाव से कास, श्वास, प्लीहा सम्बन्धी विकार, कुष्ठ रोग और बीस प्रकार के कफ रोगों का विनाश होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है—

प्लीहागुल्मज्वरं कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने॥

इस क्रिया के सतत अभ्यास से प्लीहा सम्बन्धी विकार, गुल्मरोग, ज्वर, कुष्ठ, कफ और पित्त का नाश होता है। योगी को दिन प्रति दिन आरोग्य, बल और पुष्टि प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध मे 'भक्ति सागर' मे शुक देव जी लिखते हैं—

काया होवे शुद्ध ही भजै पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहे धौति करम साधै योगी लोग ॥

कुंजल या गजकरणी

'कुंजल' शब्द सम्भवत 'कुंजर' शब्द से निर्मित है जो 'गज' (हाथी) का पर्यायवाची है। इसीलिए इसे 'गजकरण' भी कहा गया है। 'भक्ति सागर' में गजकर्म के विषय मे कहा गया है—

गज-कर्म याहि जानिए, पिये पेट भर नीर।
फेरि युक्ति सों काढ़िये रोग न होय शरीर ॥

अर्थात् पहले पेट भर पानी पीकर फिर युक्ति पूर्वक उसे निकाल देना चाहिए। यह गजकर्म कहलाता है। इससे शरीर मे रोग नही होता। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथी अपनी सूंड से जल पीकर उसे सूंड के द्वारा ही बाहर निकाल देता है और अपने को सदैव निरोग रखता है उसी प्रकार मनुष्य भी कुंजल क्रिया के द्वारा अपने को निरोग रख सकता है। जिस प्रकार किसी बर्तन मे पानी डाल कर और फिर वह पानी फैंक कर यानी उमे धोकर उसकी सफाई की जाती है उसी प्रकार केवल गर्म या गर्म और नमकीन पानी पीकर फिर उसे निकाल कर पेट या आमाशय साफ किया जाता है।

भोजन करने से पूर्व यह क्रिया करना चाहिए। किसी दिन दूषित या विषयुक्त भोजन कर लिया हो तो उसे पेट से बाहर निकालने के लिए इस क्रिया का उपयोग किया जा सकता है। श्लेष्म प्रधान व्याधियो के लिए यह क्रिया अत्युत्तम एवं हितकारी है।

प्रयोग विधि

पीने योग्य सुहाता हुआ चार पाच सेर गर्म पानी कपडे से छान कर अपने पास रखें। कुछ लोगों को साधारण पानी पीने से वमन (उल्टी) नही होता। इसलिए चिकित्सक की राय से कुंजल क्रिया में प्रयुक्त किये जाने वाले जल मे यथावश्यक नमक मिला लेना चाहिए। इसके लिए साधारण नमक की अपेक्षा सेंधा नमक अधिक उपयुक्त रहता है। जितनी मात्रा मे दाल में नमक मिलाया जाता है उससे कुछ अधिक मात्रा मे ही कुंजल के लिए जल मे नमक मिलाना चाहिए।

शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होने के पश्चात् एकान्त स्थान मे कागासन या उत्कटासन में अर्थात् उकडूं बैठकर गिलास या कटोरे से वह सारा नमकीन और गर्म पानी जल्दी-जल्दी पी जाना चाहिए। जब तक पेट बिल्कुल भर न जाय अथवा

गुनगुना पानी पीते-पीते उल्टी न होने लगे तब तक लगातार पानी पीते जाना चाहिए।

खूब डट कर पानी लेने के बाद जब और अधिक पानी पीना सम्भव न हो और उल्टी होने की इच्छा या मितली होने लगे तो सीधे खड़े होकर कमर से ऊपर के भाग को आगे की ओर नीचे झुका कर नाभि से ९० डिग्री का कोण बनाते हुए इस प्रकार खडे होना चाहिये कि दोनो पैर आपस मे मिले रहें। इसके बाद बाएँ हाथ को पेट पर रखे हुए दाहिने हाथ की तीन अ गुलियो (तर्जनी, मध्यमा और अनामिका) या दो अगुलियों को मुख के भीतर गले मे डालना चाहिये। गले में जो लटकता हुआ कौआ लक्षित होता है घण्टी नुमा इस कौए को लघु जिव्हा भी कहा जाता है। इस छोटी जिव्हा या कौआ पर सावधानी पूर्वक मध्यमा अगुली के द्वारा स्पर्श करना चाहिये। मध्यमा अंगुली के स्पर्श मात्र से वमन होने लगेगा।

जब वमन होने लगे और पेट मे स्थित पानी बाहर निकलने लगे तब मुख मे से अगुली निकाल लेना चाहिये ताकि आसानी से पानी बाहर निकल सके। वमन रुकने पर पुन: अ गुली मुख में डाल कर कौआ का स्पर्श करते हुए वमन करने का प्रयत्न करना चाहिये, ताकि उदर का शेष पानी बाहर निकल सके। बार बार ऐसा करने से उदर का सारा पानी बाहर निकल आयेगा। इस क्रिया मे यह सावधानी रखना आवश्यक है कि मध्यमा अ गुली के द्वारा कौआ के स्पर्श के समय कौआ मे अ गुली का नाखून न लगने पावे। अन्यथा क्षत हो सकता है और उससे रक्तस्राव सम्भावित है।

अगुलियो को मुख मे गले तक डालने पर भी जब उबकाई तो आवे किन्तु उल्टी न हो याने पानी बाहर न निकले तो समझना चाहिये कि पेट का सारा पानी निकल चुका है।

यदि ऐसा प्रतीत हो कि कुछ पानी पेट मे शेष रह गया है, किन्तु बाहर नहीं निकल रहा है तो ऐसी स्थिति मे पुन: गर्म या नमकीन गर्म पानी तीन चार गिलास पीकर पुनः उपर्युक्त क्रिया के द्वारा ही पानी निकालने का प्रयास करना चाहिये। यह क्रिया दोहराने पर निश्चय ही दुबारा पिये हुए पानी के साथ शेष पानी भी बाहर निकल आता है।

अन्त मे यदि खट्टा या चरपरा पानी निकले तो यह समझना चाहिये कि आमाशय मे अभी पित्त स्थित है और वह पूर्णत: नहीं निकला है। अत: पुन: दो तीन गिलास गर्म या सेंधा नमक युक्त गरम पानी पीकर उल्टी करना चाहिये, ताकि शेष पित्त भी बाहर निकल आवे।

कुंजल क्रिया की समाप्ति के अनन्तर कागासन या उत्कटासन मे बैठ कर सिर पर ठंडा पानी डाल कर दो तीन मिनिट तक सिर कमठी तरह धो लेना चाहिये। सिर पर पानी डालते समय ब्रह्मरन्ध्र (तालु) को विशेषत: थपथपाना चाहिये। इससे

सिर में ठंडक पहुंचती है। सिर धोने के बाद तीन चार घूंट ठंडा पानी पी लेना चाहिये। इससे फिर उबकाई या मितली नहीं आती है।

कुंजल से लाभ

कुंजल के द्वारा आमाशय की शुद्धि होती है, जिससे सभी प्रकार के उदर विकार विबन्ध (कब्ज), उदर शूल, आध्मान, अग्निमांद्य, अरुचि, हृल्लास, अम्लपित्त आदि विकार दूर होते हैं। कफ पित्त का निर्हरण होता है तथा वायु का शमन होता है। श्वास, कास, मन्दाग्नि आदि श्लेष्म जनित विकार निर्मूल होते हैं। हृदयरोग होने की सम्भावना निर्मूल होती है, मुख मण्डल पर होने वाली फोड़े फुंसियाँ साफ होकर चेहरे की कान्ति और नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इस प्रकार कुंजल क्रिया से अनेक लाभ होते हैं।

दण्ड धौति

अनामिका अंगुलि के बराबर मोटी, तीन लड वाली कच्चे सूत की रस्सी बनाना चाहिये। यह रस्सी लगभग ३० इंच (तीन बालिश्त और ४ अंगुल) लम्बी हो। उसके सिरे पर अंतिम छोर से करीब चौथाई इन्च पहले एक धागा इस प्रकार बांधा जाय कि रस्सी का वह सिरा फूल की भांति खिल जाय। इसके बाद सारी रस्सी को गरम जल के पात्र में डुबा दिया जाय, जिससे रस्सी कीटाणु रहित शुद्ध हो जाय। यही रस्सी 'दण्ड धौति' कहलाती है।

इसके पश्चात् कुंजल की भांति यथा सम्भव अधिक से अधिक गरम पानी पिया जाय। गरम पानी उत्कटासन या कागासन की स्थिति में ही बैठ कर पीना चाहिये। भर पेट पानी पी लेने के बाद कुछ झुक कर (कुंजल की भांति न तो पूरा झुक कर और न ही सीधा तन कर खड़ा होना चाहिये) खड़े होकर उपर्युक्त गरम पानी में पड़ी हुई रस्सी (दण्ड धौति) को निकाल कर मुख में कण्ठ के पास बगल में धीरे धीरे भीतर डाल कर उसी प्रकार निगलना चाहिये जिस प्रकार भोजन करते समय मोटी रोटी का ग्रास या बड़ा ग्रास निगला जाता है।

ग्रास निगलते समय यदि भीतर से बार बार पानी निकले तो उसे निकलने देना चाहिये और उसकी कोई चिन्ता नहीं करना चाहिये। क्योंकि शुरू शुरू में ऐसा ही होता है। किन्तु कुछ ही दिनों के अभ्यास से तीन बालिश्त रस्सी निगल जाना सम्भव ही नहीं एकदम आसान हो जायगा। रस्सी का चार अंगुल सिरा बाहर ही रखना चाहिए, शेष बचे हुए भाग को पकड़ कर धीरे धीरे हिलाना चाहिए। इससे काफी मात्रा में भीतर का पानी बाहर निकलने लगेगा। निकलते हुए पानी के साथ ही

साथ रस्सी को भी धीरे धीरे खींचकर बाहर निकालना चाहिए। यदि साथ मे पानी न निकलता हो तो रस्सी को खींचकर बाहर निकालना उपयुक्त नहीं है। ऐसी स्थिति मे रस्सी को इस प्रकार हिलाना चाहिए कि वह बाहर न खिचकर अन्दर ही पानी को आलोडित करे। इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि जब पेट में पर्याप्त पानी हो यानी खूब भरपेट पानी पिया गया हो तब ही रस्सी अन्दर डाली जाय, अन्यथा नही।

इस प्रकार धीरे धीरे रस्सी खीचकर पेट का सारा पानी बाहर निकाल देना चाहिए। इससे आमाशय की शुद्धि हो जाती है और आमाशय की भित्ति से चिपका हुआ कफ या पित्त दोष अनायास ही बाहर निकल आता है।

कु जल क्रिया और वस्त्र धौति की भाँति दण्डधौति भी लाभदायक है। इसके द्वारा भी पित्त और कफ का निर्हरण होता है। यह क्रिया पित्त प्रकोप की स्थिति में विशेष लाभदायक है। पित्त प्रकृति वाले पुरुषो के द्वारा निरन्तर इस क्रिया का अभ्यास करते रहने से किसी प्रकार की पित्त बाधा या पित्त विकार उन्हे पीड़ित नही कर पाते। उनकी उदर शुद्धि और कफ का शमन होने से पाचन क्रिया तथा अन्य नैसर्गिक क्रियाएं यथोचित रूप से सम्पन्न होती हैं। शरीर स्वस्थ व निरोग होता है। अगो मे स्फूर्ति एव मन मे उत्साह का सचार होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से ये क्रियाए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। आँतो की निर्बलता, कष्टयुक्त सग्रहणी, हृदय की निर्बलता, उरःक्षत आदि रोग से पीड़ित व्यक्तियो को यह धौति कर्म नही करना चाहिए।

२-नेतिकर्म

षट् कर्मों के अन्तर्गत "नेति" कर्म विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। इस कर्म का सम्बन्ध मुख्यतः नासिका से है। इसे मातगिनी भी कहा जाता है। योगशास्त्र में इस कर्म के कोई अवान्तर भेद या प्रकार प्रतिपादित नहीं हैं, किन्तु कुछ योगाचार्य साधन भेद से इसके अनेक प्रकार मान लेते हैं। जैसे नेति कर्म में सूत्र का प्रयोग किया जाता है, अतः वह सूत्र नेति, जिसमें जल का प्रयोग किया जाता है वह जल नेति, इसी प्रकार दुग्ध प्रयोग के कारण दुग्धनेति, घृत प्रयोग के कारण घृत नेति आदि। किन्तु मूलतः इसकी क्रिया विधि मे कोई अन्तर नही है। योगशास्त्र में मुख्यतः सूत्रनेति ही प्रतिपादित की गई है। यथा—

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२९

अर्थात् वितस्ति परिमित सुस्निग्ध सूत्र को नासिका नाल मे प्रविष्ट कर मुख मार्ग से बाहर निकालना—यह सिद्धो के द्वारा 'नेति' कहलाती है।

सूत्र नेति की निर्माण एवं प्रयोग विधि

चालीस नम्बर के देशी सूत्र की पन्द्रह तांतों को लेकर लगभग तीन बालिश्त लम्बी नेति बनाना चाहिए। उसे बीच मे से मोडकर आधी बाँट ली जाय और आधी बिना बंटे ही छोड दी जाय। बटे हुए भाग को मोम लगाकर चिकना कर लिया जाय। प्रातःकाल शौचादि दैनिक क्रियाओ से निवृत्त होकर दातून आदि करने के बाद पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख उत्कटासन मे बैठ कर गर्दन ऊँची रखते हुए नासिका को शुद्ध कर नेति को पानी मे भिगोकर मोम वाले भाग को अग्रभाग से थोडा झुका कर धीरे से नासिका के जिस छिद्र से वायु चलायमान हो उस छिद्र में डालना चाहिए। जब उसका अग्रभाग जिह्वा के पास आवे तब उसे दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुली से पकड कर धीरे धीरे मुख से नेति का अग्रभाग बाहर निकालना चाहिये। इसके बाद उसे स्वच्छ कर पुनः नासिका के दूसरे छिद्र से इसी प्रकार की विधि से नेति निकाल कर उसका शोधन करना चाहिए। इसका अभ्यास हो जाने के बाद नेति के दोनो छोर पकडकर शनैः शनैः इस प्रकार घर्षण करना चाहिए कि अन्दर कोई क्षत न होने पावे। 'शक्ति सागर' मे इसके विषय मे लिखा है—

मिट्टी जु सूत मगाय के, मोटी बांटे डोर।
ऊपर मोम रसाय के, साधै उठ कर भोर॥
साधै उठकर भोर, डेढ़ बालिश्त की कीजै।
ताको सीधी करै, हाथ अपने में लीजै॥
नासारन्ध्र मे मेलकर, खींचै अगुली दोय
फेरि बिलोवन कीजिए नेति कहिये सोय॥

विशेष—सूत्र नेति समाप्त करने के करीब एक घटे बाद गाय का शुद्ध घी हलका गरम करके दस-दस बूंद दोनो नासिका रन्ध्रो मे डालना चाहिए। दिन या रात्रि में विश्राम के समय घृत डालने से अधिक लाभ होता है। इसलिए लगभग डेढ दो घंटे की फुर्सत के समय ही नेति करना अभीष्ट है। जल्दबाजी मे नहीं। रात्रि मे सोने से एक डेढ़ घटे पहले करना भी ठीक रहेगा। वैसे इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय प्रातः काल (भोर) ही है, यथा सम्भव सूर्योदय से पूर्व।

नेति से लाभ

नेति कर्म से कपाल (सम्पूर्ण शिरः प्रदेश) मे स्थित कफादि दोष दूर होकर कपाल का शोधन हो जाता है। इस कर्म से सर्दी से उत्पन्न होने वाला शिरः शूल,

कायमी सर्दी, कान का बहरापन या कर्ण विकार, नासिका के विविध रोग, नासिका की हड्डी बढ़ना, गले, मुख, दांत और जिह्वा गत अन्यान्य विकार दूर होते हैं। इस कर्म से नेत्र विशेषतः प्रभावित होते हैं और दृष्टि क्षीणता आदि विकार दूर होकर नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। शास्त्रों मे इसके लाभ के विषय में लिखा है—

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
उर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् नेतिराशु निहन्ति च॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३०

अर्थात नेति क्रिया कपाल का शोधन करने वाली और दिव्य-दृष्टि प्रदान करने वाली होती है। यह उर्ध्वजत्रुगत (गले से ऊपर सम्पूर्ण मुख मण्डल गत) समस्त रोगों का शीघ्र ही नाश करती है। भक्ति सागर मे भी लिखा है—

नाक, कान, अरु दांत को रोग न व्यापे कोय।
उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेति कर सोय॥

जल नेति

लगभग आधा सेर या तीन पाव पानी भरने योग्य कोई ऐसा लोटा या पात्र लिया जाय जिसमे एक ओर रामझारे की भांति लम्बी टोटी लगी हो। टोटी का अग्र भाग ऐसा हो जो नासिका के छिद्र मे फिट बैठता हो। करीब तीन पाव पानी लेकर गरम कर लिया जाय, फिर उसे गुनगुना होने तक ठंडा होने दिया जाय। किंचिदुष्ण ठंडा (सम शीतोष्ण) होने पर दाल मे नमक की मात्रा के बराबर उसमें सेंधा नमक मिला लिया जाय और वह पानी नेति पात्र मे भर लिया जाय।

उपर्युक्त तैयारी के पश्चात् उत्कटासन में बैठ कर सिर को कुछ मोड कर इस प्रकार झुकाना चाहिए कि उस ओर के कान का भाग नीचे की ओर हो जाय। अर्थात् जिस नासिका-रन्ध्र से श्वास का आवागमन हो रहा हो या जो स्वर चल रहा हो उस छिद्र को ऊपर की ओर रख कर नेति-पात्र (लोटे) को नीचे से पकड़ कर उस छिद्र मे पात्र की टोटी का अग्रभाग लगा कर शनैं शनै. पात्र का पानी प्रवाहित किया जाय। इससे पानी एक रन्ध्र से जाकर दूसरे रन्ध्र से स्वतः निकलने लगेगा। इसी प्रकार दूसरे रन्ध्र से भी यही क्रिया करना चाहिए।

नासिका-रन्ध्र से पानी लेते और निकालते समय मुख को खुला रखना चाहिये और मुख के द्वारा श्वास लेना व छोड़ना चाहिये। नासिका से श्वास लेने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर पानी ऊपर चढ़ने लगेगा और घबड़ा कर नेति छोड़ देना पड़ेगा। यदि श्वास मुख से ही ली जायगी तो नासिका द्वारा नेति क्रिया स्वतः ही होती रहेगी।

जलनेति से लाभ

जल नेति का प्रयोग एवं अभ्यास करने से मस्तिष्क सम्बन्धी समस्त विकार और दोष दूर होते हैं। सभी प्रकार के शिर: शूल का शमन होकर अनिद्रा और अति निद्रा की विकृति दूर होती है। मेधा बुद्धि-स्मृति का विकास होता है और विस्मृति का दोष दूर होता है। बालो का सफेद होना, झडना तथा सिर के अन्य विकार दूर होते हैं। नासिका के अनेक विकार इसके निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाते हैं। प्रतिश्याय नजला आदि रोग नही होते और यदि हुए हो तो दूर हो जाते हैं। नेत्रो के विकारो में इस क्रिया से बड़ा लाभ होता है। आंखो का आना, आँखो का लाल होना, आखो का दुखना, आंखो मे जलन होना, रतौंधी, धुंध, कीचड निकलना आदि नेत्र विकार इस क्रिया के प्रयोग से दूर हो जाते हैं और नेत्रो की ज्योति बढती है। कान से सम्बन्धित अनेक रोग जैसे कान का बहना, कान का दुखना, कम सुनाई पड़ना या बिल्कुल सुनाई नही पडना आदि विकार दूर हो जाते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र मे इस क्रिया से होने वाले अनेक लाभ प्रतिपादित किए गए हैं। आचार्य भाव मिश्र लिखते हैं—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्य
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
सम्भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो
वलितपलितविहीन सर्वरोगैर्विमुक्त ॥ —भावप्रकाश

अर्थात् रात्रि के व्यतीत हो जाने पर प्रात काल उठकर जो मनुष्य नित्य बाए नासारन्ध्र से जल पीता है वह पूर्ण बुद्धि वाला, गरुड की भाँति तीव्र दृष्टियुक्त, बलित और पलित (बालों का झडना ओर पकना) से रहित तथा समस्त रोगो से मुक्त होता है। उष वारि पान से होने वाले लाभ निम्न प्रकार से बतलाए गए हैं—

अर्श शोथग्रहण्यो ज्वरजठरजराकुष्ठमेदोविकारा.।
मूत्राघातास्रपित्तश्रवणगलशिर श्रोणिशूलाक्षिरोगा: ॥
ये चान्ये वातपित्तक्षतजकफकृता व्याधयो: सन्ति जन्तो.।
तांस्तानभ्यासयोगादपहरति पय पीतमन्ते निशाया.॥

-भावप्रकाश

अर्थात् रात्रि के अन्त मे (प्रात. काल) जल पीने (ऊषः पान करने) के सतत अभ्यास के योग से (अर्थात् प्रतिदिन प्रातः काल पानी पीने से) अर्श, शोथ ग्रहणी ज्वर, उदर रोग, बुढ़ापा, कुष्ठ, मेद सम्बन्धी विकार, मूत्राघात, रक्तपित्त, कान, गला, शिर, श्रोणि, का शूल, आंख के रोग तथा अन्य जो वात, पित्त, कफ और क्षत जनित व्याधियां हैं वे सब दूर होती हैं।

दुग्ध नेति—घृतनेति

उत्कटासन में बैठ कर जलनेति के समान ही टोटी वाले पात्र में गाय का ताजा धारोष्ण दूध डालकर मुख को सीधा रखते हुए एक नासारन्ध्र में टोटी का अग्रभाग लगा कर तथा अन्य नासारन्ध्र को अंगूठे या तर्जनी अंगुली से बन्द कर सिर को किंचित् उन्नत कर दूध डालना चाहिए। ऐसा करने से दूध मुख में जाने लगेगा तब धीरे धीरे उसे पीते जाना चाहिये। नेति-पात्र में दूध की मात्रा उतनी ही डाली जाय जितनी पीकर आसानी से पचाई जा सके। पाचन शक्ति से अधिक दुग्ध की मात्रा हानि कारक हो सकती है।

इसी प्रकार घृत नेति का भी विधान है। अपनी पाचन शक्ति की क्षमता के अनुसार गाय का शुद्ध ताजा घी हलका गरम (गुनगुना) कर उपर्युक्त विधि से पीना चाहिये। यह क्रिया दोनों नासिका रन्ध्रो से क्रमश: की जानी चाहिये।

०

३—बस्ति कर्म

मल शोधन की दृष्टि से इस कर्म का विशेष महत्व है। क्योंकि इस कर्म के द्वारा मनुष्य के मलाशय और आंतो मे संचित सम्पूर्ण मल का निर्हरण हो कर शरीर की शुद्धि हो जाती है। योगशास्त्र मे बस्ति के विषय मे लिखा है—

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासन.।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२६

अर्थात् नाभि प्रमाण जल मे उत्कटासन पूर्वक बैठ कर गुदामार्ग मे (बाँस की निर्मित छह् अंगुल मृदु) नालिका लगाकर आधार (गुदा) का आकुञ्चन करना चाहिये। यह प्रक्षालन करने वाला बस्ति कर्म होता है।

प्रयोग विधि

बस्ति कर्म स्वच्छ और शुद्ध जलाशय मे जाकर या किसी बड़े टब या टंकी में स्वच्छ ठंडा पानी भर कर किया जाना चाहिए। इसके लिए बाँस की छह् अंगुल लम्बी एक नली जो अधिक मोटी न हो और जिसमें कनिष्ठिका (सब से छोटी) अंगुली जितने आकार का छिद्र हो लेना चाहिये। नली के ऊपर पतले हिस्से को पत्थर पर घिस कर चिकना बना लेना चाहिये ताकि उसका खुरदुरापन न रहे। तत्पश्चात् उस पर घी लगा कर यत्न पूर्वक किसी स्थान पर सुरक्षित रख दिया जाय।

इसके बाद उत्कटासन में (उकडू) बैठ कर कनकार अंगुली (अंगुली का नाखून

कटा हुआ हो) मे घी लगाकर गणेश क्रिया करना चाहिये। अर्थात् घी लगी हुई मध्यमा अंगुली को गुदा के अन्दर दो-ढाई इंच तक अन्दर डाल कर चारो ओर इस तरह घुमाए कि अंगुली का घी गुदा मे लग जाय। यदि गुदा में उस स्थान पर मल हो तो उसे निकाल कर पानी से अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। इसके बाद पुनः मध्यमा अगुली में घी लगा कर उसे गुदा मे प्रविष्ट कर स्निग्ध कर देना चाहिये। दो तीन बार ऐसा करने से वह स्थान साफ, मुलायम और चिकना हो जायगा, तब घी लगी हुई बांस की नली के पतले सिरे को गुदा के अन्दर लगभग चार अगुल तक धीरे धीरे प्रविष्ट कराया जाय।

इतना कर लेने के उपरान्त जलाशय या टब मे उत्कटासन बैठ कर दोनो हाथों की कोहनी को घुटनो पर रखे हुए दोनो हाथो की अगुलियो को आपस मे एक दूसरे के पंजे मे कस कर बाँध कर लेना चाहिये। जलाशय या टब में इस स्थिति मे बैठे हुए नौलि कर्म की भाँति नाल को फुलाने से पानी गुदा मार्ग के द्वारा अपने आप ही ऊपर चढ़ने लगेगा। जब तक नाल या नौलि निकाले रहेगे तब तक पानी बराबर ऊपर आंतों मे चढ़ता जायगा। नाल को स्वाभाविक अवस्था मे छोडते ही पानी बाहर निकलने लगेगा। इससे जलाशय या टब का पानी गन्दा हो जाने का भय रहेगा। अतः पर्याप्त पानी चढ़ जाने के बाद तुरन्त ही हाथ की अगुली से बास की नली का मुँह बन्द कर देना चाहिए।

इसके बाद धीरे-धीरे नली को गुदा से बाहर निकाल कर खडे हो जाना चाहिये तब पानी से बाहर निकल कर नली को सुरक्षित स्थान में रख कर बार बार नौलि को घुमाना चाहिए। ऐसा करने से आतो मे सचित मल पानी के साथ मिल कर मलाशय में एकत्र हो जायगा। इसके बाद शौचालय या उपयुक्त शौच स्थान मे बैठ कर मलोत्सर्जन करना चाहिये। तब पानी के साथ सारा मल बाहर निकल जायगा और आंतो व मलाशय की शुद्धि हो जायगी।

इस क्रिया को तीन चार बार करना चाहिये। चौथी बार यह अनुभव होगा कि केवल पानी ही गुदा से निकला है, उसमे मल मिश्रण नही है। तब मयूरासन करके शेष बचे हुए पानी, मल, वायु आदि को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। बस्ति के मध्य और अन्त मे मयूरासन न करने से वायु और जल का कुछ अंश अन्दर रह जाने की सम्भावना रहती है, जिससे हानि होना सम्भव है। अतः बस्ति कर्म के अन्त में मयूरासन अवश्य करना चाहिए।

भक्ति सागर में बस्तिकर्म का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

नीर गुदा सों खैंचकरि, थाम्बै उदर मझार।
कछुक डोल अस बैठकरि, फिर दे ताहि निकार॥

याहि जु बस्ति कर्म है, गुद बिन पावे नाहिं ॥
लिंग गुदा के रोग औ गर्मी के नहिं आहिं ॥

विशेष—जलाशयों में बस्ति कर्म करते समय सूक्ष्म जन्तुओ से बचने के लिए महीन कपड़ा नली के नीचे लगा लेना चाहिए। अधिक ठडे पानी वाले जलाशयों में और नली के बिना बस्ति कर्म करने से हानि होने की सम्भावना रहती है। अतः इस प्रकार की सावधानी अपेक्षित है।

उपर्युक्त प्रक्रिया पूर्वक किया गया कर्म जल-बस्ति कर्म कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक शुष्क बस्ति और होती है, जिसमे जल या किसी अन्य द्रव पदार्थ का उपयोग नहीं किया जाता। शुष्क बस्ति के लिए प्रथम उत्कटासन की स्थिति में बैठकर सूर्य नाड़ी संचालित कर आधारचक्र को खोल गुदा के संकोच और विकास के साथ वायु को अन्दर खीच कर उदर को आपूरित कर लेना चाहिये, फिर अधोमार्ग के द्वारा ही वह वायु बाहर निकाल देना चाहिये।

बस्ति क्रिया भोजन से पूर्व करना चाहिए तथा बस्ति के उपरान्त लघु आहार लेना चाहिए।

बस्ति से लाभ

बस्ति कर्म शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए तो उपयुक्त है ही, उसके नियमित प्रयोग से अनेक रोगो का नाश होता है, विशेषत: वायु से उत्पन्न होने वाले रोगो का। योग शास्त्र में बस्ति कर्म के निम्न लाभ बतलाए गए हैं—

गुल्मप्लीहोदर चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्म प्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥ —हठयोग प्रदीपिका २/२८

अर्थात् बस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा सम्बन्धी विकार, उदर रोग तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाली समस्त व्याधियां नष्ट हो जाती हैं।

धात्विन्द्रियान्तः करणं प्रसादं दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमान जलबस्तिकर्म॥
—हठयोग प्रदीपिका २/२८

अर्थात् जलबस्ति की क्रिया धातुओं (रस-रक्तादि सप्त धातुओं), इन्द्रियों (चक्षु-घ्रणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा हस्तपाद आदि पांच कर्मेन्द्रियो) और अन्तःकरण (मन-बुद्धि-अहंकार) को प्रसन्नता (निर्मलता) प्रदान करती है। वह कान्ति को बढ़ाने वाली तथा जाठराग्नि को प्रदीप करने वाली होती है तथा वह समस्त दोषो के संचय को नष्ट करती है।

'भक्ति सागर' के अनुसार लिंग एवं गुदा में होने वाले सभी रोग और गर्मी के रोग बस्ति कर्म द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यथा—

यह जु बस्ति कर्म है, गुरु बिन पावे नाहिं।
लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नशि जाहिं ।।

०

४—त्राटक कर्म

यौगिक षट् कर्म का यह एक महत्व पूर्ण कर्म है। इसके अभ्यास से योगी अपने लक्ष्य साधन के और अधिक निकट पहुंचता है। हठयोग में इसकी विशेष उपयोगिता बतलाई गई है। इस कर्म की सिद्धि हो जाने पर योगी अपने चित्त की एकाग्रता करने मे समर्थ हो जाता है जिससे उसके इतस्तत: चलायमान मन की वृत्तियों में स्थिरता आती है। हठयोग मे त्राटक कर्म का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहित ।
अश्रुसपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/३१

अर्थात् समाहित याने एकाग्र चित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को अर्थात् लघु पदार्थ को तब तक देखे जब तक अश्रुपात न होवे। आचार्यों द्वारा इसे त्राटक कर्म कहा गया है।

प्रयोग विधि

त्राटक कर्म मे चित्त की एकाग्रता और लक्ष्याभिमुख दृष्टि की निश्चलता ये दो महत्वपूर्ण स्थितियां हैं। इनमे से किसी एक के भी बिना त्राटक कर्म की सिद्धि असम्भावित है। त्राटक कर्म मे सामान्यत किसी एकान्त स्थान मे पद्मासन या सिद्धासन की स्थिति मे बैठ कर लगभग डेढ मीटर की दूरी पर स्थित वस्तु विशेष को लक्ष्य या साध्य बनाकर निरन्तर उसी ओर देखा जाता है। निरन्तर (अपलक) देखने की क्रिया तब तक की जाती है जब तक नेत्र से अश्रुपात न होने लगे।

इस क्रिया के लिए एक फुट लम्बे तथा उतने ही चौड़े एक सफेद कागज के बिल्कुल मध्य मे एक अठन्नी या रुपये के बराबर बिल्कुल गोल काले या हरे रग का बिन्दु बनाकर उसे अपने सामने की दीवार पर टाग देना चाहिए, अथवा किसी ऐसे दीयट (स्टैण्ड) पर या ताक (आला) जिसकी ऊँचाई लगभग ढाई-तीन फुट हो, मे घी का एक दीपक जलाकर रख देना चाहिए। जिस स्थान पर दीपक रखा जाय वह स्थान निवात याने वेग युक्त वायु से रहित होना चाहिए। इसके पश्चात् उस कागज या दीपक से लगभग डेड मीटर की दूरी पर सिद्धासन या पद्मासन की स्थिति में बैठ कर उस कागज के गोल बिन्दु या दीपक की लौ (ज्योति) को तब तक निरन्तर अपलक

(बिना पलकें झपकाएँ) देखते रहना चाहिए जब तक आँखों में आंसू न आ जावे। आंसू गिरने या टपकने से पूर्व ही आखो को कस कर बन्द कर लेना चाहिए।

लगभग १५—२० मिनिट तक उसी लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु पर निरन्तर अविचल दृष्टि को स्थिर रखने पर उस पर एक विशेष प्रकाश सा प्रतीत होने लगेगा और उसके चारों ओर भी छोटी छोटी प्रकाश की किरणें दिखाई देने लगेंगी। किन्तु उस समय अपने लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु को छोड कर केवल प्रकाश को देखने का प्रयत्न नही करना चाहिए, अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ही देखते रहना चाहिए। लक्ष्य को भूल कर या प्रकाश पुञ्ज के प्रलोभन में पड़कर लक्ष्य बिन्दु अथवा दीपक-ज्योति के आस-पास वाले कृत्रिम प्रकाश को देखने लगेंगे तो सारा प्रकाश ही लुप्त हो जायगा। कदाचित् भ्रमवश ऐसा हो जाय तो घबडाना नहीं चाहिए। क्षण भर में ही अपने लक्ष्य बिन्दु या दीपक ज्योति पर दृष्टि को केन्द्रित व स्थिर कर देने से पुन. पहले पहले की भाँति प्रकाश आ जायेगा। इसकी सिद्धि तब होती है जबकि जिस दिशा में दृष्टि जमा कर अवस्थित हो तथा उस दिशा में प्रकाश ही प्रकाश दिखलाई पडे, अन्य कोई वस्तु जैसे कागज, बिन्दु, दीपक, ज्योति आदि कुछ भी दिखलाई न पडे। इसे ही त्राटक कर्म कहते हैं। इस त्राटक कर्म की पूर्णता इसी मे है कि सामने का सम्पूर्ण प्रकाश अपने हृदय के मध्य ले आया जाय, यह विषय मात्र गुरूपदेशगम्य है और इसके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ साधना या अभ्यास की आवश्यकता होती है।

त्राटक कर्म के भेद

उपनिषद् में त्राटक कर्म के तीन भेद बतलाए गए हैं—बाह्य, मध्य और अन्त:। दूरस्थ प्रकाशित किसी बाह्य लक्ष्य पर दृष्टि को स्थिर रखना बाह्य त्राटक कर्म कहलाता है। वात प्रकृति वालों के लिये यह विशेषत: अनुकूल है। समीपस्थ किसी बिन्दु, देव मूर्ति, देवता का चित्र, दीपक की अचल ज्योति, नासिका का अग्रभाग या भ्रू मध्य मे खुली आंखो से एकाग्रता करने की क्रिया मध्य त्राटक-कर्म कहलाती है। यह क्रिया श्लेष्म प्रकृति वाले और सम प्रकृति (वात-पित्त-कफ तीनों दोषों की समानता) वाले व्यक्ति के लिए अनुकूल है। दोनो नेत्र बन्द करके चक्षुवृत्ति की भावना हृदय या भ्रू मध्य मे एकाग्र करना अन्त: त्राटक कर्म है। यह क्रिया ध्यान की भाँति होती है। चक्षु विकार, मस्तिष्क, आंख, नाक और हृदय में दाह वाले और पित्त की प्रधानता वाले साधकों के लिए यह क्रिया विशेष उपयोगी एव हितकारी है।

त्राटक कर्म का अभ्यास करने वाले साधक को भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग, बाष्प, अन्धकार, प्रकाश, विविध आकृतियो आदि का दिग्दर्शन होता है। अन्त में, जो

लक्ष्य निर्धारित किया जाता है वह आँख बन्द करके देखने से भ्रूमध्य में प्रत्यक्ष होकर थोड़ी देर स्थिर रहे अथवा दीवार आदि समतल प्रदेश में नेत्र द्वारा निकली अन्तःकरण की वृत्ति बढ़ते ही ध्येय दृष्टिगोचर होकर स्थित रहे तब जान लेना चाहिए कि त्राटक कर्म के अभ्यास मे सिद्धि प्राप्त हो गई है।

विशेष—त्राटक कर्म का अभ्यास धीरे धीरे एक घंटे तक किया जा सकता है। भ्रूमध्य मे त्राटक कर्म करने से दर्द होने की सम्भावना रहती है, किंतु थोड़े अभ्यास के पश्चात् दृष्टि मे स्थिरता आ जाती है। आरम्भ में चूँकि अभ्यास नहीं होने से पलक झपकने की सम्भावना रहती है, अतः प्रयत्नपूर्वक नेत्र को खुला रखने की कोशिश करना चाहिए। प्रयत्न ऐसा हो कि कपाल के किनारे नाड़ियो मे तनाव उत्पन्न नही होने पावे।

आँखो मे आसू आने के बाद पुनः उसी दिन त्राटक कर्म नही करना चाहिए। त्राटक कर्म दिन मे केवल एक बार प्रात. काल ही करना चाहिये। ध्यान के लिए सब से अधिक उपयुक्त समय ब्राह्म मूहुर्त्त होता है, इस क्रिया के लिए भी यही समय सर्वाधिक श्रेष्ठ है। साधक को अभ्यास काल मे पूर्णतः शम-दम का पालन करना चाहिए। दही, मिर्च, तेल इमली आदि द्रव्यो का सेवन सर्वथा वर्जित है।

अत्यधिक रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति के लिए इस क्रिया का निषेध किया गया है। व्यसनी पुरुषो को भी यह क्रिया नही करना चाहिए।

लाभ

त्राटक कर्म का निरन्तर अभ्यास करने से चित्तवृत्ति सूक्ष्म और अपने लक्ष्य मे स्थिर होती है। अत अन्त बाह्य समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियो का निरोध और मन को एकाग्र करने के लिए यह अपूर्व साधन है। इसके द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। इस कर्म के सिद्ध होते ही साधक सिद्ध संकल्प वाला हो जाता है। उसमे दूसरो के हृदयगत भावो को जानने की अद्भुत शक्ति का विकास हो जाता है जिससे वह विशिष्ट प्रज्ञा के द्वारा दूरस्थ पदार्थों व घटनाओ का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है।

नियोजित रूप से त्राटक कर्म करने से नेत्र सम्बन्धी समस्त विकार निर्मूल हो जाते हैं। नेत्रो की ज्योति बढ़ती है, आलस्य और तन्द्रा का नाश होता है। धी-धृति-स्मृति आदि विभिन्न भावो एवं मस्तिष्क की शक्ति का विकास होता है और बुद्धि मे जागरूकता आती है।

—०—

५-नौलिकर्म

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३३

अर्थात् झुकाए है कधे जिसने (नतांस:) ऐसा मनुष्य अत्यन्त तीव्र आवर्त (पानी की भौंर) के वेग से दाहिनी और बाईं ओर से अपने उदर को घुमावे। सिद्धों (योगियो) के द्वारा यह नौलि कहलाती है।

प्रयोग विधि

प्रथम स्वस्तिकासन या पद्मासन मे बैठकर रीढ को थोड़ा आगे झुकाकर रीढ़ का आकार धनुष की भाति कर लेना चाहिए। दोनो हाथो के पजो को घुटनो पर रखकर वक्ष:स्थल को विकसित रखना चाहिए। तत्पश्चात् श्वास को दोनो नासापुट द्वारा बाहर निकालकर उड्डियान बध करके हाथ से घुटनो के ऊपरी भाग पर भार देकर पेडू मे ठीक मध्य की हड्डी (प्यूबिक बोन-बिटपास्थि) और नल का मध्य स्नायु को नीचे की ओर आगे गति देना चाहिए। ऐसा करने से वह स्नायु संकुचित होगा और दूसरे स्नायु से अलग प्रतीत होगा। तत्पश्चात् गुरु द्वारा उपदेशित युक्ति से जठर को पानी की भौंर की भाति दाएँ बाएँ फिराना चाहिए। यही नौलि क्रिया कहलाती है। यह क्रिया खड़े होकर भी उड्डियान बंध की भाँति की जा सकती है।

भक्तिसागर मे इस क्रिया का विवेचन निम्न प्रकार से किया गया है—

नौलिकर्म पद्मासनों करे, दोनों कर घुटनों पर धरे।
पेटरु पीठ बराबर होय, दाहिने बाएँ नले बिलोय॥

शास्त्रों मे यद्यपि इस क्रिया के भेद या प्रकार नहीं बतलाए गए हैं, किन्तु क्रियाभेद से इसे तीन प्रकार का माना जा सकता है। यथा-मध्य नौलि, दक्षिण नौलि और वामनौलि। इनकी क्रिया विधि निम्न प्रकार समझना चाहिए—

मध्यनौलि

इस क्रिया के लिए दोनों पैरों के बीच एक फुट का अन्तर रखते हुए दोनो हाथों को दोनो घुटनों पर रखकर खड़े होना चाहिये। 'रेचक' कर के याने श्वास को पूर्णतः बाहर निकालकर 'बाह्य कुम्भक' की स्थिति में अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया को रोके हुए पेट को पूर्णतः पिचका लेना चाहिए। फिर दोनों हाथों पर जोर देते हुए

पेट को थोड ढीला करने के साथ ही साथ छाती की ओर कुछ खिचाव देते हुए पेट के बीच का नल आगे को निकालना या फुलाना चाहिए। यह क्रिया करते समय पेट की ओर देखना भी चाहिए कि वस्तुत: नल निकलता है या नही। यदि नही निकले तो घबड़ाना नहीं चाहिए। प्रतिदिन पांच-दस मिनिट के अभ्यास से निकलने लगेगा और यह क्रिया आसन हो जायेगी।

वाम और दक्षिण नौलि

नल निकलने की स्थिति मे बाए हाथ पर जोर देने से दाहिनी नौलि बाहर निकलेगी और दाहिने हाथ पर जोर देने से बाई नौलि बहार निकलेगी।

इतना कर लेने के बाद याने बाम और दक्षिण नौलि को साध लेने के बाद नौलि को घुमाना या चक्कर देना भी आसान हो जाता है। तब नौलियो को अतिवेग पूर्वक ३॥ चक्कर बाए से और ३॥ चक्कर दाएं से बराबर घुमना चाहिए। यही सम्पूर्ण नौलि कर्म है, जिसके विषय मे ऊपर बतलाया जा चुका है।

नौलि क्रिया से लाभ

नौलि क्रिया के निरन्तर अभ्यास से अनेक लाभ होते हैं। नौलि क्रिया मुख्य रूप से सम्पूर्ण जठर (उदर) प्रदेश को प्रभावित करती है जिससे जठर प्रदेश मे स्थित समस्त अन्तः अवयवो की क्रिया प्रभावित होती है जिसका अनुकूल प्रभाव शरीर पर पड़ता है। योग शास्त्र मे नौलिक्रिया से होने वाले निम्न लाभ बतलाए गए हैं —

मन्दाग्नि सदीपनपाचनादिसधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३४

अर्थात् हठक्रिया मे सर्वोत्तम यह नौलिक्रिया मन्दाग्नि को दूर कर अग्नि का सदीपन करने वाली, पाचनादि क्रियाओ को करने वाली, सदैव आनन्द देने वाली, सभी दोषो और सभी रोगों को दूर करने वाली है।

'भक्तिसागर' के अनुसार—

मल पेट में रहन न पावे, अपानवायु तासो वश आवे।
जो गुरु करके ताहि बितावें, न्यौलिकर्म सुगम कर पावे॥

विशेष—कुछ विद्वानो, योगाभ्यासियो एवं अनुभवी महात्माओ के मतानुसार धौति और बस्ति कर्म नौलक्रिया के बिना होना सम्भव नहीं हैं। कुंजल, शंख प्रक्षालन आदि कर्म भी नौलि के बिना अपूर्ण रह जाते हैं। वज्रौलि तो नौलि के सम्यक् अभ्यास के बिना ठीक तरह से होना कतई सम्भव नहीं है।

इस नौलि क्रिया के द्वारा आँतों में चिपका हुआ मल उखड़ कर दूर हो जाता है, जिससे कब्ज की शिकायत मिट जाती है और मन्दाग्नि दूर होकर पाचन क्रिया सम्यक्तया सम्पादित होने लगती है। यकृत्, प्लीहा और क्लोम की विकृतियां दूर होकर गुल्म (वायु-गोला) और शूल का शमन हो जाता है। अपानवायु वशीभूत हो जाती है और उदर सम्बन्धी सभी विकार दूर हो जाते हैं, जिससे योगाभ्यासी को आरोग्य एवं अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

योगाभ्यासी की कुण्डलिनी के उत्थान मे भी यह क्रिया सहायक है। मयूरासन और पश्चिमोत्तानासन सिद्ध करके आरम्भ मे आठ दिन तक यदि पत्थरचटा की साग खाई जाय तथा घी-तेल आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन न ही किया जाय तो नल जल्दी छूटकर यह क्रिया सुगम हो जाती है।

आँतो मे क्षत या सूजन होने पर यह क्रिया निषिद्ध है।

—o—

६–कपालभाति कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३५

अर्थात् लोहार की भस्त्रा के समान संभ्रम से याने एक बार रेचक पूरक प्राणायाम को करना 'कपालभाति' कहलाता है। यह क्रिया कफ दोष का शोषण करने वाली है।

क्रियाविधि

सर्व प्रथम पद्मासन मे बैठकर दाहिने हाथ की अनामिका और मध्यमा अगुलि से नासिका के बाएं छिद्र को तथा अंगूठे से दाहिने स्वर को बन्द करना चाहिए। अब अंगूठा हटा कर बाएं स्वर को बन्द किये हुए ही दाहिने स्वर से यथासाध्य बलपूर्वक 'रेचक' प्राणायाम करना चाहिए। याने श्वास को सम्पूर्णतः बाहर निकाल देना चाहिए। फिर तत्काल दाहिने स्वर से 'पूरक' प्राणायाम करके याने श्वास को अन्दर खीच कर अंगूठे से दाहिना नासिका छिद्र दबा कर बन्द कर देना चाहिए। अंगूठे से दाहिना स्वर बन्द करके दोनो अंगुलियाँ हटाकर बाए छिद्र से 'रेचक' करना चाहिए और उसी से पुनः तत्काल 'पूरक' करना चाहिए। इसके बाद दाएं छिद्र से 'रेचक' व 'पूरक' करना चाहिए। इस प्रकार दोनों छिद्रों से बारी बारी से यह क्रिया अनेक बार की जानी चाहिए। इसे करते समय रेचक के साथ पेट को पिचकाना और पूरक के साथ पेट को फुलाना आवश्यक है।

लाभ

इस क्रिया से अनेक लाभ होते हैं। शास्त्रीय वचनो के अनुसार इस क्रिया को निरन्तर करने से कफ दोष का शोषण होता है। आयुर्वेद के अनुसार कफ से उत्पन्न होने वाले रोगो की संख्या बीस है—"कफ रोगाश्च विंशतिः" इसका तात्पर्य यह हुआ कि कपाल भाति क्रिया के द्वारा बीस प्रकार के कफज रोगो का नाश होता है।

प्रतिश्याय (जुकाम) होने की स्थिति मे जब श्वास नलिकाओ से प्रभूत मात्रा में श्लेष्मा का स्राव होता है तथा सूत्र नेति और धौति क्रिया से अभीष्ट लाभ नही होता है तब यह क्रिया (कपालभाति) बहुत ही लाभदायक होती है। इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करने से फुफ्फुस (फेफडो) मे जमा हुआ कफ़ पिघल कर पसीने के द्वारा तथा श्वासनलिकाओ के द्वारा बाहर निकल जाता है। इससे फेफडे शुद्ध हो जाते हैं और श्वास उच्छ्वास के समय उनका पर्याप्त विकास व सकोच होता है। कफ का शमन होने से मस्तिष्क और आमाशय भी स्वस्थ हो जाते हैं जिससे उनकी स्वाभाविक क्रिया निर्बाध हो जाती है। परिणामत: पाचन शक्ति ठीक हो जाती है, तथा श्वास कास आदि रोग निर्मूल हो जाते है। रक्त शुद्ध होता है और मुख पर कान्ति आ जाती है। कफ रहित शुद्ध हुई सुषुम्ना एवं अन्य नाडिया प्राकृतिक रूप मे गतिशील हो जाती हैं। इससे योगाभ्यासी को मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

आरम्भिक क्रम मे प्रतिदिन २५ बार यह क्रिया की जानी चाहिए। योग्य गुरु के सरक्षण में यह क्रिया करने से यथेष्ट लाभ होता है।

निषेध

अति प्रमाण मे यह क्रिया वर्जित है। अति प्रमाण मे यह क्रिया करने से फेफडो की शिथिलता और जीवन शक्ति का ह्रास सम्भावित है। अधिक जोर से श्वासोच्छ्वास करने से नाडियो मे आघात पहुचना सम्भव है।

उर:क्षत, हृदय की निर्बलता, पीलिया, पाडुरोग, हिक्का, ज्वर, निद्रानाश, उर्ध्वग रक्तपित्त तथा पित्त सम्बन्धी अन्य विकारो मे यह क्रिया निषिद्ध है। यात्रा काल, वर्षाकाल, अतिशीतल वायु, वेगवान वायु (आंधी), आतप आदि मे भी यह क्रिया नही करना चाहिए।

उपर्युक्त षट्कर्म का प्रयोजन

प्राणायाम की सिद्धि के लिए उपर्युक्त षट्कर्म का अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसके शरीर मे मेद (चरबी) की अधिकता और श्लेष्मा की वृद्धि हो उसे प्राणायाम की सिद्धि के लिए षट्कर्म का नियमित अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

जिसके शरीर मे त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उसे नेत्र-धौति आदि करने की आवश्यकता नही है। फिर भी वसन्त ऋतु और कफ प्रकोप के समय अभ्यास किया जा सकता है। योग्य गुरु के उपदेश का अनुसरण करते हुए उनके मार्ग निर्देशन में यथावश्यक रूप से हर ऋतु मे षट्कर्म का अभ्यास किया जा सकता है। हठयोग मे शरीर की शुद्धि का प्रथम सोपान रूप यह षट्कर्म शरीर को शुद्ध, स्वस्थ एवं हल्का बनाकर मन को निर्मल, स्वच्छ और प्रसन्न बनाता है। यह षट् कर्म शारीरिक और मानसिक स्वस्थता की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी एव हितावह है।

आचार्यों का अभिमत है कि धौति आदि षट्कर्मों के प्रयोग एव निरन्तर अभ्यास से शरीर के श्लेष्मा जन्य विकार, मेद तथा अन्य मलो का पूर्णतः सशोधन हो जाता है जिससे शरीर की स्थूलता दूर होती है। अतः इन षट्कर्म के पश्चात् यदि प्राणायाम किया जाय तो अनायास ही उसकी सिद्धि हो जाती है। आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र लिखते हैं—

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायाम तत. कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३६

यद्यपि याज्ञवल्क्य आदि कतिपय आचार्यों का यह भी अभिमत है कि प्राणायाम के द्वारा ही सभी मल शुष्क हो जाते हैं तथा स्थूलता आदि विकारो का नाश हो जाता है। अत. षट्कर्म करने की आवश्यकता नही है। यथा—

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३६

तथापि यदि प्राणायाम करने के पूर्व षट्कर्मों का अभ्यास करके शरीर का शोधन कर लिया जाता है। उसके उपरान्त यदि प्राणायाम किया किया जाय तो वह अधिक श्रमसाध्य नही होगा। जबकि बिना षट्कर्मों के यदि प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि हेतु अधिक परिश्रम करना पडेगा। अत. षड्कर्मों की उपयोगिता असन्दिग्ध है। योगाभ्यासी को इन षट्कर्म का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

—०—

योगाङ्ग विवेचन ४--प्राणायाम

योगशास्त्र के अनुसार प्राणायाम योग का चतुर्थ अ ग है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाँग योग मे यम, नियम और आसन के पश्चात् प्राणायाम का परिगणन किया है। यम और नियम का सम्यक्तया परिपालन तथा आसनो का भली भाति अभ्यास करके इन्द्रियो की बाह्य प्रवृत्ति और मन की चञ्चलता का निरोध कर शात चित्त पूर्वक नियमानुसार पथ्य, हितकारि और सम प्रमाणयुक्त आहार लेते हुए कृताभ्यासी सुयोग्य गुरु के सान्निध्य मे प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम की उपयोगिता केवल योगीजनो के लिए ही नही है, अपितु सामान्य व्यक्तियो के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी एव लाभदायक है। योगियो के लिए प्राणायाय का अभ्यास जहाँ साधना का मार्ग प्रशस्त कर उन्हें ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है वहां जन सामान्य के लिए प्राणायाम का अभ्यास शारीरिक व मानसिक आरोग्य एव दीर्घायुष्य प्रदान करता है। प्राणायाम की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य अपने सम्पूर्ण आयुष्य का उपभोग निराबाध रूप से कर सकता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राणायाम के मूलभूत तत्व और उसकी प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझे तथा तदनुसार ही उसके प्रयोग व अभ्यास को गति दें।

यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राणायाम एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो मानव जीवन को आध्यात्मिक मार्ग के द्वारा शाश्वत सुख की ओर ले जाती है। आयुर्वेद की दृष्टि से भी इस प्रक्रिया का अत्यधिक महत्व है। क्योकि आयुर्वेद शास्त्र का मूल प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का उपशमन करना है। प्राणायाम के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा तो होती ही है, उसके शरीरगत विभिन्न विकारो का उपशमन भी होता है। दोषो की समस्थिति, धातु और मलो की सम क्रिया, जठराग्नि की दीप्ति, इन्द्रियो के विकारो की निवृत्ति, मनोविकारो का उपशमन, मन की चञ्चल वृत्ति का निरोध तथा आत्मा की निर्मलता भी प्राणायाम के द्वारा होती है। ये सब आयुर्वेद से सम्बन्धित विषय हैं। अत: आयुर्वेद के लक्ष्य साधन मे प्राणायाम भी एक महत्वपूर्ण साधन है। यद्यपि प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त करना है, तथापि शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक

आरोग्य उसके द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अतः आयुर्वेद दृष्टि से भी प्राणायाम मनुष्य के लिए उपादेय है।

भारतीय संस्कृति और हमारे धर्मशास्त्र के अनुसार ससार मे प्रत्येक प्राणी के द्वारा विहित अपने शुभाशुभ कर्म के आधार पर उसके आयुष्य की कालावधि निश्चित होती है। योगशास्त्र मे इसी तथ्य का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है— "ससार मे प्रत्येक प्राणि को अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार एक जन्म मे जो सुख-दुःख भोगना पडता है, उसके लिए एक नियत अवधि तक उसे जीवन (आयु) प्राप्त होता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त की कालावधि 'जीवन' या 'आयु' कहलाती है। इस कालावधि या जीवन यापन के लिए प्रत्येक प्राणि को 'श्वासोच्छ्वास' प्राप्त होता है। श्वासोच्छ्वास या जीवन यापन की इसी कालावधि को लौकिक भाषा मे 'आयु' की संज्ञा दी गई है। अपने अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार किसी को ५० लाख, किसी को एक करोड, किसी को दस करोड, किसी की बीस, तीस या चालीस करोड़ या इससे भी अधिक श्वासोच्छ्वास लेने की शक्ति प्राप्त होती है। सभी प्राणि अपना निश्चित श्वासोच्छ्वास पूर्ण होते ही अपने उस जन्म से मुक्ति पा जाते हैं। अनेक प्राणियो की श्वासोच्छ्वास शक्ति अस्वस्थता, दीर्घकालीन रोग ग्रस्तता असंयमित जीवन यापन, इन्द्रिय लोलुपता, मानसिक विकृति आदि के कारण समय से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति मे असमय मे ही उसे काल का ग्रास बनना पड़ता है। किन्तु प्राणायाम की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सतत अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने श्वासोच्छ्वास की गति का नियमन कर सुदीर्घ काल तक अपनी सम्पूर्ण आयु का निरोग रहते हुए निराबाध रूप से उपभोग कर सकता है। वस्तुत. श्वासोच्छ्वास का नियन्त्रण ही सुदीर्घ आयु और स्वस्थ जीवन का आधार है। योगशास्त्र के अनुसार प्राणायाम वह हेतुभूत प्रक्रिया है जो श्वासोच्छ्वास नियमन रूपी कार्य या परिणाम को जन्म देती है और जिससे निरोग दीर्घायुष्य रूप फल की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम का लक्षण या परिभाषा

श्वासोच्छ्वास मनुष्य की एक जन्मजात स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि सामान्य अवस्था मे इस प्रक्रिया मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है या किसी कारणवश श्वासोच्छ्वास की क्रिया बन्द हो जाती है तो तत्काल ही मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है, किन्तु प्राणायाम की पद्धति इसके ठीक विपरीत है। अर्थात् श्वास प्रश्वास की गति को प्रयत्न और अभ्यास पूर्वक रोक लेना ही प्राणायाम का सामान्य लक्षण है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी प्राणायाम का इसी प्रकार का लक्षण प्रतिपादित किया है–

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।"

—योग दर्शन २/४९

अर्थात् उस आसन की सिद्धि होने पर श्वास और प्रश्वास की गति का अवरुद्ध हो जाना ही प्राणायाम है।

शरीर मे नासा मार्ग के द्वारा जो प्राणवायु ग्रहण की जाती है वह 'श्वास' कहलाती है और जो वायु नासारन्ध्रो से बाहर निकाली जाती है उसे 'प्रश्वास' या 'उच्छ्वास' कहते हैं। ग्रहण की गई शुद्ध प्राण वायु शरीर के लिए उपयोगी एव हितकर होती है, जबकि बाहर निकाली गई वायु शरीर के लिए अहितकर एवं अग्राह्य होती है। स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सामान्य नियमानुसार मनुष्य को अपना निवास, आहार-विहार तथा सभी दैनिक कार्य शुद्ध व स्वच्छ वातावरण मे ही करना चाहिए। शुद्ध वायु का सदैव शरीर पर अनुकूल प्रभाव पडता है। अत रात्रि को खुली हवा मे शयन करना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी एव हितकर माना गया है।

श्री ब्रह्मानन्द के अनुसार भी प्राणवायु का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। यथा—"प्राणस्य शरीरान्त सचारि यो आयमन निरोधनमायाम प्राणायाम ।"

गोरक्षनाथ के द्वारा प्राणायाम का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है-- "प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति ।" अर्थात् अपनी देह के जीवन की अवस्था का नाम प्राण है और उस अवस्था के अवरोध को आयाम कहते है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीवन की अवस्था के अवरोध का नाम प्राणायाम है।

भिन्न भिन्न शास्त्रो मे विभिन्न स्थलो पर प्रयुक्त 'प्राण' शब्द भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक है, तथापि 'योगसूत्र' मे महर्षि पतञ्जलि ने प्राण शब्द का प्रयोग श्वास के अर्थ मे किया है जो प्राण का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है। 'प्राण का आयाम' अर्थात् उच्छ्वसित या नि.श्वसित वायु को वही रोककर उसके अन्तराल वा समय मे वृद्धि करना। कुछ विद्वानो के अनुसार प्राणो मे विराम अर्थात् श्वास को यथास्थान रोक लेना ही प्राणायाम है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राणवायु ही मानव जीवन का मूल आधार है। उसी के द्वारा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाए सम्पादित होती है। श्री गोरक्षनाथ जी ने प्राण शब्द का अर्थ जो "स्वदेहजीवायु" किया है वह यथार्थ है और जीवन की आधार भूत 'प्राणवायु' की ओर ही सकेत करता है। क्योकि शरीर मे जहा जहा भी जीवन वाहक के रूप मे प्राण सन्निहित है वहा 'प्राणवायु' ही उस प्राण का मूल आधार है।

इस प्रकार प्राणायाम एक ऐसी क्रिया विशेष है जिसमे 'प्राण' का अवरोध पूर्वक समस्त बाह्य-आभ्यन्तर शारीरिक और मानसिक क्रियाओ को नियन्त्रित किया

जाता है। क्योंकि "सर्वा हि चेष्टा वातेन" के अनुसार शरीर की सम्पूर्ण अन्त: और बाह्य क्रियाए प्राणवायु के द्वारा ही नियन्त्रित रहती हैं।

प्राणायाम मे प्राण का महत्व

ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्राणायाम मे 'प्राण' ही वह महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है जिस पर सम्पूर्ण प्राणायाम आधारित है। क्योंकि प्राणायाम के द्वारा 'प्राण' का अवरोध पूर्वक ही शारीरिक एव मानसिक अन्यान्य चेष्टाओ को नियन्त्रित किया जाता है। अत यह आवश्यक है कि प्राण के विषय में योगशास्त्र सम्मत व्यवहार्य अर्थ का निर्धारण किया जाय। योगशास्त्र की दृष्टि से 'प्राण' क्या है तथा इतर शास्त्रो मे उसका क्या अर्थ लिया गया है उसका भी यहा विवेचन समीचीन प्रतीति होता है।

योगशास्त्र की दृष्टि से शरीर मे व्याप्त वायु मात्र ही प्राण है। अर्थात् वायु के लिए प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है। हम सामान्यत. नासिका के बाए और दाहिने छिद्र (मार्ग) से श्वासोच्छ्वास की क्रिया करते हैं। यह क्रिया दो भिन्न मार्गों के द्वारा सम्पन्न होती है। दाहिने नथुने का प्राण-प्रवाह 'सूर्यनाड़ी' और बाएँ नथुने का प्राण-प्रवाह 'चन्द्रनाड़ी' के नाम से जाना जाता है। ये दोनो प्राण-प्रवाह जब अन्दर जाकर परस्पर सयुक्त हो जाते है तो दोनो के सयोग से जो तीसरा प्राण-प्रवाह निर्मित होता है और दोनो नथुनो से प्रवाहित होता है उसे 'सुषुम्ना नाड़ी' की संज्ञा दी गई है।

हमारे सम्पूर्ण शरीर मे जो प्राण अर्थात् वायु स्थित है और अपने प्राकृत कर्मों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का अनुग्रह करता है। वह पाच प्रकार का होता है। शरीर में उसके नाम और स्थान निम्न प्रकार है—

१ **प्राण**—यह हृदय प्रदेश मे रहता है और मानव जीवन का आधार है।

२ **अपान**—यह नाभि के नीचे उदर प्रदेश के अधोभाग मे स्थित रहता है।

३. **समान**—यह उदर के मध्य भाग मे स्थित रहता है।

४. **उदान**—यह कण्ठ प्रदेश तथा उर्ध्व जत्रुगत भाग मे स्थित रहता है।

५. **व्यान**—यह सम्पूर्ण शरीर चारी है।

आयुर्वेद के अनुसार भी शरीर मे वायु का विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है। प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान ये वायु के ही पांच भेद बतलाए गए हैं तथा आयुर्वेद शास्त्र मे उनके पृथक्-पृथक् कर्म एव स्थान प्रतिपादित किए गए हैं। शरीरगत समस्त भावो मे वायु की प्रधानता है यह महर्षि चरक के निम्न वचन द्वारा सुस्पष्ट है—

"वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चाव-

वानां, नियन्ता प्रणेता च मनस, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक:, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकर:, सधानकर शरीरस्य, प्रवर्तको वाच:, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयो:, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनि, समीरणोऽग्ने, दोषसंशोषण:, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपित.।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १२/७

अर्थात् वायु तन्त्र (शरीर) और यन्त्र (शरीरावयवो) को धारण करने वाला, प्राण—उदान—समान—व्यान—अपान इन पाँच प्रकारो वाला, ऊँची और नीची सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओ का प्रवर्तक, मन का नियन्त्रण और प्रेरण करने वाला, सभी इन्द्रयो को अपने अपने विषय को ग्रहण करने मे प्रवृत्त कराने वाला, सभी इन्द्रियो के अर्थों (विषयो) को स्वय ग्रहण कर इन्द्रियो तक ले जाने वाला, शरीर की समस्त धातुओ का व्यूह करने वाला (स्वस्थान मे नियत मात्रा मे स्थिर करने वाला) शरीर का सन्धान करने (गर्भावस्था मे अस्थि और पेशियो को यथास्थान जोड़ने) वाला है। वाणी का प्रवर्तक, स्पर्श और शब्द की प्रकृति, श्रोत्र और स्पर्शनेन्द्रिय का मूल, हर्ष और उत्साह की योनि, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, विकृत दोषो का शोषण करने वाला, स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि मलो को बाहर निकालने वाला, स्थूल या अणु स्रोतो का भेदन करने वाला, गर्भ की भिन्न-भिन्न आकृतियो का कर्त्ता है। इस प्रकार अकुपित (प्राकृत) वायु, आयु (जीवन) का अनुवृत्ति (निर्वाह मे सहायक) है।

अथर्ववेद मे वायु को ही 'प्राण' माना गया है। यथा—

प्राणमाहुर्मातरश्विनं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूत भव्य च प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्॥

—प्राण को मातरिश्वा कहते है, वायु ही प्राण कहलाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्राण मे ही अधिष्ठित है।

शरीर प्राण मे का महत्व निम्न प्रकार बतलाय गया है—

"यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु.॥"

—कौषीतकी उपनिषद्

—जब तक शरीर मे प्राण अवस्थित है तब तक जीवन होता है।

इसी प्रकार शरीर मे प्राण की स्थिति स्पष्ट करते हुए वायु रूप मे उसका संचार निम्न उद्धरण द्वारा प्रतिपादित है—

येन जीवति जीवोऽयं निर्जीवो य बिना भवेत्।
स प्राण इति विख्यातो वायुः क्षेत्रचरः परः॥

—शार्ङ्गधर पद्धति

—जिससे यह प्राणी जीवित रहता है और जिसके बिना यह निर्जीव हो जाता है वह 'प्राण' कहलाता है। शरीर में विचरण करने वालों मे यह 'प्राणवायु'

प्राण की महत्ता के प्रतिपादन के सम्बन्ध मे तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण एव उपयोगी हैं—

"प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

प्राण से ही ससार के ये सारे प्राणि उत्पन्न होते है, जीवित रहते हैं और प्राण मे ही जाकर विलीन हो जाते हैं।

प्राणं देवा अनुप्रणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायु तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥

—प्राण के अनुयायी होकर देव, मनुष्य और पशु-पक्षी प्राणन करते (जीवित रहते) हैं। प्राण ही प्राणियो की आयु (जीवन) है। इसलिए वह 'सर्वायुष' (आयु प्रदान करने वालो मे सर्वश्रेष्ठ) कहलाता है।

सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये ब्रह्मोपासते।
प्राणो हि भूतानामायु. तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥

जो प्राण की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियो का जीवन है। इसलिए यह 'सर्वायुष' कहलाता है।

उपर्युक्त विभिन्न उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि मानव शरीर मे जीवन का आधार एकमात्र 'प्राण' है। वह प्राण शरीर मे वायु या प्राणवायु से अतिरिक्त नही है। इसीलिए योग शास्त्र में प्राणायाम के अन्तर्गत वायु के निरोध का निर्देश किया गया है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३

शरीर मे जब तक वायु अवस्थित रहती है तब तक ही 'जीवन' कहलाता है। शरीर से वायु का बाहर निकल जाना 'मरण' कहलाता है। अतः उस वायु का निरोध करना चाहिए।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२

—वायु के चलायमान रहने पर चित्त (मन) भी चलायमान रहता है। वायु के निश्चल हो जाने पर मन भी निश्चल हो जाता है और योगी स्थाणुत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् ठूँठ की भाति निश्चल या स्थिर देह वाला हो जाता है। अतः वायु का निरोध करना चाहिए।

प्राणायाम का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य ब्रह्मानन्द जी लिखते हैं—

"प्राणस्य शरीरान्त· सचारिवायोरायमन निरोधनमायाम.।"

प्राण अर्थात् शरीर के अन्दर सचरित वायु का आयमन अर्थात् निरोध करना ही 'प्राणायाम' कहलाता है।

यहा पर भी प्राण शब्द से वायु का ही ग्रहण किया गया है। ऊपर जिस प्रकार 'प्राण' को आयु या जीवन कहा गया है। उसी प्रकार अन्यत्र वायु को ही जीवन प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिद सर्व प्रभुर्वायुश्च कीर्तित.॥

—वायु जीवन है, वायु बल है, वायु प्राणियो के शरीर को धारण करने वाला है, वायु यह सम्पूर्ण विश्व है और वायु ही सबका प्रभु कहा गया है।

वायुरेव महाभूत वदन्तु निखिला जना.।
आयुरेवैष भूतानामिति मन्यामहे वयम्॥

— जगन्नाथ पण्डित

– वायु को लोग (पचमहाभूतो मे से एक) महाभूत भले ही कहे, हम तो उसे सभी भूतो (प्राणियो) का जीवन या प्राण मानते हैं।

रामायण मे भी इसी प्रकार वायु को प्राण निरूपित करते हुए उसका महत्व प्रतिपादित किया गया है—

शरीर हि बिना वायुः समतां याति दारुभिः।
वायु प्राण सुखं वायुर्वायुः सर्वमिद जगत्॥

— वायु के बिना यह शरीर लकडियो के समान (निर्जीव या अचेतन) हो जाता है। इसलिए वायु ही शरीर का प्राण है, वायु ही सुख (स्वास्थ्य) है और वायु ही यह सारा विश्व है।

इस प्रकार इन प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि शरीर मे प्राण की स्थिति वायु से अतिरिक्त नही हैं और प्राणवायु मे जिस प्राण का आयमन याने निरोध किया जाता है वह वस्तुत वायु का ही निरोध होता है। प्राणायाम मे प्राण ही वह मुख्य वस्तु है जिस पर प्राणायाम का सारा आधार विद्यमान है।

प्राणायाम में 'त्रिबंध' का उपयोग

हठयोग के अनुसार प्राणायाम की क्रियाविधि मे तीन प्रकार के बंधो का प्रयोग किया जाता है। इन बधों के प्रयोग से प्राणायाम के अभ्यास में सहायता मिलती है। त्रिबध निम्न प्रकार हैं—

१. **जालन्धर बध**—"कंठाकुञ्चनपूर्वक चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालधर बंधः" अर्थात् ठोडी को कण्ठाकुञ्चन पूर्वक हृदय के पास स्थापित करना (ठोडी को हृदय से चार अगुल ऊपर कण्ठकूप मे लगाना) 'जालधर बध' कहलाता है।

२ **उड्डियान बध**—"प्रयत्नविशेषण नाभिप्रदेशस्य पृष्टत आकर्षणमुड्डियानबधः ॥" अर्थात् प्रयत्न विशेष के द्वारा नाभि प्रदेश (नाभि के ऊपर और नीचे चार अगुल उदर) को पीठ की ओर खीचना "उड्डियान बध" कहलाता है।

३. **मूलबध**—"अधः प्रदेशादाकुञ्चनमिति मूलबध.।" अर्थात् अध· प्रदेश (गुदा)का आकुञ्चन करना 'मूलबध' कहलाता है।

उपर्युक्त तीनो बधो सहित निम्न विधि पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए—उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन मे बैठ कर शरीर को स्थिर कर गर्दन को सीधी और सरल रखकर अपने गुरू एवं इष्टदेव को प्रणाम करके दाहिने नथुने को दाहिने हाथ के अगूठे से दबाकर बाए नथुने के द्वारा उसका रेचन करके पेट खाली कर देना चाहिए। इससे पेट अदर पृष्ठभाग की ओर दब जायगा। उसको उसी स्थिति मे रख कर नासिका के बाएं नथुने से धीरे-धीरे बाहर से वायु अन्दर की ओर खीचना चाहिए। (जिस प्रकार कमलनाल से मुख के द्वारा पानी धीरे धीरे खीचा जाता है। उसी प्रकार बाए नासामार्ग के द्वारा भी वायु धीरे धीरे अन्दर खीचना चाहिये।) बाएं नासामार्ग के द्वारा वायु अन्दर खीचते समय चार, आठ या सोलह मात्रा पूर्वक प्रणव का उच्चारण करना चाहिए। (चुटकी बजाने मे जो समय लगता है उसे एक मात्रा कहते हैं।) इससे उदर अपने आप पूरित होकर अपनी स्वभाविक स्थिति मे आ जायगा। इस समय नाभि मे अपने इष्टदेव का स्मरण पूर्वक ध्यान करना चाहिए और मूलबध का प्रयोग करना चाहिए।

इसके पश्चात् जालधर बध पूर्वक नासिका के दोनो छिद्रो को बन्द करके क्रम पूर्वक सोलह, बत्तीस या चौसठ मात्रा तक श्वास का अवरोध करना चाहिए। तत्पश्चात् जालंधर बध का विमोचन कर दाहिने नासामार्ग के द्वारा उदरगत प्राण वायु को

धीरे धीरे सम्पूर्णतः बाहर निकालना चाहिए। प्राण वायु के बाहर निकलने से उदर स्वतः ही अन्दर की ओर दबता चला जायगा। ज्यों ज्यों पेट अन्दर की ओर दबता जाय त्यो त्यो उड्डियान बंध करते जाना चाहिए। ऐसा करने से पेट अनायास ही अन्दर दब जायगा। कुछ काल तक ऐसी ही स्थिति बनाए रख कर स्तम्भ वृत्ति (बाह्य कुम्भक) का अभ्यास करते हुए नासिका के वाम रन्ध्र को अनामिका और कनिष्ठिका से रोक कर बन्द कर देना चाहिए। कुम्भक के अन्त मे रेचक के समय उड्डियानबंध करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्य-नाडी के द्वारा पूरक करना चाहिए। फिर कुम्भक और उसके बाद चन्द्र-नाडी के द्वारा रेचन करना चाहिए। यह प्रक्रिया पुन· पुन. की जानी चाहिए।

जिस नासिका मार्ग से पूरक किया गया हो उसी से रेचक किया जाय तब एक प्राणायाम कहलाता है। पूरक के समय मूलबंध सहित जालधर बंध करना चाहिये और रेचक के समय मूलबंध सहित उड्डियान बंध करना चाहिए। रेचक किए हुए नासारन्ध्र से पुनः पूरक नही किया जाना चाहिए। इस क्रिया को अनुलोम विलोम प्राणायाम कहते हैं। इस प्रकार आरम्भ मे १० प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। उसके बाद यथा शक्ति उसे बढा कर अस्सी प्राणयाम तक किए जा सकते हैं। निरन्तर तीन माह तक इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी नाड़ियाँ मल रहित हो जाती हैं और योगी के अन्तःकरण मे निर्मलता का आभास होने लगता है।

प्राणायाम का अभ्यास काल और अवधि

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्त चतुर्वारं समभ्यसेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/११

प्रातः काल अर्थात् अरुणोदय से लेकर सूर्योदय से तीन घडी दिन चढ़े तक और मध्याह्न मे अर्थात् पाँच भाग किए गए दिन के मध्य भाग मे और साय काल अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व और सूर्यास्त के अनन्तर तीन घडी रूप सध्या के समय में और अर्धरात्र मे अर्थात् रात्रि के मध्य भाग के दो मुहूर्तों मे इस प्रकार चार बार शनैः शनैः इन चार कालो मे अस्सी प्राणायाम करे। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण अहोरात्र (२४ घंटे) में चार बार (प्रात-मध्याह्न-साय-अर्धरात्रि मे) प्राणायम करना चाहिए। इस प्रकार चार बार मे कुल ३६० प्राणायाम करना चाहिए। यदि किसी कारणवश अर्धरात्रि मे प्राणायाम किया जाना सम्भव न हो तो दिन मे तीन बार ही प्राणायाम करना चाहिए और उसकी कुल सख्या २४० हो।

त्रिविध प्राणायाम

परिणाम की दृष्टि से हठयोग मे तीन प्रकार का प्राणायाम निरूपित किया गया है। यथा-कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। इन तीनो ही प्राणायामो में होने वाले लक्षणों का उल्लेख हठयोग मे निम्न प्रकार से किया गया है—

कनीयसि भवेत्स्वेद कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/१२

कनिष्ठ प्राणायाम मे स्वेद होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर पसीना आ जाय तो उसे कनिष्ठ प्राणायाम समझना चाहिये। मध्यम प्राणायाम मे कम्प होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर शरीर मे कम्पन होने लगे तो उसे मध्यम प्राणायाम जानना चाहिये। उत्तम प्राणायाम मे योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थान को प्राप्त होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर प्राणवायु ब्रह्मरध्र मे पहुच जाती है तो उत्तम प्राणायाम समझना चाहिये। उससे प्राणवायु का निरन्तर बंधन करना चाहिये याने प्राणयायु को रोकना चाहिये।

कनिष्ठ आदि त्रिविध प्राणयामो का लक्षण लिंगपुराण में निम्न प्रकार से प्रतिपादित है—

प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशक स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः॥
मध्यमस्तु यस्त्रिरुद्‌घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्‌घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥
प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्।
आनन्दो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च॥
रोमाञ्चो ध्वनिसंविशिरंगमोटनकम्पनम्।
भ्रमणस्वेदजल्पाद्य संविन्मूर्छा जयेद्यदा॥
तदुत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।

अर्थात् प्राणयाम का प्रमाण द्वादश मात्रा का होता है। प्राण वायु का एक बार उद्‌घात वाला द्वादशमात्रा का प्राणायाम नीच (कनिष्ठ या अवर) होता है; दो उद्‌घात वाला चौबीस मात्रा का प्राणायाम मध्यम रोता है तथा तीन उद्‌घात वाला छत्तीस मात्रा का प्राणायाम मुख्य (उत्तम) होता है। इनमे क्रमशः प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान लक्षण होता है। इन प्राणायामों मे आनन्द, निद्रा और घूम (चित्त का आन्दोलन) होता है। जब योगी रोमाञ्च, ध्वनि का ज्ञान, अंगो का मोटन, कम्पन, भ्रम,

स्वेद, जल्पादि की संवित् (कथन परिज्ञान) मूर्च्छा आदि को जीत लेता है तो वह सुशोभन प्राणायाम उत्तम बतलाया गया है।

गोरक्ष ने भी तीनो प्राणायामो को क्रमश द्वादश, चतुर्विंशति और षट्त्रिंशत मात्रा वाला निरूपित किया है। यथा—

अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे त्रिगुणा: स्मृता: ।
उत्तमे त्रिगुणा मात्रा प्राणायामे द्विजोत्तमै: ॥

ऊपर त्रिविध प्राणायाय के जो लक्षण बतलाए गए है उनमे 'उद्घात' और **'मात्रा'** ये दो शब्द विशेष रूप से ज्ञातव्य है। क्योकि इनके ज्ञान के बिना लिंग पुराणोक्त प्राणायाम को समझ पाना अत्यन्त दु:सह होगा। उद्घात का लक्षण निम्न प्रकार से बतलाया गया है—

प्राणेनोत्सर्पमाणेनापान पीड्यते यदा ।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥

अर्थात् ऊपर की ओर गए हुए प्राण के द्वारा जब अपान पीड़ित होता है और ऊर्ध्वगत प्राण जब पुन. वापिस लौटता है— यह 'उद्घात' का लक्षण है।

मात्रा के विषय मे याज्ञवल्क्य का कथन है—

अगुष्ठांगुलिमोक्ष त्रिभिर्जानुपरिमार्जनम् ।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञा प्रचक्षते ॥

अर्थात् अगुष्ठ और अगुलि का तीन बार मोक्ष (तीन बार चुटकी बजाना), तीन बार घुटने पर हाथ फेरना और तीन बार ताली बजाना इसे बुद्धिमान लोग मात्रा कहते हैं।

स्कन्द पुराण मे भी इसी प्रकार मात्रा निरूपित की गई है—

"जानुप्रदक्षिणी कुर्यान्न द्रुत न विलम्बितम्
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते"

अर्थात् न शीघ्रता से और न विलम्ब से जानु का प्रदक्षिण करके चुटकी बजाने मे जितना समय लगे वही समय मात्रा कहलाता है।

पुन: स्कन्द पुराण मे बतलाया गया है—

"एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते ।"

अर्थात् एक श्वास की जो मात्रा है वह प्राणायाम कहलाती है।

योग चिन्तामणि मे इसकी व्याख्या की गई है—**"निद्रावशंगतस्य पुंसो यावत् कालेनैक. श्वासो गच्छत्यागच्छति च, तावत्काल प्राणायामास्य मात्रेत्युच्यत इति ।"**

अर्थात् निद्रागत (शयन करते हुए) मनुष्य की एक श्वास जितने समय मे आती है और जाती है उतना समय प्राणायाम की एक मात्रा होती है।

इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्रीयुत् ब्रह्मानन्द जी लिखते हैं—"अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नकाल: प्राणायाम काल: । सड्भि: श्वसैरेक पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मक: काल: प्राणायामकाल: सिद्ध ।"

अर्थात् अर्धश्वास सहित द्वादश श्वास (साढ़े बारह श्वास) के काल को प्राणायाम का काल कहते हैं। छ: श्वास का एक पल होता है। इससे अर्ध श्वास सहित जो काल है वही प्राणायाम का काल हुआ।

प्राणायाम-अभ्यासोपरान्त

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ।।

परिश्रम पूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से जो श्रम-जल (स्वेद) उत्पन्न होता है उससे योगी अपने शरीर का मर्दन करे। ऐसा करने से शरीर की दृढ़ता और लघुता होती है। अभिप्राय यह कि ऐसा करने से शरीर मे जडता नही आ पाती।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्त क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढि भूते न तादृङ् नियमग्रह: ।।

अर्थात् प्रथम अभ्यास काल मे दूध और घी सहित भोजन श्रेष्ठ होता है। अभ्यास के दृढीभूत होने पर (प्राणायाम की सिद्धि होने पर) उक्त नियम का आग्रह नहीं है।

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास काल मे प्राणायाम की विधि करने के उपरान्त योगी को सावधानी पूर्वक आचारण, आहार आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ताकि शरीर मे कोई बाधा उत्पन्न न हो और शरीर मे दृढता व लघुता बनी रहे। अन्यथा शरीर की हानि की सम्भावना रहती है।

युक्तायुक्त प्राणायाम

अभ्यास विधि की दृष्टि से युक्त और अयुक्त दो प्रकार का प्राणायाम होता है। आहारादि का विधिवत् सेवन करना तथा जालधर आदि बध की युक्तिपूर्वक विधि से जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है वह युक्त प्राणायाम होता है और इसके विपरीत अयुक्त प्राणयाम होता है। युक्तायुक्त प्राणायाम का फल 'हठयोग प्रदीपिका' मे निम्नप्रकार से प्रतिपादित है—

प्राणायामाबियुक्तेनसर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग समुद्भव: ।

अर्थात् विधिपूर्वक युक्त प्राणायाम का अभ्यास करने से सम्पूर्ण दोषो का क्षय हो जाता है और अयुक्त प्राणायाम के अभ्यास से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास नही करने से वायु का प्रकोप हो जाता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदना ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥

अर्थात् अयुक्त प्राणायाम का अभ्यास करने पर वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिर-कर्ण-अक्षि की वेदना आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

प्राणवायु के प्रकोप से अनेक रोग होते है, अत प्राणायाम का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिए कि वायु का प्रकोप न होने पावे। इसके लिए—

युक्तं-युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास काल मे योगी युक्तिपूर्वक वायु का त्याग (उत्सर्ग) करे अर्थात् रेचन के समय शनै. शनै: ही प्राणावायु का रेचन करे, शीघ्रता पूर्वक नहीं। युक्तिपूर्वक ही उसका पूरण करे अर्थात् प्राणवायु के ग्रहण के समय भी युक्तियुक्त ही ग्रहण करे, न तो अल्प और न ही अधिक ग्रहण करें और युक्ति पूर्वक ही जालंधर बंध आदि के विधिपूर्वक प्रयोग से प्राणवायु को बांधे। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी सिद्धि को प्राप्त होता है।

इस प्रकार युक्त प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि होती है जिसके निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यत. ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायते निश्चितम् ॥
यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनात् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/१६-२०

अर्थात् जब नाडी शुद्धि होती है तब बाहरी रूप से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनमे शरीर की कृशता और शरीर की कान्ति (तेज) निश्चित रूप से होती है। इसके अतिरिक्त नाडी के शोधन से वायु का यथेष्ठ धारण, अग्नि (जठराग्नि) की प्रदीप्ति ध्वनि की अभिव्यक्ति और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

□

प्राणायाम के भेद

हठयोग मे श्री स्वात्माराम जी सूरि ने तीन प्रकार का प्राणायाम बतलाया है जो निम्न प्रकार है—

> प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
> सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मत ।।
>
> —हठयोग प्रदीपिका २/७१

अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का बतलाया गया है । पुन कुम्भक दो प्रकार का बतलाया गया है—१ रेचक—पूरक सहित और २. केवल कुम्भक ।

पुन॰ कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार का बतलाया गया है जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

यहा यह ज्ञातव्य है कि प्राणायाम के प्रकरण मे कही भी महर्षि पतञ्जलि ने पूरक, रेचक और कुम्भक शब्दो का प्रयोग नही किया है । योग सूत्र (योग दर्शन) के टीकाकार श्री व्यास जी ने भी इन शब्दो का प्रयोग नहीं किया है । हठयोग मे तीनो शब्दो का प्रयोग प्राणायाम के प्रसग मे व्यापक रूप से मिलता है ।

योगसूत्र मे भी मुख्यतः तीन प्रकार का प्राणायाम प्रतिपादित किया गया है । यथा—

> "बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।"
>
> —पातञ्जल योगदर्शन २/५०

अर्थात् बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति वाला यह प्राणायाम देश काल और सख्या के द्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ लम्बा और हल्का होता है ।

इस सूत्र मे यद्यपि तीन प्रकार का प्राणायाम ही प्रतिपादित किया गया है, किन्तु इसके आगे एक सूत्र मे चौथे प्रकार का प्राणायाम भी प्रतिपादित है । यह अनायास साध्य होने वाला राजयोग का प्राणायाम है । इसमे प्रयत्न के द्वारा प्राण की गति का अवरोध अपेक्षित नही होने से पूर्वोक्त तीनो प्राणायाम के साथ इसका परिगणन न कर पृथक् से

इसका कथन किया गया है। तथापि यह स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के कुल चार भेद बतलाए हैं। उनका क्रमशः विवेचन निम्न प्रकार है—

१—**बाह्यवृत्ति**—जो वायु नासारन्ध्रो से शरीर के बाहर निकाली जाती है और उसे बाहर निकाल कर बाहर ही वह जितने समय तक सुखपूर्वक रुक सके उसे रोके रखना और साथ ही साथ इस बात की भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहां अवस्थित है ? कितने समय ठहरा है और उतने समय मे स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी सख्या होती है ? यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहलाता है। इसमे प्राणवायु का रेचन होने के कारण तथा रेचन पूर्वक प्राण का अवरोध होने के कारण हठयोग मे इसे रेचक प्राणायाम की सज्ञा दी गई है अर्थात् हठयोग मे जो रेचक प्राणायाम प्रतिपादित है वह इससे भिन्न नहीं है। इस प्रवृत्ति का निरन्तर अभ्यास करते रहने से यह सुदीर्घ काल तक रुका रहने वाला और सूक्ष्म अर्थात् हल्का (अनायास साध्य) हो जाता है। इस प्रकार बाहर निकाले हुए प्राण की गति का अवरोध और प्राण की बहिः स्थिति को कतिपय विद्वान 'बाह्य कुम्भक' की संज्ञा भी देते हैं।

२ **आभ्यन्तरवृत्ति**— नासामार्ग के द्वारा प्राणवायु को शरीर के अन्दर ले जाकर जितने समय तक सुखपूर्वक उसका अवरोध हो सके उतने समय तक उसे अन्दर ही रोके रखना और साथ ही यह भी देखते रहना कि आभ्यन्तर प्रदेश मे प्राण कहा तक जाकर रुकता है। वहाँ कितने समय तक सुखपूर्वक स्थित रहता है और उतने समय मे प्राण की स्वाभाविक गति की कितनी सख्या होती है ? यह आभ्यन्तर प्राणायाम है, इसे पूरक प्राणायाम भी कहते हैं। क्योकि इसमे प्राण को शरीर के अन्दर ले जाकर रोका जाता है। प्रयत्न और अभ्यास बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप मे अन्दर रुके हुए प्राण को अन्त. कुम्भक कहा जाता है -- ऐसा कतिपय विद्वानो का मत है।

३—**स्तम्भवृत्ति**—शरीर के भीतर आने और बाहर निकलने वाली जो प्राणो की स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकालने या ले जाने का अभ्यास न करके जो प्राणवायु स्वभाव मे बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहां हो वही उसकी गति को स्तम्भित कर देना और यह देखते रहना कि प्राण किस देश मे रुके हैं ? कितने समय तक सुखपूर्वक रुके रहते हैं ? इस समय मे स्वाभाविक गति की संख्या कितनी होती है ? यह 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है, इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यास बल मे यह भी दीर्घ सूक्ष्म होता है। पातञ्जल योगसूत्र के कतिपय टीकाकार इसे '**केवल कुम्भक**' भी कहते हैं।

उपर्युक्त तीनो प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

इन तीनो ही प्राणयाम के द्वारा साधक क्रमश. उन्नत दशा को पहुंचता जाता है। अर्थात् साधक इन तीनों ही प्रकार के प्राणायामो को देश, काल और संख्या के द्वारा देखता रहता है कि वे किस अवस्था तक पहुच चुके हैं ? इस प्रकार परीक्षा करते करते वे प्राणायाम जैसे जैसे उन्नत होते जाते हैं वैसे वैसे उनमे लम्बाई और हल्का पन बढता जाता है। इन तीनो प्राणायाम की सिद्धि के पश्चात् साधक को स्वतः सिद्ध चतुर्थ प्राणायाम की अनुभूति होती है। अर्थात् इसके लिए साधक को अभ्यास बल या प्रयत्न की आवश्यकता नही होती। महर्षि पतञ्जलि ने चतुर्थ प्राणायाम के विषय मे कहा है--

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। —योग दर्शन २/५१

अर्थात् बाहरी और भीतरी विषयो का परित्याग कर देने से स्वत. होने वाला चतुर्थ प्राणायाम है।

उपर्युक्त तीनो प्राणायामो की सिद्धि हो जाने के अनन्तर साधक जब बाहर और भीतर के समस्त विषयो के चिन्तन का परित्याग कर देता है अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर आ रहे हैं, चल रहे हैं या ठहरे हुए हैं इन जानकारी का त्याग करके मन को इष्ट चिन्तन मे लगा देता है तो देश, काल और सख्या के ज्ञान के बिना ही प्राणो की गति अपने आप जिस किसी देश मे रुक जाती है वह चतुर्थ प्राणायाम है। उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राणायामो से यह सर्वथा भिन्न है—यह बतलाने के लिए सूत्र मे चतुर्थ शब्द का प्रयोग किया गया।

यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है। इसमे मन की चञ्चलता शान्त हो जाने के कारण स्वतः ही प्राणो की गति रुकती है, जबकि पूर्वोक्त प्राणायामों मे प्रयत्न के द्वारा प्राणो की गति का निरोध होता है। यही इस चतुर्थ प्राणायाम की विशेषता है।

ये चारो ही क्रियाए मिलकर एक प्राणायाम होता है। जब चारो क्रियाओ का सम्यक्तया अभ्यास हो जाता है तब योगाभ्यासी अपनी इच्छा और किंचित् प्रयास मात्र से ही बाहर की वायु को बाहर और भीतर की वायु को भीतर ही जहां की तहां एक साथ रोक सकता है। जैसे जैसे योगाभ्यासी का अभ्यास बढता जाता है, वैसे वैसे प्राणायाम की स्थिति देश, काल और संख्या के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाती है। इसके साथ ही जैसे जैसे मनुष्य प्राणायाम का अभ्यास करता है वैसे-वैसे उसके संचित कर्म सस्कार और अविद्यादि क्लेश दुर्बल होते चले जाते हैं। ये कर्म-सस्कार और अविद्यादि क्लेश ही ज्ञान का आवरण करने वाले हैं। इस आवरण के कारण ही मनुष्य का ज्ञान आवृत (ढका) रहता है, अत वह मोहित हुआ रहता है। प्राणायाम के सतत अभ्यास से जब कर्म-संस्कार और अविद्यादि क्लेश शनैः शनैः क्षीण

होते जाते हैं तो वह आवरण भी धीरे धीरे दुर्बल होता हुआ अन्ततः सर्वथा क्षीण हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।" —**योगदर्शन** २/५२

अर्थात् उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है। तब साधक का ज्ञान सूर्य की भाति प्रकाशित हो जाता है। इसके अतिरिक्त धारणा आदि योगाङ्गो मे मन सन्निधि-योग्यता आदि हो जाती है, जैसा कि योग दर्शन के निम्न सूत्र से स्पष्ट है—

"कि च धारणासु च योग्यता मनस।" —**योगदर्शन** २/५३

इस प्रकार प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से प्राणापानादि पञ्च वायु, रस-रक्तादि सप्त धातुओ, मन-बुद्धि आदि अन्त करण चतुष्टय और श्रोत्र-नेत्र आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियो की स्थूलता और समस्त विकार दूर हो जाते है, जिससे 'विशिष्ट ज्ञान' और 'अलौकिक आनन्द' की प्राप्ति के बाधक आवरणों का विनाश हो जाता है तब परमात्मा के ध्यान मे मन की एकाग्रता स्थापित होती है तथा निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

जिस प्रकार शारीरिक शौच (शुद्धि) के लिए स्नान परमोपयोगी एव आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक शुद्धि के लिए प्राणायाम परमोपयोगी एव आवश्यक है। प्राणायाम के द्वारा समस्त मनो विकारो का नाश और दोषो का शमन होता है। इसी लिए मनु ने मानसिक दोषो के विनाश के लिए प्राणायाम की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उनका निर्देश है — **"प्राणायामैर्दहेत् दोषान्।"**

इससे निश्चय ही मन के दोषो का विनाश होकर मन मे शुद्धि और शान्ति प्रतिष्ठापित होती है।

प्राणायाम के द्वारा जब अन्तःकरण की निर्मलता होती है तो उस अन्त.करण मे आवरण रूप अज्ञानान्धकार का विनाश होकर ज्ञान ज्योति उद्भासित होती है। जिससे सम्पूर्ण अन्त करण प्रकाशमान होता है। भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम्॥

— श्री मद्भगवद्गीता, ६/१६

अर्थात् जिनके अन्त.करण का वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान के द्वारा नाशित हो गया है उनका ज्ञान सूर्य की भाँति उस सच्चिदानन्दघन रूप परमात्मा को प्रकाशित करता है। अर्थात् वह परमात्मा के स्वरूप को जानने लगता है।

इस प्रकार योगीजन का उद्देश्य ज्ञान के आवरण को दूर करना है जो केवल

कर्म-संस्कार के क्षय होने से ही सम्भव है। ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कर्म सस्कारो का क्षय प्राणायाम के द्वारा होता है। अत. मनुष्य को प्राणयाम के सतत अभ्यास पूर्वक अन्तः करण की शुद्धि हेतु प्रयास करना चाहिए।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हठयोग मे श्री स्वात्माराम जी सूरि ने तीन प्रकार का प्राणायाम बतलाया है—रेचक प्राणायाम, पूरक प्राणायाम और कुम्भक प्राणायाम। इसमे पुनः कुम्भक एक ही प्रकार होता है।

प्राणायाम के उपर्युक्त भेद वस्तुतः महर्षि पतञ्जलि द्वारा कथित प्राणायाम से भिन्न नही है। उनमे वस्तुत. कोई मौलिक भिन्नता न होकर केवल शब्दो और कथन की भिन्नता है। तथापि उनके जो लक्षण शास्त्रो मे वर्णित हैं उन्हें जान लेना आवश्यक है। इसी दृष्टि से यहा उनका वर्णन किया जा रहा है।

रेचक महर्षि याज्ञवल्क्य ने रेचक प्राणायाम का निम्न लक्षण बतलाया है—

"बहिर्यद्रेचन वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः।"

अर्थात् उदर से बाहर की ओर वायु का जो रेचन किया जाता है वह 'रेचक' प्राणायाम कहलाता है।

रेचक प्राणायाम का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

निष्क्रम्य नासाविवरादशेष प्राण बहि शून्यमिवानिलेन।
निरुध्य सतिष्ठति रुद्धवायु स रेचको नाम महा निरोधः।।

अर्थात सम्पूर्ण प्राण (वायु) को नासिका मार्ग से बाहर निकाल कर उसका इस प्रकार अवरोध करे कि शरीर वायु से शून्य (रहित) की भाति प्रतीत हो। यह महान निरोध 'रेचक' प्राणायाम कहलाता है।

पूरक-- महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार पूरक प्राणायाम का लक्षण निम्न प्रकार है—

"बाह्यादापूरण वायोरुदरे पूरको हि सः।"

अर्थात् बाहर से ग्रहण कर वायु के द्वारा उदर को आपूरित करना 'पूरक' प्राणायाम कहलाता है।

अन्यत्र पूरक प्राणायाम का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।
नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महा निरोधः।।

अर्थात् बाहर स्थित वायु को नासिका पुट (नथुनों) के द्वारा भीतर खींच कर उसी नासापुट के द्वारा धीरे धीरे चारो ओर व्याप्त सभी नाडियो को पूरित कर दे। यह महान् निरोध 'पूरक' प्राणायाम कहलाता है।

कुम्भक—महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'कुम्भक' का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

"सम्पूर्य कुम्भवद्वायोर्धारण कुम्भको भवेत्।"

अर्थात् कुम्भ (घट) की भांति वायु को पूरित करके उसका धारण करना याने अपनी सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक देर तक उसे रोके रखना यह कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्री ब्रह्मानन्द के अनुसार यह कुम्भक तो पूरक प्राणायाम से भिन्न नही है—"अयं कुम्भकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः। भिन्नस्तु—

न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्।
सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।।

अर्थात् न रेचक किया जाय और न पूरक किया जाय। अपितु नासापुट मे स्थित वायु का ही जो निश्चलता पूर्वक धारण किया जाना है उसे ही उस (योग) शास्त्र के ज्ञाता योगीजन कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

केवल कुम्भक का लक्षण

योगशास्त्र मे केवल कुम्भक का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भक ।

—हठयोग प्रदीपिका २/७२-७३

अर्थात् जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाय तब तक सहित कुम्भक (रेचक पूर्वक कुम्भक और पूरक पूर्वक कुम्भक) का अभ्यास करना चाहिए। (यहा यह ज्ञातव्य है कि सहित कुम्भक के अभ्यास के अन्तर्गत सूर्य भेदन आदि जो आठ प्रकार का कुम्भक आगे वर्णित है उसका अभ्यास करना चाहिये। उसके अभ्यास से ही केवल कुम्भक के साधन मे योगी समर्थ होता है।) तदनन्तर रेचक और पूरक को छोडकर सुखपूर्वक (अनायास) जो वायु का धारण होता है वह केवल कुम्भक कहलाता है। इस प्रकार यह प्राणायाम बतलाया गया है।

औपनिषद् परम्परा मे प्राणायाम के पर्याय के रूप मे कुम्भक शब्द का प्रयोग अनेकश: मिलता है। इस कुम्भक के भेदो का निरूपण योगशिखोपनिषद् (१/८८-८९), योग कुण्डल्युपनिषद् (१/१९-२१) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१/७/१३/५) मे विस्तार पूर्वक किया गया है। योगकुण्डल्युपनिषद् (१/२०) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (उपर्युक्त) मे कुम्भक अर्थात् प्राणायाम के दो भेद मुख्यतः बतलाए गए हैं। सहित कुम्भक (अर्थात् रेचक-पूरक युक्त कुम्भक) और केवल कुम्भक (याने रेचक-पूरक विवर्जित कुम्भक)। इन दोनों कुम्भक मे उपायोपेय सम्बन्ध मानते हुए जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाय तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करते रहने का उपदेश दिया गया है। केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाने पर ससार मे कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

केवले कुम्भके सिद्धे रेच-पूर विवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

—योगतत्त्वोपनिषद् ५०-५१

ऊपर जो सहित कुम्भक दो प्रकार का बतलाया गया है उसमे पूरक पूर्वक कुम्भक के सूर्यभेदन आदि आठ भेद बतलाए गए हैं। कुछ लोग मात्र कुम्भक के ही सूर्यभेदन आदि आठ भेद मानते हैं। किन्तु वस्तुतः सूर्यभेदन आदि आठ भेद पूरक पूर्वक कुम्भक के हैं, जैसा कि हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्रीब्रह्मानन्द ने स्पष्ट किया है—**सूर्यभेदनादय पूरकपूर्वकस्य कुम्भकस्य भेदाः ज्ञातव्याः ।**"

—हठयोग प्रदीपिका २/७१ पर टीका

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हठयोग के अनुसार प्राणायाम के भेदो को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—
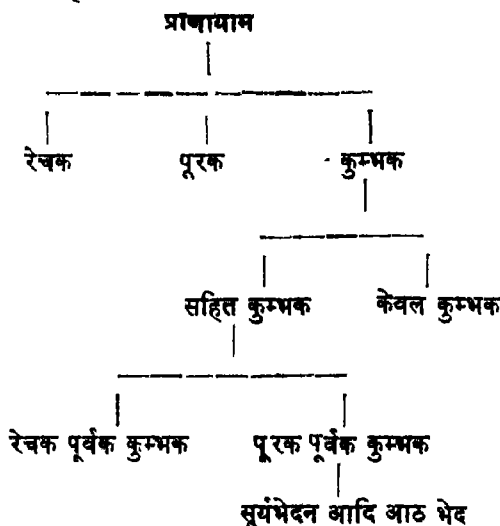
श्री स्वात्माराम योगीन्द्र ने पूरक पूर्वक कुम्भक प्राणायाम के निम्न आठ भेद बतलाए हैं—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/४४

अर्थात् सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी यह आठ प्रकार का कुम्भक प्राणायाम होता है।

घेरण्ड संहिता मे भी उपर्युक्त आठ प्रकार का "कुम्भक" बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक की विधि एवं विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है—

१ सूर्य भेदन

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासन तत ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थ पवनं शनैः ।।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
तत शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवन शनै. ।।
कपालशोधन वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनः पुनरिद कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/४८-५०

अर्थात् सुखदायी आसन पर (शुद्ध देश मे न अत्यन्त ऊँचा और न अत्यन्त नीचा और जिस पर क्रम से वस्त्र, मृगचर्म बिछा हुआ हो, ऐसे पवित्र आसन पर बैठकर जिसमे ग्रीवा-शरीर-शिर-ये समान रहे ऐसे आसन को बाध कर अर्थात् स्वस्तिकासन, वीरासन सिद्धसान, पद्मासन इनमे से किसी) आसन से बैठकर दक्षिण नाडी (पिंगला) के द्वारा शनै. शनै शरीर के बाहर स्थित वायु को खीचकर केश पर्यन्त और नखाग्र पर्यन्त जब तक उस का निरोध हो सके अर्थात् सम्पूर्ण शरीर मे पवन रुक जाय तावत् पर्यन्त कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। इसके अनन्तर सव्यनाडी—अर्थात् वाम भाग मे स्थित इडा नाडी के द्वारा प्राण वायु का शनै. शनै रेचन करना चाहिये। यह सूर्य भेदन नाम का उत्तम कुम्भक (प्राणायाम) मस्तक का शोधन करने वाला वात दोष का नाश करने वाला और कृमिज विकारो का शमन करने वाला है। इसे बारम्बार करना अभीष्ट है।

विधि— स्वच्छ स्थान और समतल भूमि पर मृगछाल अथवा किसी सुकोमल वस्त्र का आसन बिछाकर उस पर स्वस्तिकासन, वीरासन, सिद्धासन या पद्मासन जो भी आसन सरलता मे लगाया जा सके लगाकर योगी अपने शरीर, ग्रीवा और सिर को सीधा रखे। तत्पश्चात् वह अपने दाहिने नासामार्ग जिसे 'सूर्य नाड़ी' या 'पिंगला नाड़ी' कहा जाता है के द्वारा धीरे धीरे प्राणवायु का ग्रहण करे। यह क्रिया 'पूरक' कहलाती है। पूरक के पश्चात् बाहर से ग्रहण की हुई उस वायु को जितनी देर वह रोक सके उतनी देर उसे रोके। श्वास रोकने की यह क्रिया 'कुम्भक' कहलाती है। तत्पश्चात् बाए नासामार्ग जो 'चन्द्र नाडी' या 'ईडा नाड़ी' कहलाती है के द्वारा धीरे धीरे उस अवरुद्ध श्वास वायु को बाहर निकाले। यह क्रिया 'रेचक' कहलाती है। इस प्रकार यह एक 'कुम्भक' हुआ। इसे यथाशक्ति पुनः पुनः करना चाहिये।

लाभ—यह शिर, ग्रीवा और मस्तिष्क के सभी विकारो को दूर करता है, मानसिक विकारो का शमन कर यह सबको स्वस्थ रखता है, हृदय और इन्द्रियों के लिए यह हितकारी है। इसके द्वारा वायु दोष और तज्जनित विकारो का शमन होता है। शरीर मे हल्कापन और फुर्ती का अनुभव होता है। इसके निरन्तर अभ्यास से

श्वास सस्थान गत विकृतियां दूर होती हैं और उदरगत कृमियो और कृमि दोषों का नाश होता है। उदरगत वायु विकार दूर होकर अग्नि दीप्ति होती है तथा मनुष्य पूर्ण स्वस्थता का अनुभव करता है।

२ उज्जायी

मुखं सयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत् कुम्भयेत्प्राण रेचयेदीडया ततः।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्य तु कुम्भकम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/५१-५३

अर्थात् मुख का सयमन करके ईडा और पिंगला के द्वारा शनैः शनैः इस प्रकार पवन का आकर्षण करे कि वह पवन कण्ठ से हृदय पर्यन्त शब्द करता हुआ सश्लिष्ट हो (लगे)। तत्पश्चात् पूर्ववत् सूर्यभेदन के समान ही प्राणवायु का कुम्भक करना चाहिए। कुम्भक करने के बाद अवरूद्ध उस प्राणायु का ईडा नाडी के द्वारा रेचन करना चाहिए। यह उज्जायी नाम का कुम्भक कण्ठ मे स्थित श्लेष्म दोष को दूर करने वाला, जठराग्नि को बढ़ाने वाला, नाडीगत विकारो, जलोदर तथा धातुगत विकारो को नाश करने वाला है। यह उज्जायी नाम का कुम्भक गमन करते हुए अथवा बैठे हुए मनुष्य के द्वारा भी किया जा सकता है। इसमे किसी प्रकार का बन्धन नही है।

विधि—स्वस्तिकासन, सिद्धासन, वीरासन या पद्मासन मे से किसी भी एक आसन जो सरलतापूर्वक किया जा सके मे बैठकर सर्वप्रथम फुफ्फुसो मे स्थित सम्पूर्ण वायु का निष्कासन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् मुख को सयमित करके ईडा और पिंगला नाड़ियो अर्थात् दोनो नासारन्ध्रो से धीरे-धीरे प्राणवायु को अन्दर की ओर खींचना चाहिए। वायु को अन्दर खीचते समय हल्की आवाज जैसी कि निद्रा के समय होती है निकलना चाहिए। प्राणवायु का यथाशक्य अधिक से अधिक मात्रा मे ग्रहण किया जाना चाहिए ताकि उससे दोनों फुफ्फुस पूर्णरूप से आपूरित हो सके और बाहर से छाती यथासम्भव अधिकाधिक फूल सके। फुफ्फुसो मे प्राणवायु भर जाने के बाद कुम्भक करना चाहिए। अर्थात् जितनी देर तक उसे रोका जा सके उतनी देर तक उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। तत्पश्चात् ईडा नाड़ी के द्वारा अर्थात् बाएँ नासामार्ग से धीरे-धीरे उस प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। प्राणवायु को बाहर

निकालते समय भी सूक्ष्म ध्वनि (हल्की आवाज) कण्ठ से निकले ऐसा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

लाभ—यह कुम्भक (प्राणायाम) अत्यन्त सरल क्रिया वाला बहुत ही लाभ-दायक है। अपनी सुविधानुसार यह चलते-फिरते, बैठे हुए, लेटे हुए, पढ़ते या लिखते हुए किसी भी अवस्था मे किया जा सकता है। यह सरल भी है और सुविधापूर्वक किया जा सकता है। स्त्री, बालक, वृद्ध सभी के लिए यह समान रूप से उपयोगी है।

नियमित रूप से इसका अभ्यास करने से श्लेष्मा (कफ) का शमन होता है और सभी प्रकार के कफज विकारो का नाश होता है। शरीर का भारीपन दूर होकर शरीर मे लघुता का अनुभव होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है और सभी प्रकार के उदर विकारो विशेषत: जलोदर का नाश होता है। नाडीगत समस्त दोष दूर होते हैं तथा वातवह स्रोतो की शुद्धि होती है जिससे शरीरगत नाडी सस्थान का कार्य प्राकृत रूप से सम्पन्न होता है। श्वसन संस्थान के अविकृत रहने से श्वास कास आदि रोग नही हो पाते तथा रक्त की शुद्धि होती है। हृदय एव शरीर स्वस्थ बना रहता है।

३ सीत्कारी

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसहारकारक.।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्य प्रजायते॥
भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जित।
अनेन विधिना सत्य योगीन्द्रो भूमिमण्डले॥

—हठयोग प्रदीपिका २/५४-५६

अर्थात् मुख मे जिव्हा के द्वारा उसी प्रकार सीत्कार करते हुए पूरक करना चाहिए। तत्पश्चात् केवल घ्राण (नासा मार्ग) के द्वारा ही रेचन करना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से योगी द्वितीय कामदेव के समान स्वस्थ और सुन्दर हो जाता है। अर्थात् उसमे रूप-लावण्य की अतिशय वृद्धि हो जाने पर वह कामदेव की भाँति लगने लगता है। वह योगी योगिनी चक्र का सेवन करने वाला तथा सृष्टि और सहारकारक हो जाता है। उसे न तो क्षुधा पीडित करती है और न तृषा सताती है, वह निद्रा के वशीभूत नही होता और न ही उसे आलस्य आता है। शरीर मे सत्व गुण या बल की वृद्धि होती है। इस विधि के द्वारा वह योगीन्द्र होता हुआ इस भूमण्डल पर यथार्थत: सभी उपद्रवो से रहित रहता है। उसका वाक्य सत्य अर्थात् यथार्थ होता है।

विधि—किसी सुगम आसन में बैठकर ओठ, दांत और जिव्हा की स्थिति इस प्रकार बनाई जावे कि ऊपर और नीचे के दांत परस्पर भिड़े रहें और ओठ खुले रहें। इसके बाद "सी" जैसा शब्दोच्चार करते हुए उसी स्थिति में मुख द्वारा गहरी सांस ली जाय। श्वास लेते समय दांत परस्पर में भिड़े ही रहे तथा ओठ खुले रहे। पूर्ण रूप से श्वास अन्दर लेने के पश्चात् यथाशक्ति उसे अन्दर ही अधिकाधिक देर तक रोकने का प्रयत्न किया जाय। तदनन्तर उसे नासामार्ग के द्वारा धीरे-धीरे बाहर निकाला जाय। हा यह सावधानी रखना आवश्यक है कि अन्दर की श्वास मुख के द्वारा बाहर न निकले।

लाभ—यह कुम्भक करने से योगी का शरीर अपूर्व कान्तिमान् और तेजस्वी होता है। मुखमण्डल पर अद्वितीय तेज झलकता है। उसे कोई शारीरिक उपद्रव या विकार पीड़ित नही कर पाते। शरीर मे अपूर्व बल का संचार एव सत्वगुण की वृद्धि होती है। योगी को कभी आलस्य नही सताता। शरीर मे सदैव उत्साह और स्फूर्ति बनी रहती है।

४ शीतली

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ।
शनकै घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवन सुधीः ।
गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वर पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/५७-५८

अर्थात् ओठो से बाहर निकली हुई उस जिव्हा से जो पक्षी की चोच के समान हो वायु का आकर्षण करके अर्थात् शनै. शनै. पूरक करके सूर्य भेदन की भांति कुम्भक का साधन कर अर्थात् यथाशक्ति उस प्राणवायु को अधिकाधिक समय तक अन्दर ही रोक कर नासिका मार्ग से शनैः शनै उसका रेचन करना चाहिए। यह शीतली नाम का कुम्भक गुल्म, प्लीहा वृद्धि आदि रोगो, ज्वर, पित्तविकार, क्षुधा और विषो का नाश करता है।

विधि—ऊपर जो शीतली कुम्भक का वर्णन किया गया है उसमे इसकी विधि का वर्णन आ गया है। अतः उपर्युक्त विधि के अनुसार ही इसका अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से होने वाले लाभ भी ऊपर स्पष्ट कर दिए गए हैं।

५ भस्त्रिका

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुख संयम्य यत्नेन प्राण घ्राणेन रेचयेत् ॥
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधिमारुतम् ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।।
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।।
कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ।।
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकमिदम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका, २/६०-६७

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य भली भांति पद्मासन लगाकर मुख को संयमित करके प्रयत्नपूर्वक नासिका के एक मार्ग (छिद्र) से प्राणवायु का रेचन करे। घ्राणरंध्र से वायु का रेचन इस प्रकार हो कि वह शब्द सहित कण्ठ मे कपाल पर्यन्त लगे। तत्पश्चात् वेग पूर्वक हृदय कमल पर्यन्त उसका पूरक करे याने प्राणवायु ग्रहण करे। पूर्ववत् पुनः उसका रेचन करे और पुनः उसका पूरक करे। इस प्रकार बार-बार वायु का रेचन और पूरक करना चाहिए; जैसे लोहकार (लोहार) बार-बार भस्त्रा (धौंकनी) को चलाता है, उसी प्रकार अपने शरीर मे बुद्धि पूर्वक वायु को सचालित करे। जब बार-बार रेचक और पूरक करने से शरीर मे थकान प्रतीत होने लगे तब सूर्यनाडी से पूर्ण करे अर्थात् सूर्यनाडी के द्वारा वायु से उदर का पूरण करे। तत्पश्चात् मध्यमा और तर्जनी अगुली के बिना अर्थात् अगुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठिका इन तीनो अगुलियो के द्वारा दृढता पूर्वक नासापुट को दबा कर प्राणवायु का अवरोध करे अर्थात् कुम्भक करे। इस प्रकार विधिपूर्वक कुम्भक करके ईडा नाडी (चन्द्र नाड़ी) से वायु का रेचन करे। भस्त्रा या भस्त्रिका नामक यह कुम्भक वात-पित्त-श्लेष्मा का शमन करने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, शीघ्र ही कुण्डलिनी प्रबोधक, सुखकारक, हितकारी, ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्मा) के अग्रभाग मे स्थित (नाडी का अवरोध करने वाले) अर्गल (अवरोधक) रूप कफ का नाश करने वाला और शरीरगत सुषुम्ना मे समुद्भूत तीन ग्रन्थियो (ब्रह्म ग्रन्थि-विष्णु ग्रन्थि-रुद्र ग्रन्थि) का भेदजनक है। अतः इस भस्त्राख्य कुम्भक को अवश्य करना चाहिए।

विधि—किसी सुखप्रद आसन में स्थित होकर सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखकर शरीर को शिथिल करते हुए बैठना चाहिए। दोनों नेत्र बन्द हों और बायां हाथ बाएं घुटने पर स्थित हो। दाहिने हाथ को ऊपर उठकार मुख के सम्मुख इस प्रकार रखा जाय कि उसकी प्रथम और द्वितीय अंगुली कपाल पर स्थित हो तथा अगूठा नासिका के दाहिने नथुने पर और अनामिका (तृतीय) अंगुलि बाएं नथुने पर स्थित हो। अब प्रक्रिया प्रारम्भ करते समय अंगूठे से दाहिना नथुना इस प्रकार दबाया जाय कि दक्षिण नासा मार्ग पूर्णत बन्द हो जाय। तत्पश्चात् बाएं नथुने से शीघ्रता पूर्वक बीस बार श्वसन करना चाहिए। यह क्रिया उदर के प्रसारण और आकुंचन के साथ शीघ्रतापूर्वक एव लययुक्त हो। उसके बाद एक लम्बा पूरक करना चाहिए। तदनन्तर दोनो नासामार्ग दृढतापूर्वक अंगुष्ठ एव अनामिका के द्वारा बन्द कर कुम्भक करना चाहिए तथा जालधर और मूलबध या इन दोनो मे से किसी एक का अभ्यास करना चाहिए। कुम्भक के द्वारा अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्वास को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्त मे बधो को शिथिल कर रेचक करना चाहिए। इसी प्रकार दाहिनी ओर से भी वही क्रिया करना चाहिए। यह एक आवृत्ति है तीन आवृत्तियों तक इसका अभ्यास करना चाहिए।

उपर्युक्त अभ्यास करने के अनन्तर दोनों हाथ दोनो घुटनो पर रखकर दोनों नासिका रध्रो से एक साथ बीस बार श्वसन करना चाहिए। तत्पश्चात् दीर्घपूरक करके कुम्भक के द्वारा यथाशक्ति श्वास रोक लेना चाहिए और जालंधर एव मूलबध या दोनो मे से किसी एक का अभ्यास करना चाहिए। अन्त मे बधो को शिथिल करके रेचक करना चाहिए। यह एक आवृत्ति है, इस प्रकार की तीन आवृत्तियो का अभ्यास आवश्यक है।

लाभ—यह तीनो दोषो (वात-पित्त-कफ) को शमन करने वाला तथा जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचनशक्ति को नियमित करने वाला है। इस का निरन्तर अभ्यास करने से मन को स्थिरता एव शांति प्राप्त होती है। इसके द्वारा आयुर्वेदोक्त प्राणवह स्रोतस् का सशोधन होता है जिससे श्वास-कास, क्षय, हृद्रोग आदि सभी प्रकार के श्लेष्म-विकारो का उपशम होता है। यह फुफ्फुसगत समस्त विकारों को दूर करता है, अतः रक्त-शुद्धि और हृदय को बल प्रदान करने के लिए यह एक आश्चर्यजनक प्राणायाम है।

६ भ्रामरी

वेगाद् घोष पूरक भृंगनाद रेचक मदमदम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला॥

—हठयोग प्रदीपिका, २/६८

अर्थात् वेगपूर्वक भौंरे के समान शब्द करते हुए पूरक करना चाहिए और यथा-शक्ति कुम्भक करते हुए बाद मे मन्द मन्द रूप से भ्रमरी की भाँति आवाज करते हुए रेचक करना चाहिए। इस कुम्भक का अभ्यास करने से योगीजन (के हृदय) मे अपूर्व आनन्द की क्रीडा होती है।

विधि—सुविधाजनक किसी आसन मे बैठकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए नेत्र और मुख बन्द रखते हुए इस कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। सर्वप्रथम दोनों नासामार्गों से वेगपूर्वक पूरक किया जाय और पूरक के समय भौंरे के गुंजन की भाँति घोष किया जाय। तत्पश्चात् कुम्भक के द्वारा यथाशक्ति प्राणवायु का अवरोध किया जाय और अन्त मे भ्रमरी की भनभनाहट के समान सुदीर्घ अखण्ड ध्वनि करते हुए धीरे धीरे रेचक किया जाय। यहाँ यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पूरक और रेचक के समय जो ध्वनि या घोष किया जाय उसकी तरगो का अनुभव मस्तिष्क मे हो।

लाभ—इसका निरन्तर अभ्यास करने से शिरो गौरव (सिर का भारीपन) दूर होता है। मस्तिष्क मे निर्मलता आती है और मस्तिष्कगत नाडियाँ शुद्ध होती है। परिणामत: मानसिक तनाव, क्रोध, चिन्ता और विक्षेप से मुक्ति मिलती है। स्नायविक शैथिल्य दूर होता है, उच्च रक्तचाप मे न्यूनता आती है, गले के विकारो का शमन होता है, ध्वनि और उच्चारण सम्बन्धी विकृति दूर होती है तथा स्वर मे मधुरता आती है, इस कुम्भक के द्वारा चित्त की वृत्तियो मे स्थिरता आती है, मन प्रफुल्लित रहता है और हृदय मे प्रसन्नता का अनुभव होता है।

--o--

७ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतर बद्ध्वा जालधर शनै।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येय मनो मूर्च्छा सुखप्रदा॥

—हठयोग प्रदीपिका २/६९

अर्थात् पूरक प्राणायाम के अन्त मे अत्यन्त दृढता पूर्वक जालधर बंध को बाँध कर शनै: शनै प्राणवायु का रेचन करना चाहिए। मूर्च्छा का मूर्च्छना नामक यह कुम्भक मनो मूर्च्छा कारक एव सुखप्रद है।

विधि—अन्य क्रियाओ की अपेक्षा यह क्रिया कुछ कठिन होने से गुरु के सम्मुख अथवा योग्य मार्गदर्शक की उपस्थिति मे ही इसका अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा इसके अभ्यास काल मे या अभ्यास के अनन्तर हानि की सम्भावना रहती है।

इस कुम्भक के लिए केवल सिद्धासन या पद्मासन मे ही स्थित होकर इसे करना चाहिए। सर्वप्रथम आसन मे सीधे बैठकर दोनो नासिका मार्गों से दीर्घ किन्तु

शनैः शनैः श्वास लेकर उसे अन्दर ही रोक लेना चाहिए। तत्पश्चात् ठोडी को गले के नीचे जो गड्ढा है उसमें टिका कर 'जालंधर बंध' लगाना चाहिए। इसके बाद दाएं और बाए हाथ की अंगुलियों को निम्न स्थिति मे रखते हुए उनका प्रयोग करे—

अगूठे के साथ वाली दोनो अंगुलियो से आँखो की नीचे और ऊपर वाली पलको को कोमलता से बन्द कर तीसरी अँगुलि से नाक के दोनों नथुने दबाकर बन्द कर लेना चाहिए। चौथी छोटी अगुलि से मुख के नीचे वाले ओष्ठ को नीचे से दबा कर इस प्रकार ऊपर उठाना चाहिए कि दोनों ओष्ठ परस्पर मिलकर बन्द हो जावें। तदनन्तर श्वास को अन्दर रोककर 'मूलबन्ध' और 'उड्डियान बंध' लगाना चाहिए। असह्य स्थिति होने पर दोनो अनामिका और कनिष्ठिका अगुलियां हटाकर शनैः शनैः रेचक करना चाहिए।

लाभ—यह कुम्भक मनो मूर्च्छाकारक है, अतः इससे मन की चञ्चलता दूर होकर उसमे एकाग्रता आती है। मानसिक तनाव और उद्वेग की स्थिति शान्त होती है तथा मानसिक विकारो का शमन होता है। यह वीर्यरक्षा का अपूर्व साधन है, परिणामत तत्सम्बन्धी विकारो का शमन होता है। इसके अतिरिक्त जठराग्नि के विकार दूर होकर पाचन क्रिया सामान्य होती है और उदर व फुफ्फुस सम्बन्धी विकारो का शमन होता है।

८ प्लाविनी

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदर।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्म‌.पत्रवत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/७०

अर्थात् शरीर के अन्दर प्रवृत्त किए हुए अत्यधिक वायु से पूरित उदर वाला योगी अगाध जल राशि मे भी कमल के पत्ते की भाति सुख पूर्वक तैरता है।

विधि—सर्वप्रथम पद्मासन मे बैठकर पूरक करना चाहिए और पूरक के द्वारा अधिकाधिक वायु अन्दर भरकर उदर को फुला लेना चाहिए। पुनः रेचक के द्वारा शनैः शनैः वायु बाहर निकालकर उदर को खाली कर देना चाहिए। तत्पश्चात् पुनः पूरक करके रेचक करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार इस क्रिया की आवृत्ति करना चाहिये।

लाभ—प्लाविनी नामक इस कुम्भक के अभ्यास से सभी प्रकार के उदर विकार मिट जाते हैं, उदर की शुद्धि हो जाती है और पाचन क्रिया ठीक रहती है। इस कुम्भक के द्वारा शरीर एकदम हल्का हो जाता है और वह निराबाध रूप से पानी में कमल पत्र की भाति तैरने लगता है। अर्थात् हल्का होने से वह डूब नही पाता।

इस प्रकार हठयोग मे 'कुम्भक' के आठ भेद बतलाए गए हैं। इस अष्ट विध कुम्भक के द्वारा शरीर में सभी प्रकार की नाड़ियों की शुद्धि होती है और शरीर में

स्थित सभी प्रकार के मलो का निर्हरण होता है, जिससे मनुष्य के समस्त शारीरिक और मानसिक विकारों का उपशम होता है तथा वह पूर्णतः शारीरिक और मानसिक स्वस्थता का अनुभव करता है। यही पर वह मानसिक उच्चता को भी प्राप्त करता है जिससे वह अपने आध्यात्मिक विकास अर्थात् आत्मकल्याण हेतु उन्मुख होता है। इस अष्टविध कुम्भक का अभ्यास करने के अनन्तर योगी 'केवल कुम्भक' का अभ्यास करने के योग्य बन पाता है।

प्राणायाम का अभ्याम योगी या साधक को अपने लक्ष्य के और अधिक निकट पहुचा देता है। प्राणायाम की साधना के परिणाम स्वरूप साधक के शरीर, मन और मस्तिष्क मे कतिपय ऐसी विशिष्टताओ का समुद्भाव होता है जो सामान्य व्यक्ति मे सामान्यतः नही होती हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् मे कहा गया है कि लगातार तीन वर्ष तक प्राणायाम की साधना करने वाला साधक अल्पाशी, तेजस्वी, बलवान, जितेन्द्रिय और अल्पनिन्द्रा वाला हो जाता है। वह अपमृत्यु से बचकर दीर्घायु प्राप्त करता है। वहाँ फल प्राप्ति की दृष्टि से प्राणायाम के तीन भेद किए गए हैं—अधम, मध्यम और उत्तम। प्राणायाम का इस प्रकार का वर्गीकरण दर्शनोपनिषद् (६/१४) एव शाण्डिल्योपनिषद् (१/७३) मे भी प्राप्त होता है। इनके फलो के विषय मे कहा गया है कि अधम प्राणायाम से व्याधियो एव पापो का नाश होता है, मध्यम प्राणायाम से पापो, रोगो और महा व्याधियो का नाश होता है तथा उत्तम प्राणायाम के फलस्वरूप रोगी (साधक) के शरीर मे लघुता और इन्द्रियो मे पाटव आ जाता है।

अन्यत्र भी जैसे त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् (२/१०९-१३३), दर्शनोपनिषद् (६/२१-३१, ४४-४६) मे प्राप्त विवरण के अनुसार विभिन्न अगो मे प्राण धारण करने से अनेक प्रकार के रोगो का नाश होता है, आरोग्य की प्राप्ति होती है, देह लाघव एव वाक्सिद्धि होती है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/७,४,१/७/१३/६) मे प्राणायाम को रोग मुक्ति पूर्वक शरीर की दृढता का साधक बतलाया गया है। अमृतनादोपनिषद् (७-८) मे प्राणायाम से दोषो-विशेषतः ऐन्द्रिय दोषो के दूर होने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार योगतत्त्वोपनिषद् (५१-६२) मे प्राणायाम की सिद्धि से मनुष्य को होने वाली विभिन्न सिद्धियो का निरूपण किया गया है। दर्शनोपनिषद् (६/१६-२०) मे प्रतिपादित विवरण के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की शुद्धि एव पापनाश पूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति योगी के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

योगाभ्यासरतो नित्य स्वधर्मनिरतश्च यः।
प्राणसयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति ॥

अर्थात् जो निरन्तर योग के अभ्यास मे लगा हुआ है तथा अपने धर्म के

आवरण में संलग्न है उसे प्राण का संयमन (निरोध) करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और उस ज्ञान से वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्राणायाम की विशेषताओं एवं प्राणायाम जनित परिणाम पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं—

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥

—ज्ञानार्णव २६/५४

अर्थात् प्राणायाम का अवलम्बन लेने वाले योगियों के चित्त स्थिर हो जाते हैं तथा इन्हें संसार का वृत्त प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र के इस कथन की तुलना महर्षि पतंजलि के इस कथन—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" (प्राणायाम के अभ्यास से योगी के प्रकाश (ज्ञान) के आवरण का क्षय हो जाता है-ज्ञानावरण कर्म का नाश हो जाता है) से की जा सकती है।

केवल कुम्भक से लाभ

कुम्भके केवले सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुम्भात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।

—हठयोग प्रदीपिका २/७३-७५

अर्थात् रेचक-पूरक (पूर्वक) से रहित केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस योगी के लिए ऐसी कोई भी वस्तु दुर्लभ नही रहती जो तीनो लोको मे विद्यमान हो। अर्थात् योगी तीनों लोको मे विद्यमान किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। केवल कुम्भक के द्वारा समर्थ योगी अपनी इच्छानुसार वायु का धारण करने से राजयोग के पद को भी प्राप्त कर लेता है—इसमे कोई संशय नही है। कुम्भक का निरन्तर अभ्यास करने से कुण्डली (कुण्डली की आधार शक्ति) का बोध होता है और वह जाग्रत होती है अर्थात् निद्रा भंग होती है और कुण्डली के बोध से सुषुम्ना नाडी अनर्गल (कफादि दोषों से रहित) हो जाती है तथा हठसिद्धि (हठयोग के अभ्यास की सिद्धि) होती है।

हठयोग सिद्धि का लक्षण

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका, २/७८

अर्थात् देह की कृशता होना, मुख पर प्रसन्नता का भाव, ध्वनि की स्पष्टता, दोनो नेत्रो की निर्मलता, शरीर की निरोगता शुक्रधातु की अक्षीणता, जठराग्नि का प्रदीप्त होना और नाड़ियो की विशुद्धि होना ये हठयोग सिद्धि का लक्षण हैं ।

हठयोग और राजयोग की सिद्धि

हठं बिना राजयोग राजयोग बिना हठ ।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/७६

अर्थात् हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नही होती है। अत· राजयोग की सिद्धि पर्यन्त दोनो (हठयोग और राजयोग) का अभ्यास करना चाहिए ।

राजयोग की प्राप्ति

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्त निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपद व्रजेत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/७७

अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण का अवरोध कर लेने पर मन को निराश्रय कर लेना चाहिए। अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के होने पर ब्रह्माकार स्थिति से परे वैराग्य के द्वारा मन (अन्त:करण) का विलय कर लेना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास योग के द्वारा योगी राजयोग पद को प्राप्त होता है।

प्राणायाम सम्बन्धी उपयु'क्त विवरण से न केवल योग साधना मे प्राणायाम की उपयोगिता एव महत्व की सिद्धि होती है अपितु मनुष्य के व्यवहारिक दैनिक जीवन मे उसकी उपयोगिता का दिग्दर्शन होता है। प्राणायाम का अभ्यास मनुष्य के शरीर को अन्यान्य रोगो से तो दूर रखता ही है, उसके व्यवहारिक जीवन को सरल, सात्विक एवं निर्द्वन्द्व बनाता है जिससे उसे मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है और जीवन शान्ति एव सुखमय रूप से व्यतीत होता है ।

योगाङ्ग विवेचन—५ प्रत्याहार

पातञ्जल योग मे प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार का कथन एवं विवेचन उसकी उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है। भारतीय सस्कृति के विभिन्न ग्रथो एव दर्शन-शास्त्र मे प्रत्याहार का प्रतिपादन मिलता है।

उपनिषदो मे प्रत्याहार की साङ्गोपाङ्ग विवेचना की गई है। प्रत्याहार को षडङ्ग योग के प्रतिपादक अमृतनादोपनिषद् (६) मे प्रथम, ध्यानबिन्दूपनिषद् (४१) एव योग चूडामण्युपनिषद् (२) मे तृतीय, अष्टाङ्ग योग मे पञ्चम तथा पञ्चदशाङ्ग योग मे बारहवां योगाङ्ग माना गया है।

प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमे इन्द्रिया अपने बहिर्मुख विषयो से अलग होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है।

उपनिषदो मे इसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है। त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार चित्त का अन्तर्मुखी भाव होना ही प्रत्याहार है। यथा—

चित्तस्यान्तर्मुखीभाव प्रत्याहारस्तु सत्तम।

इसी प्रकार मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार इन्द्रियार्थ रूप विषयो से मन का निरोध करना प्रत्याहार होता है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधन प्रत्याहार.।

इसी प्रकार निम्न उद्धरण भी प्रत्याहार के उपर्युक्त स्वरूप का प्रतिपादन करता है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्।
.........................प्रत्याहार: स उच्यते॥

—योगतत्वोपनिषद्

अर्थात् अपने विषयों में स्वभावत: प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों का प्रयत्नपूर्वक या बलपूर्वक तत्तद् विषयों से आहरण करना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

स्वविषयों मे सलग्न चक्षु आदि इन्द्रियो को उन विषयों मे प्रवृत्त होने से रोकना प्रत्याहार कहलाता है ।

अन्य उपनिषदो में प्रतिपादित प्रत्याहार का स्वरूप निम्न प्रकार है—

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन् समाहितः ।
प्रत्याहारो भवेदेषः .... ॥

—दर्शनोपनिषद् ७/२-३

अर्थात् दृश्य मात्र मे ब्रह्म का दर्शन करते हुए जब योगी समाहित चित्त हो जाता है तब वह प्रत्याहार होता है ।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा.................... ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहु ॥

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/३४

अर्थात् समस्त विषयो मे जब आत्मरूपता का अनुभव होने लगता है तो उसे प्रत्याहार समझना चाहिये । उसका अभ्यास बार-बार करना चाहिये ।

उपर्युक्त को व्याख्या करते हुए ब्रह्मयोगी लिखते हैं—

"विषयसामान्यब्रह्मदृष्टिः प्रत्याहारः ॥"

अर्थात् सामान्य विषयो में ब्रह्म दृष्टि हो जाना प्रत्याहार है । यह वस्तुतः **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के अनुरूप ससार के समस्त पदार्थों मे ब्रह्म भाव की प्रतीति कराता है ।

अन्यत्र चित्त को विषयों से प्रत्याहृत कर निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्म तत्त्व मे निरुद्ध कर देने को प्रत्याहार निरूपित करते हुए कहा गया है कि इस प्रत्याहार के अभ्यासी के लिए कुछ भी दुर्लभ नही है—

देहे त्वात्ममतिं विद्वान् समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।
एवमभ्यसतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥

— दर्शनोपनिषद् ७/१३-१४

अर्थात् सुधी मनुष्य को शरीर मे आत्म बुद्धि को करके चित्त को विषयो से प्रत्याहृत करके समाहित होता हुआ निर्द्वन्द्व (द्वन्द्व रहित) और निर्विकल्प (विकल्प रहित) आत्म तत्त्व मे मन का निरोध करना चाहिये । वेदान्तज्ञो के द्वारा इसे प्रत्याहार कहा

गया है। इस प्रकार के प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले साधक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्रत्याहार के उपर्युक्त स्वरूप प्रतिपादन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्याहार की इस अवधारणा के दो प्रमुख तत्त्व हैं—एक चित्त का विषयों से आहरण और दूसरा निर्विकल्प आत्मतत्त्व या ब्रह्म में निरोध। ये दोनों ही तत्त्व एक दूसरे से अनुबन्धित हैं। इनमे प्रथम तत्त्व की सफलता एव सिद्धि होने पर ही द्वितीय तत्त्व की उपलब्धि या सिद्धि सम्भव है।

इसके अतिरिक्त मरण पर्यन्त किए जाने वाले समस्त शुभ या अशुभ (अच्छे या बुरे) कर्मों को ब्रह्मार्पित कर देने अथवा नित्य एव काम्य कर्मों को ब्रह्माराधन बुद्धि से करना भी प्रत्याहार कहलाता है। जैसा कि निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

यच्छुभमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्।
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते ॥
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धित·।
काम्यानि च तथा कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते ॥

—दर्शनोपनिषद् ७/३-५

प्रत्याहार का एक अन्य स्वरूप वायु का आहरण या आपूरण कर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर निरुद्ध करना है। दर्शनोपनिषद् मे इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि साधक को स्वस्तिकासन मे बैठकर आपाद मस्तक वायु का आपूरण करना चाहिये। तदनन्तर उसे पादद्वय, मूलाधार, नाभिकन्द, हृन्मध्य, कण्ठ-मूल, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एव मूर्धा मे धारण करना चाहिये। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/१२९-१३३) में प्राप्त विवरण के अनुसार १८ मर्म स्थानों मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हुए प्राणवायु को धारण करना प्रत्याहार कहलाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार का लक्षण निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"

—योग दर्शन, साधनापाद ५४

—अपने विषयो के साथ इन्द्रियो का सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण की भांति करना अर्थात् चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से प्राणायाम का अभ्यास करते करते जब मन और इन्द्रियां शुद्ध हो जाती हैं उसके बाद इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को चारों ओर से समेटकर मन में विलीन करने के अभ्यास का नाम 'प्रत्याहार' है। साधना काल में जब साधक इन्द्रियो के विषयों का त्याग करके चित्त को अपने ध्येय में लगाता है उस समय इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति न होकर चित्त में ही विलीन

होने की जो स्थिति है वही प्रत्याहार की सिद्धि होने की सूचक है। जिस प्रकार मधु का निर्माण करने वाली मक्खियाँ अपनी रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रिया भी चित्त के अधीन होकर काम करती हैं। चित्त की अनवस्थता, चञ्चलता और विषयानुसरण आदि की स्थिति के कारण जब वह विषयाभिमुख होता है तो इन्द्रिया भी तदनुरूप ही विषयो का ग्रहण करती हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के प्रभाव से चित्त जब बाह्य विषयो से रिक्त होकर समाहित होने लगता है तब इन्द्रिया भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वय भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है।

प्रत्याहार की स्थिति मे चित्त तो बाह्य विषयो से विमुख होकर आत्म तत्व के अभिमुख हो जाता है, किन्तु इन्द्रिया केवल बाह्य विषयो से विमुख होकर चित्त मे ही तदाकार या विलीन हो जाती है। वे चित्त की भाति आत्मतत्व के अभिमुख नही होती। इसीलिए 'अनुकार इव' अर्थात् 'नकल जैसा' कहा गया है। यदि उस समय भी इन्द्रियाँ पूर्व के अभ्यास की ही भाति मन के सम्मुख बाह्य विषयो की अनुकृति या स्वरूप उपस्थित करती रहे तो समझना चाहिए कि प्रत्याहार नही हुआ। कठोपनिषद् में भी वाक् शब्द से उपलक्षित इन्द्रियो को मन में निरुद्ध करने की बात कहकर यही भाव व्यक्त किया है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः। —कठोपनिषद् १/३/१३

—बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वह वाक् आदि इन्द्रियो की प्रवृत्ति बाह्य विषयो से हटाकर मन मे विलीन कर दे अर्थात इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मन मे विषयो की स्फुरणा न हो।

प्रत्याहार के द्वारा जब मन निरुद्ध हो जाता है तो समस्त इन्द्रियां अपने आप ही निरुद्ध हो जाती हैं और चित्त मे ही उनकी समस्त प्रवृत्तियां विलीन हो जाती है। फिर पृथक् से इन्द्रियो को जीतने के लिए किसी अन्य अपाय की उपेक्षा नही रहती। इन्द्रियो की प्रवृत्ति के विषय मे कठोपनिषद् मे बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषद् २/४/१

—स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छिद्रों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर ही देखता है, अन्दर नही देखता। कोई विरला ही धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आंखो अर्थात इन्द्रियों को बन्द कर (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहार के द्वारा) अन्तर आत्मा को देखता है अर्थात् स्वात्मानुभव करता है।

इस प्रत्याहार का फल बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । —योगदर्शन, साधनापाद ५

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों की सर्वोत्कृष्ट वश्यता होती है अर्थात् प्रत्याहार से इन्द्रियां एकदम वशीभूत हो जाती हैं।

इसका सामान्य अभिप्राय यह हुआ कि इन्द्रियो का अपना कोई महत्व या उपयोगिता नही रहती। उनका सम्पूर्ण व्यापार बन्द हो जाता है और वे बाह्य विषयो को ग्रहण करना बन्द कर देती हैं। "इन्द्रियो का वशीभूत होना" इसके अर्थ प्रतिपादन मे अन्यान्य लोगों का अलग-अलग मत है। व्यासभाष्य मे इसको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

१—कुछ लोगों का मत है कि शब्द आदि विषयो मे आसक्त नही होना अर्थात् स्वय विषयो के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता या इन्द्रियजय है।

२—कुछ अन्य लोगो के मतानुसार वेदशास्त्र से अविरुद्ध विषयो का सेवन और उनसे विरुद्ध विषयों का परित्याग करना इन्द्रियजय है।

३—कुछ इस मत का अनुसरण करने वाले विद्वान् भी हैं जिनके अनुसार सासारिक विषयो मे न फसकर अपनी इच्छानुसार विषयो के साथ इन्द्रियो का सप्रयोग होना इन्द्रियजय है।

४—कुछ विद्वान् यह कहते है कि राग-द्वेष के अभाव पूर्वक सुख-दु:ख से शून्यादि विषय का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

उपर्युक्त इन मतो का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन और विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये मत इन्द्रियवश्यता वा इन्द्रियजय के व्यापक क्षेत्र को स्पर्श नही करते हैं। इनमे प्रतिपादित अभिप्राय के अनुसार किसी न किसी रूप मे इन्द्रियो का विषयो से सम्बन्ध बना रहता है, जिससे पूर्णत: इन्द्रिय जय नहीं हो पाता और पुन: स्खलन की सम्भावना बनी रहती है। भगवान् जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषयो मे प्रवृत्ति नहीं होना ही इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त निरुद्ध होने पर इन्द्रियो का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय जय के उपाय मे प्रयत्न करने की आवश्यकता नही रहती। इस प्रकार प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियो की परम वश्यता यथेष्ठ और पूर्ण होती है।

सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् इन्द्रिय-निग्रह को ही प्रत्याहार मानते हैं। उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनात्मक शैली में इसका प्रतिपादन किया है। उनकी विवेचना के अनुसार प्रत्याहर अथवा इन्द्रियों को बाहर की उनकी प्राकृतिक क्रियाओं से हटा लेना आधुनिक मनोविज्ञान की अन्तर्मुखी प्रक्रिया के अनुरूप है। आधुनिक मनोविज्ञान की

अन्तर्मुखता की प्रक्रिया का प्रतिपादन प्लेटोकृत फीडो मे निम्न प्रकार से किया गया है—"और विचार सबसे उत्तम तब होता है जबकि मन अपने आप मे संयत होता है और कुछ भी उसे तंग नहीं करता—न शब्द, न दृश्य, न दुख और न कोई सुख। जब शरीर के साथ उसका यथासम्भव कम से कम वास्ता रहता है, तथा कोई शारीरिक बोध या अनुभूति नही रहती और वह केवल सत् को प्राप्त करने की महत्वाकाक्षा रखता है।"

प्रत्याहार वस्तुत. हमे यह प्रेरणा देता है कि दृढ सकल्पपूर्वक मन को समस्त बाह्य प्रभावो के लिए बन्द कर लेना चाहिये। इससे इन्द्रिय-निग्रह पूर्वक मन के नियंत्रण का आभास मिलता है। स्तोत्रकार का कथन है—"निश्चित हो और जानो।" नियन्त्रण हमसे चाहता है कि हम स्वेच्छाचारी मानसिक आवेगो और आग्रह पूर्ण विचारो को सदा सर्वदा के लिए तिलाञ्जलि दे दें और विविध सकल्प-विकल्पों से उसे शून्य कर दें। वस्तुत. सहज स्वाभाविक मानवीय संवेदनशील अनुभूतियों की गहराइयो में जब मन डूबने उतराने लगता है तो वह मनुष्य को इन्द्रियो के माध्यम से सासारिकता की ओर अभिमुख या प्रेरित करता है। इस स्थिति से बचने के लिए ही दृढ़ सकल्प पूर्वक मनोनियन्त्रण का निर्देश प्रत्यहार के अन्तर्गत दिया गया है। मन स्वय एक इन्द्रिय है और सभी इन्द्रियों की अपेक्षा शरीर मे उसका विशिष्ट स्थान है—इसका विवेचन मन के प्रकरणान्तर्गत किया जा चुका है। प्रत्याहार के अन्तर्गत जब इन्द्रिय-निग्रह की बात कही जाती है तो उससे मनो निग्रह का निर्देश स्वतः ही मिल जाता है। यह स्थिति वस्तुतः आत्म-शुद्धि की अवस्था को प्रस्तुत करती है जिससे योग के अग्रिम अंगो धारणा-ध्यान-समाधि के साधन मे सहायता मिलती है। निष्ठापूर्वक यदि प्रत्याहार का अनुशीलन कर उसकी उत्कृष्ट स्थिति याने आत्म शुद्धि को प्राप्त कर लिया जाय तो अग्रिम अगो की साधना सुगम हो जाती है और योगी लक्ष्य सिद्धि के अधिक निकट पहुच जाता है।

योग साधना मे प्रत्याहार की उपयोगिता निरूपित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र निम्न प्रकार से उसकी अनुशसा करते हैं—

सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति॥
प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत॥

समाधि को भली भांति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार की अनुशंसा की जाती है। प्राणायाम से (क्षोभ को प्राप्त) हुआ मन स्वस्थता को प्राप्त नहीं करता है॥ किन्तु

प्रत्याहार को प्राप्त हुआ मन स्वस्थ और समस्त उपाधियों (संकल्प-विकल्पों) से रहित होकर समता भाव को प्राप्त होता हुआ अपने आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्याहार की साधना योगी को और अधिक उत्कृष्ट अवस्था तक पहुंचा देती है। प्रत्याहार के द्वारा योगी ऐसी स्थिति को प्राप्त करता है जिसे प्राणायाम के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्याहार की श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता स्पष्ट है।

योग के पूर्वोक्त चार अंग यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रस्तुत यह पांचवां अंग प्रत्याहार—ये पाँचों अंग योग के बहिरंग होने से उसके सहायक साधन हैं, उसके अन्तर्निहित अंश नहीं है।

अन्तः योगाङ्ग—धारणा, ध्यान, समाधि

इससे पूर्व पांच योगाङ्गो यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार क वर्णन किया का चुका है। यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त पाच योगाङ्ग बहिरग साधन कहलाते हैं। पाच योगाङ्ग बाह्य क्रिया कलापो से सम्बन्धित होने के कारण तथा विभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधन के रूप मे प्रयुक्त होने व अतरग साधनो की सिद्धि के लिए दृढ आधार रूप भूमिका तैयार करने के कारण उन्हे बहिरग साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त योग साधना मे नवदीक्षित साधको के सामान्य अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण होने के कारण उन्हें बहिरग साधन के रूप मे माना गया है। शेष तीन योगाङ्ग-धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरग साधन कहलाते है। इनका सम्बन्ध पूर्णत. अन्तर्जगत् अर्थात् आत्म ससाधन से है। इन तीनो का सम्मिलित स्वरूप 'संयम' कहलाता है। क्योंकि वैसे तो इन तीनो का अपना अलग अलग अस्तित्व और महत्व है। किन्तु जब तीनो किसी एक ध्येय मे पूर्णतया किए जाते हैं तब इनका नाम 'सयम' हो जाता है। अन्त योगाग के रूप मे धारणा और ध्यान प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं तथा समाधि योग की पूर्णता को प्रस्तुत करती है। चैतन्य को निरन्तर बाह्य क्रियाओ और आभ्यन्तर परिवर्तनो से हटाकर ही सत्य रूप से जाना जा सकता है। मनुष्य का चंचल और विक्षुब्ध मन अपनी जिज्ञासा वृत्ति के कारण पृथ्वी और स्वर्ग के गूढतम रहस्यो को जानना चाहता है, किन्तु बाह्य प्रलोभनो मे भ्रमित होकर वह अपनी वृत्तियों को संसार तक ही सीमित रखता है। उपर्युक्त पांच अगो के द्वारा जब उसका पूर्णत· परिष्कार या सस्कार हो जाता है तो अन्तः योगाङ्ग उस सस्कारि अन्तःकरण रूप मन की दृढ़ भूमि पर साधना की सुदृढ भित्ति तैयार करते है। अतः प्रत्येक सत्यान्वेषी मुमुक्षु योगाभ्यासी को अपने हृदय में ज्ञानालोक के द्वारा धारणा-ध्यान-समाधि रूप साधना का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

धारणा

विभिन्न उपनिषद् मे धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसमे शब्दो की विभिन्नता होते हुए भी भाव की एक रूपता है। जिन उपनिषद् में योग के पञ्चदशाङ्ग

माने गए हैं वहां इसे तेरहवें अङ्ग के रूप में, जहाँ योग के आठ अङ्ग माने गए हैं वहां छठे अङ्ग के रूप में और जहां योग के षडङ्ग स्वीकृत किए गए हैं वहाँ चतुर्थ अङ्ग के रूप में धारणा को स्वीकार किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३१) में इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि चित्त का निश्चली भाव होना ही धारणा है और शरीरगत पञ्चमहाभूतों मे मनो धारण रूप धारणा भवसागर को पार कराने वाली (सांसारिक बंधनो से मुक्त कराने वाली) होती है। दर्शनोप० (८/१/३) मे धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसके अनुसार शरीरगत पञ्चभूताश बाह्य पञ्चभूतो की धारणा करना ही यथार्थ धारणा है। यहाँ पर पञ्चविध धारणा का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार योगतत्वोप० (८४-१०२) एव दर्शनोप० (८/४-६) मे शरीर के विभिन्न भागो को पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव आकाश का स्थान बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक स्थान मे पञ्च घटिका पर्यन्त क्रमश ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव की धारणा करने से साधक के तत्तद् महाभूतो से भययुक्त होकर खेचरत्व सम्पादित कर सुख प्राप्त करने का प्रतिपादन किया गया है। योगतत्वोप० (७३-७६) मे धारणा के अभ्यास से प्राप्य सिद्धियों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साधक को इनके आकर्षण से बचने का परामर्श दिया गया है। क्योंकि ये सिद्धियां क्षुद्र होती हैं इनसे केवल भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। अतः ये महासिद्धि तथा योगी के मूल लक्ष्य 'मुक्ति' की प्राप्ति मे बाधक होती हैं। योगतत्वोप० (१०३-१०४) मे पाच प्रकार की धारणा का फल बतलाते हुए कहा गया है कि पञ्चविध धारणा की सिद्धि से योगी दृढ़ शरीर वाला एव मृत्युञ्जयी हो जाता है।

अन्य उपनिषदो मे भी व्यापक रूप से धारणा की चर्चा करते हुए उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जैसे मण्डलब्राह्मणोप० (१/१/६) मे विषयव्यावर्तन पूर्वक चैतन्य मे चित्त को स्थापित करना धारणा बतलाया गया है। योगतत्वोप० (६९-७२) के अनुसार पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयो मे आत्मा या ब्रह्म की भावना होना तथा तेजोबिन्दूप० (१/३५) के अनुसार मन के विषयो मे ब्रह्मभाव की अवस्थिति होना ही धारणा है। दर्शनोप० (८/७-९) मे पुरुष अर्थात् आत्मतत्व मे सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वशास्ता शिवतत्व की धारणा करने का उपदेश दिया गया है। शाण्डिल्योप० (१/९) मे आत्मा मे मन, दहराकाश में बाह्याकाश तथा पंचमहाभूतो मे पंचमूर्ति की धारणा का निरूपण किया गया है। इस प्रकार विभिन्न उपनिषदो मे धारणा का विवेचन एव प्रतिपादन व्यापक रूप से किए जाने के कारण उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट एवं गम्य हो गया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तर्गत यह योग का छठा अंग है। मन (चित्त) की एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। यह वस्तुतः मन की स्थिरता का द्योतक है। हमारे सामान्य दैनिक जीवन मे विभिन्न प्रकार

के विचार आते जाते रहते हैं। दीर्घकाल तक स्थिर रूप से वे नहीं टिक पाते और मन की सामान्य एकाग्रता केवल अल्प समय के लिए ही अपनी पूर्णता में रहती है। इसके विपरीत धारणा मे सम्पूर्णत. चित्त की एकाग्रता की पूर्णता रहती है। सामान्यतः नाभिचक्र, हृदय कमल आदि शरीर के आभ्यन्तरिक देश हैं और आकाश, सूर्य-चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति अथवा कोई भी पदार्थ बाह्य देश हैं। इनमे से किसी एक देश में चित्त की वृत्ति लगाने का नाम धारणा है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा धारणा का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योगदर्शन, विभूतिपाद—१

—वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष मे चित्त का बाधना 'धारणा' कहलाता है।

चित्त बाह्य विषयो को वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था मे जब प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्ति मात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय मे तदाकार होकर स्थिर रूप से भासने लागती है अर्थात् स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी देश विशेष मे चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है और तदाकार रूप होकर उसका अनुभव होने लगता है तो वह 'धारणा' कहलाता है। धारण के उपर्युक्त लक्षण में देश और बन्ध इनका विशेष महत्व है। अतः इनके अभीष्ट पदार्थ का ज्ञान होना परमावश्यक है। इसी दृष्टि से यहा इनका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—

देश— जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जाय वह नाभि, हृदय-कमल, नासिका अग्रभाग, भ्रकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देश रूप विषय अथवा सूर्य, चन्द्र, ध्रुव कोई मूर्ति आदि बाह्य देश रूप विषय का नाम ही देश है। इनमे से किसी एक (देश) में चित्त की वृत्ति या ध्यान लगाया जाता है, इसलिए इसे ही ध्येय कहते हैं।

बन्ध—अन्य विषयो से हटाकर चित्त को एक ही ध्येय विषय पर वृत्तिमात्र से ठहराना 'बन्ध' कहलाता है।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के द्वारा जब चित्त और उसकी वृत्ति स्थिर हो जाय तब उसे अन्य विषयों से हटाते हुए एक ही ध्येय विषय मे वृत्तिमात्र से बाँधना या ठहराना 'धारणा' कहलाता है। यह स्थिति सामान्यत. नाभि आदि स्थानो मे वायु की और साथ ही परमात्मा का ध्यान पूर्वक स्मरण करके मन की स्थिरता होने से होती है। सामान्यतः निरन्तर प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से वायु की नाभि आदि स्थानो मे स्वतः स्थिरता हो जाती है। उसके बाद सतत अभ्यास के द्वारा योगी (साधक) दृढ़भूमि हो जाता है। दृढ़भूमि होने से योगी स्वेच्छानुसार जिस स्थान में वायु का निरोध करना चाहता है कर लेता है। वहाँ प्राणापानादि के विकार दूर होकर उसे 'दिव्य शक्ति' प्राप्त होती है। नाभिचक्र में संयम करने से जठराग्नि में सूक्ष्मता और

विशेष बल आ जाता है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। जठराग्नि शरीरगत सभी प्रकार के पाचन, परिवर्तन और परिवर्धन के लिए उत्तरदायी है, वह सभी क्रियाओं, संस्थानों और अवयवों का नियंत्रक, पोषक और धारक है। वह शरीर के सूक्ष्मतम अणु अंश को अपने तेज और पाकादि क्रिया से प्रभावित करती है। उसमें सूक्ष्मता और विशेष बल सम्पन्नता आ जाने से सम्पूर्ण पाचन संस्थान में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप योगी के शरीर में किसी प्रकार की विकृति या व्याधि उत्पन्न नहीं होती है। उसकी भूख और प्यास नियन्त्रित हो जाती है जिससे कई कई दिनो तक योगी यदि आहार ग्रहण न करे तब भी उसके शरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ता है। यही कारण है कि कई योगियो को लगातार अनेक दिनो तक निराहार देखा गया है।

जाठराग्नि के दिव्य प्रभाव से योगी के शरीर मे आद्य रस धातु का निर्माण तीव्रता से होता है तथा मल-मूत्र का निर्माण अल्प मात्रा मे निर्गन्ध और संयत रूप मे होता है। योगी के शरीर मे धातु-साम्य रहने से रोग या विकार उत्पन्न नहीं होता, जिससे शरीर और अग-प्रत्यगो में लाघव, स्फूर्ति, उत्साह और क्रियाशीलता रहती है। योगी का सम्पूर्ण शरीर सुवासित रहता है, वाणी मे माधुर्यभाव और गम्भीरता रहती है तथा मुखमण्डल पर तेज और कान्ति का समन्वित रूप लक्षित होता है।

योगी के द्वारा जिस प्रकार नाभिचक्र मे सयम करने से उपर्युक्त वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार कपाल मे सयम करने से धी-धृति-स्मृति (बुद्धि-धैर्य-स्मरणशक्ति) अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है जिससे योगी गहनतम, सूक्ष्मतम, गम्भीरतम और दुर्बोध विषयो को ग्रहण, धारण और स्मरण रखने की अपूर्व सामर्थ्य वाला हो जाता है। योगी के लिए कोई भी विषय दुर्लभ नही रहता। योगी को अपनी नासिका के अग्रभाग मे 'दिव्य गंध' और रसना के अग्रभाग मे 'दिव्य रस' की अनुभूति होती है। कण्ठकूप मे संयम करने से क्षुधा-तृषा आदि विकार भावो पर नियन्त्रण एवं विजय प्राप्त होती है। योगी को वायु के द्वारा ही उत्तमोत्तम रसास्वादन होता रहता है जिससे उसे क्षुधा और तृषा का अनुभव नही होता। हृदय कमल मे सयम करने से योगी का चित्त स्फटिक मणि की भाति निर्मल और स्वच्छ हो जाता है, चित्त मे स्थिरता एव प्रसन्नता बनी रहती है। उसका हृदय या मन विकाराभिभूत नही होता, उनमे रज और तम गुण का अभाव हो जाता है तथा एकमात्र शुद्ध सात्विक भाव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार अन्य अंग-प्रत्यंगो और नाड़ियों-चक्रों आदि पर संयम करने से शरीर मात्र पर नियन्त्रण और दिव्य विभूति प्राप्त होती है। जैसे—शीतोष्णता का अनुभव नहीं होना, दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवणशक्ति, दिव्य वाक्शक्ति, दिव्य चेष्टा, दिव्य बल, दिव्य गति, दिव्य क्रिया, दिव्य प्रवृत्ति आदि की प्राप्ति होना।

अनेक योगी इन्ही दिव्य शक्तियो के द्वारा लोगो को चमत्कृत करके प्रसंशा अर्जित करते हैं। किन्तु यह वस्तुत: उचित नही है। क्योंकि इससे योगी अपने आध्यात्मिक चरम लक्ष्य को भूल कर भौतिक चमत्कार मे ही लग जाता है और उसकी साधना अपनी लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही अपूर्ण रह जाती है।

ध्यान

साधना के क्षेत्र में ध्यान का महत्व सर्वोपरि है। योग दर्शन में भी एक स्वतन्त्र अंग के रूप में उसका महत्व स्वीकृत है। महात्मा बुद्ध ने ध्यान को बहुत अधिक महत्व दिया था, जबकि तीर्थंकर महावीर की जैन शासन परम्परा मे उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया था। उपनिषदो के प्रवर्तक ऋषिगण ध्यान के महत्व से भलीभाँति परिचित थे। इससे स्पष्ट है कि साधना पद्धति मे ध्यान की अवस्थिति एव अनिवार्यता का अनुसन्धान और अभ्यास सुदूर अतीत मे हो चुका था।

'ध्यान' हमारी चेतना की ही एक अवस्था विशेष है, वह अध्यात्म विद्या का प्राण और साधना का प्रमुख अग है। ध्यान के बिना न केवल साधना पद्धति अपितु समग्र अध्यात्म विद्या अपूर्ण है, पगु है।

ध्यान आत्म ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र साधन है, अत. वह आत्मा का परम हितैषी तत्व है, क्योंकि उसके माध्यम से ही मनुष्य अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यही भाव आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्य मत तच्च तद् ध्यान हितमात्मनः ॥

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर्मों का क्षय होने से होती है, कर्मों का क्षय आत्म ज्ञान से होता है, वह आत्म ज्ञान केवल ध्यान साध्य है याने ध्यान से ही आत्म ज्ञान प्राप्त होता है, वह आत्म ज्ञान आत्मा का हितकारी तत्व है।

ध्यान के साधन के लिए समत्व का अवलम्बन आवश्यक है। इसी का निर्देश करते हुए कहा गया है—

समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
बिना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥

अर्थात् समत्व का अवलम्बन लेकर योगी ध्यान का अभ्यास करे। समत्व के बिना ध्यान का आरम्भ करना आत्म विडम्बना मात्र है।

यह धारणा से आगे की स्थिति है। वस्तुत: धारणा की अवस्था मे योगी जब इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि केवल ईश्वरोपासना या परमात्मा के अनुचिंतन में ही वह स्वयं को केन्द्रित कर लेता है, तब उसकी स्थिति मात्र हृदय

कल्पना में होती है और जीवात्मारूप वह परमात्मा में ही मग्न हो जाता है। उस समय वह बाह्य जगत् से बिल्कुल विमुख रहता है और विशुद्ध रूप से केवल परमात्मा के साक्षात्कार में ही निमग्न रहता है। वह भूल जाता है कि ससार में मेरी भी कोई स्थिति है या भौतिक ससार मे मेरे शरीर का भी कोई अस्तित्व है। ध्यान वस्तुतः परमब्रह्म, निर्विकार, अद्वितीय, शुद्ध, चैतन्यमय, सत् आनन्दमय परमात्मा के अनुस्मरण मे स्वयं की निरन्तर स्थिति का ही नाम है।

ध्यान की अवस्था बिना किसी विघ्न के समरूप से प्रवाहित रही विचारधारा का परिणाम है। यह ध्यान, मनन अथवा चिन्तन की उत्कृष्ट स्थिति है। ध्यान अपनी अवस्था की पराकाष्टा पर पहुच कर समाधि मे परिणत हो जाता है जहां अभिज्ञा का भाव लुप्त हो जाता है। शरीर और मन समस्त बाह्य प्रभावो के लिए निचेष्ट हो जाते हैं और केवल ध्यान का विषय, वह कुछ भी क्यो न हो, प्रकाशित रहता है। इस प्रकार धारणा और प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं। ध्यान की चरम अवस्था मे जब प्रकाश उद्भासित होता है तो योगी (साधक) को परम आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता है। ऐसे योगी जिसने अलौकिक आन्तरिक शान्ति का रसपान कर लिया है उसे वस्तुओं के सत्यज्ञान की अनुभूति होने लगती है और वह अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के अत्यधिक सन्निकट पहुच जाता है।

जैसा कि व्यास ने कहा है—"बुद्धि का सत्व जिसका सारतत्व प्रकाश है, जब अशुद्धि के मल से उन्मुक्त हो जाता है तो स्फटिक के सदृश निर्मल एव स्थिर प्रवाह का रूप धारण कर लेता है जिस पर रजोगुण या तमोगुण अपना अधिपत्य नही कर सकते और न ही किसी अन्य रूप से उसे प्रभावित कर सकते हैं।" इससे स्पष्ट है कि ध्यान की अवस्था मे योगी सासारिक प्रपञ्चो से मुक्त होकर अपने ध्येय के साथ तादात्म्य भाव स्थापित कर लेता है जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान के सन्निकट पहुच जाता है और उसका लक्ष्य उसकी साधना से अधिक दूर नही रहता। इस अवस्था मे पहुचने के बाद योगी उस सीमा से बाहर निकल जाता है जिसमें उसके भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। अर्थात् इस अवस्था मे किसी भी प्रकार की स्थिति योगी को अपनी साधना से विचलित या जिस पथ पर वह अग्रसर है उससे भ्रष्ट नही कर सकती।

ध्यान का अर्थ और स्वरूप

ध्यान शब्द की निष्पत्ति "ध्यै चिन्तायाम्" धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है-चिन्तन करना। यहाँ पर ध्यान शब्द का धातु निष्पन्न उक्त अर्थ प्रासगिक एव सार्थक प्रतीत नही होता, क्योकि ध्यान शब्द का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ इससे भिन्न है, जिसके अनुसार चिन्तन नहीं, अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को एक ही लक्ष्य

पर स्थिर करना। सामान्यतः ईश्वर या परमात्मा में ही अपना मनोनियोग इस प्रकार करना कि केवल उसमे ही साधक निमग्न हो और किसी अन्य विषय की ओर उसकी वृत्ति आकर्षित न हो 'ध्यान' कहलाता है। योग शास्त्र के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र का एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृत्ति का नही उठना 'ध्यान' कहलाता है।

विभिन्न ग्रंथो मे योग की सूक्ष्मतम विवेचना देखने को मिलती है। तत्वार्थ सूत्र में एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है। यथा—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।"—तत्वार्थ सूत्र ९/२७

इस प्रकार ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं है, वह मन, वाणी और शरीर इन तीनों से सम्बन्धित है। इसी प्रकार आवश्यक निर्युक्त (१४६७-१४७८) के अनुसार उसकी निरेजन दशा—निष्प्रकम्प दशा ध्यान है। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन के माना है। उनके अनुसार जिसमे धारणा की गई है उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता (अर्थात् सदृश प्रवाह) ध्यान है। यथा—

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" —योगदर्शन, विभूतिपाद-२

—उस देश मे ध्येय विषयक ज्ञान या वृत्ति का लगातार एक जैसा बना रहना ध्यान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसमे धारणा की गई उसमे चित्त जिस वृत्ति-मात्र से ध्येय में लगता है वह वृत्ति जब इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदित होती रहे कि कोई दूसरी वृत्त बीच मे न आये उसे 'ध्यान' कहते हैं।

यहां सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय से सम्बधित पहली वृत्ति हो, उसी विषय की दूसरी और उसी विषय की तीसरी हो—ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में उपस्थित न हो अर्थात् जो अन्य ज्ञानो से अपरामृष्ट हो-वह ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि को एकाग्रता और निरोध-ये दोनो केवल चित्त के ही अभीष्ट हैं। गरुड़ पुराण मे केवल ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान बतलाया गया है। यथा—

"ब्रह्मात्म चिन्ता ध्यानं स्यात्" —गरुड़ पुराण अ० ४८

बौद्ध चिन्तन धारा मे भी ध्यान का सम्बन्ध मन से बतलाया गया है, जबकि श्रमण चिन्तन पद्धति मे ध्यान का सम्बन्ध वाणी और शरीर से भी है। इस प्रकार ध्यान केवल मानसिक ही नहीं, अपितु वाचिक और कायिक भी है। जैनाचार्यों के मतानुसार ध्यान में शरीर, वाणी और मन का निरोध ही नहीं होता, अपितु प्रवृत्ति भी होती है। ध्यान का अर्थ मात्र शून्यता या अभाव नही है। अपने आलम्बन में गाढ़ रूप से संलग्न होने के कारण जो निष्प्रकम्प हो जाता है वही चित्त (मानसिक) ध्यान कहलाता है। मृदु, अनवस्थित और अव्यक्त चित्त में ध्येयाकार की एकतानता या सदृश प्रवाह

नहीं होता, अतः उसे ध्यान नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ध्यान चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है अथवा बाह्य शून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरूकता अबाधित रहती है। कथन का सारांश यह है कि चिन्तन शून्यता ध्यान नहीं है और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है वह भी ध्यान है।

उपनिषदों में ध्यान के स्वरूप की विवेचना विस्तार पूर्वक की गई है। मैत्रेय्युपनिषद् (२/२) एवं स्कन्दोपनिषद् (११) मे ध्यान की चर्चा करते हुए कहा गया है—"ध्यानं निर्विषयं मनः।"-मन का विषयों से विरहित हो जाना ध्यान है। इसके अतिरिक्त आत्म स्वरूप के चिन्तन को भी ध्यान बतलाया गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।

अर्थात् वह मैं ही चिन्मात्र ब्रह्मतत्व हूं—ऐसा चिन्तन करना ध्यान है।

एक अन्य उपनिषद् में भी यही भाव प्रतिपादित किया गया है—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यात…… … ॥

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/३६

"मैं ही ब्रह्म हूं"—इस सद्वृत्ति से जो निरालम्ब रूप स्थिति उत्पन्न होती है वह ध्यान शब्द से विख्यात है।

इसी प्रकार सोऽहं के रूप में विश्वरूप योगीश्वरेश्वर महेश्वर अथवा सच्चिदानन्द परब्रह्म का ध्यान करने से वेदान्त का ज्ञान होता है। अर्थात् साधक को आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। योगतत्वोपनिषद् मे सगुण एवं निर्गुण भेद से द्विविध ध्यान का प्रतिपादन करते हुए इष्ट देव के ध्यान को अणिमा आदि सिद्धियों का देने वाला सगुण ध्यान कहा गया है और निर्गुण ध्यान से समाधि की सिद्धि होने का प्रतिपादन किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१०) में भी ध्यान के सगुण और निर्गुण भेद किए गए हैं। वहां मूर्ति ध्यान को सगुण ध्यान और आत्मयाथात्म्य को निर्गुण ध्यान बतलाया गया है। अन्यत्र ध्यान का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

"सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्।"

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १/१/७

सभी शरीरों में चैतन्य की एकतानता अर्थात् एक सदृश सतत प्रवाह होना ध्यान है।

इस प्रकार उपनिषदों में ध्यान का स्वरूप किंचित् भिन्नता के साथ प्रतिपादित किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि योग के अन्तर्गत ध्यान बड़े

साधन है जो साधक को साध्य या लक्ष्य के अधिक समीप ले जाता है। ध्यान के द्वारा ही इष्ट साधन होता है और साधक अज्ञानान्धकार से निकल कर ज्ञान के आलोक में आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करने मे समर्थ होता है। यह स्थिति योगी के अन्तर्जगत् की उत्कृष्ट स्थिति की द्योतक है। ध्यान का परिणाम कितना आत्म कल्याणकारी होता है-इसका प्रतिपादन आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से किया है—

प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम् ।
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसम्भवम् ॥

प्रबल ध्यान रूपी वज्र के द्वारा पाप रूप वृक्ष का क्षय इस प्रकार कर देते हैं कि फिर पुनर्जन्म सम्भव न हो अर्थात् संसार परिभ्रमण जन्य दुःखों को भोगने के लिए पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़े।

ध्यान के प्रभाव से योगी किस प्रकार बाह्य और अन्तः समस्त विकल्पो से मुक्त होकर संसार के प्रति उदासीन वृत्ति वाला हो जाता है-इसका प्रतिपादन सुन्दर रूप से आचार्य प्रवर ने निम्न प्रकार से किया है—

बहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ता चेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मयभाव प्राप्तः कलयती भृशमुन्मनी भावम् ॥

अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी प्रकार की चिन्ताओं एव चेष्टाओ को त्याग कर तन्मय भाव को प्राप्त हुआ योगी अत्यन्त उन्मनी भाव को प्राप्त करता है।

इस सन्दर्भ में चित्त की चञ्चलता बतलाते हुए आगे कहते हैं—

चेतोऽपि यत्र तत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम् ।
अधिकी भवति हि वारितमवारित शान्तिमुपयाति ॥

—चित्त की प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ उसे रोकना नहीं चाहिये। वारित हुए चित्त की वृत्ति अधिक होती है और अवारित चित्त शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि चित्त के सहज प्रवाह को समभाव से अवलोकन करने मात्र से ही चित्त शान्त हो जाता है।

समाधि

अष्टांग योग में समाधि का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। साधना की वह चरम अवस्था है जिसमें समाधिस्थ योगी का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है जिसमें योगी चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। यही योग साधना का लक्ष्य है। अतः मोक्ष प्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना आवश्यक है। योग शास्त्र में समाधि को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन बतलाया गया है, इसीलिए योगशास्त्र समाधि के द्वारा मोक्ष साधन का आग्रह करता है। योगभाष्य में सम्भवतः इसीलिए योग को पारिभाषिक रूप मे "समाधि" कहा गया है। यथा-"योगः समाधिः"-योग भाष्य १/१ इसे अन्य रूप में इस प्रकार से समझा जा सकता है—पातञ्जल योगशास्त्र में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः) समाधि अवस्था मे भी योगी की समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। चित्त की वृत्तियां चूंकि अज्ञान-जनित होती हैं, अतः इन्हें रोकना-इनका निरोध करना आवश्यक है, तभी समाधि की सिद्धि या योग की स्थिति होती है। इस प्रकार दोनों ही स्थिति में चित्त की वृत्तियों का निरोध होने से दोनों में समानता है, अतः वस्तुतः समाधि और योग में कोई मौलिक अन्तर नही है।

योग की अवधारणा वाले लगभग सभी ग्रंथों में इसे योग के अन्तिम अंग के रूप में मान्य किया गया है। विभिन्न उपनिषदों में समाधि की विवेचना अथवा उसके स्वरूप का प्रतिपादन भिन्न रूप में किया गया है। किन्तु उसका सारतत्व लगभग समान है। विभिन्न शास्त्रों या ग्रंथों में समाधि की जो व्याख्या उपलब्ध होती है उसका साध्य रूप अन्तिम लक्ष्य समान है जो जीवात्मा के साथ परमात्मा की एकाकार अनुभूति रूप है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३२) एवं मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् (१/१/१०) में प्रतिपादित विवेचन के अनुसार समाधि को ध्यान विस्मृति रूप बतलाया गया है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र (२/१५५) उपलब्ध विवेचनानुसार सर्ववृत्तिविवर्जित अर्थात् समस्त मनोवृत्तियों के समाप्त हो जाने की स्थिति समाधि है। तेजोबिन्दूपनिषद् (१/३७) में भी लगभग यही भाव व्यक्त किया गया है। वराहोपनिषद् (२/७५) में आत्मा एवं मन के ऐक्य होने की स्थिति को समाधि कहा गया है जिसमें मन का अस्तित्व सम्पूर्णतः आत्मा में विलीन हो जाता है। योगतत्वोपनिषद् (१०७) में प्राप्त विवरण के अनुसार

जीवात्मा एव परमात्मा की समतावस्था होना समाधि है जबकि दर्शनोपनिषद् (१०/१) में प्राप्त उल्लेखानुसार परमात्मा एवं जीवात्मा के ऐक्य का बोध होना समाधि है। इसी प्रकार का भाव अमृतानादोपनिषद् (१६) मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—"सम मन्येत यं लब्ध्वा स समाधि प्रकीर्तितः।"

शाण्डिल्योपनिषद् (१/११) में जीवात्मा-परमात्मा की ऐक्य की त्रिपुटी रहित, परमानन्दस्वरूप, शुद्धचैतन्यात्मक अवस्था को समाधि निरूपित किया गया है। जबकि त्रिशिखिब्राह्मणोनिषद् (२/१६) के अनुसार समाधि वह स्थिति है जिसमे 'मैं ही परब्रह्म हू"—इस प्रकार का अनुभव करता हुआ योगी तदाकार अर्थात् ब्रह्म हो जाता है। परिणामतः वह समस्त सांसारिक बंधनो से मुक्त हो जाता है जिससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। समाधि का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए दर्शनोपनिषद् (१०/२-५) मे कहा गया है कि नित्य, सर्वगत एवं कूटस्थ आत्मतत्व स्वरूपतः एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपो मे दिखलाई पड़ता है। अतः भ्रान्त लोग अद्वय तत्व में ही जीव एव ईश्वर का भेद कर लेते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। क्योकि यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन ही "मैं' नही हूं, अपितु केवल साक्षिस्वरूप शिवतत्व ही "मैं" हू—इस प्रकार की बुद्धि ही समाधि होती है।

वस्तुतः समाधि योग साधना की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था मे आलम्बन आभास से रहित ध्यान और ध्येय पृथक् रूप से भावित होते हैं। जब ध्यान का अभ्यास या साधना अपनी चरम स्थिति पर पहुच जाती है और साधक अपनी साधना के अगले सोपान पर पहुचता है तो वह अवस्था ही समाधि होती है। ध्यान की अभ्यास प्रक्रिया जब विकास को प्राप्त करती है तो वह शनैः शनैः समाधि का रूप धारण करती जाती है। इस अभ्यास प्रक्रिया मे मन पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य जाग्रत रहता है। यही कारण है कि साधक अन्ततः मोक्ष प्राप्ति रूप ,अपने लक्ष्य साधन मे सफल होता है और यथार्थ अनुभूति करता है।

साधना अथवा योग की वह प्रक्रिया जिसमें ध्यानस्थ योगी की जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता अथवा.जीवात्मा को अपने शुद्ध चिदानन्दमय स्वरूप का अनुभव होता है "समाधि" की स्थिति है। योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार ध्यान करते-करते चित्त जब ध्येयाकार मे परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय वह ध्यान ही "समाधि" कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया है—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" —योग दर्शन ३/३

जब (ध्यान) में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वोक्त ध्येय विषयक ध्यान ही अभ्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित की भाँति होकर केवल ध्येय स्वरूप मात्र के

अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्था में ध्येय का अवलम्बन करने वाली जो वृत्ति समान प्रवाह से उदय होती रहती है वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित रहती है अर्थात् वह तीनों में तदाकार होती हुई ध्येय के स्वरूप से भासने वाली होती है। यही कारण है कि उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनो के बने रहने से ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को सम्पूर्णता से प्रकाशित नही करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति मे ध्येय की स्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ एवं ध्यान उसका प्रकाशन करने मे अपने स्वरूप से शून्य जैसे होकर ध्येय स्वरूप मात्र के समान भासने लगे और ध्येय का स्वरूप ध्यातृ और ध्यान से अभिन्न होकर ध्येयाकार वृत्ति मे सम्पूर्णता से प्रतिभासित होने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

व्यास भाष्य में समाधि के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है—

"समाधिर्ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मके स्वरूपणशून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशा तदा समाधिरित्युच्यते।"

अर्थात् ध्येयाकार की प्रतीति कराने वाली ही समाधि है। प्रत्यायात्मक में जब ध्येय स्वभाव वाली प्रतीति स्वरूपण शून्य की भांति होती है तब वह समाधि कहलाती है।

जो साधक या योगी धारणा के अभ्यास से ध्यान की भूमिका में पहुंचता है फिर उसकी गति समाधि की ओर बढ़ती है, जिसको एकाग्रता की न्यूनाधिक सिद्धि हुई है और इसके फल स्वरूप चित्तवृत्तियों का क्षोभ कम हुआ है उसके चित्त की अवस्था चश्मे के निर्मल और पारदर्शक शीशे की भांति होती है। इसी को महर्षि पतञ्जलि ने अभिजात मणि कहा है। वह मणि या शीशा अपनी ओर से प्रतिबिम्ब में कुछ नहीं जोड़ता, अपितु जो पदार्थ उसके सामने आता है वह उसका विषय बनता है, उसको ज्यों का त्यों उपस्थित करता है और महर्षि पतञ्जलि के शब्दों मे उस पदार्थ में तत्स्थ और उस पदार्थ से रंजित होता है। तत्स्थ का अर्थ है उसमें स्थित होना और तदञ्जनता का अर्थ है उससे रंगा जाना। निर्मल शीशा जो पदार्थ उसके सामने आता है उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसके साथ सारूप्य स्थापित कर लेता है। फलतः हम चश्मे के शीशे को नही प्रत्युत उस पदार्थ को देखते हैं। किसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं और वह चित्त शुद्ध होता है तो वह उन पदार्थों को जो उसके सामने विषय रूप से आते हैं यथावत् प्रकट करता है, उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही भाव महर्षि पतञ्जलि द्वारा योग सूत्र में निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"—१/४१

वृत्ति के क्षीण होने पर पारदर्शक मणि के समान गृहीता, ग्रहण और ग्राह्यों में तत्स्थता एवं तदञ्जनता की समापत्ति प्राप्त होती है। जो पदार्थ चित्त के सामने

जा सकते हैं या ज्ञानोपलब्धि में जिनकी स्थिति महत्वपूर्ण है वे तीन प्रकार के हैं। महर्षि पतञ्जलि ने उनके लिए ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य शब्दों का व्यवहार किया है। तीनों में तादात्म्य और तदञ्जनता का भाव होना समापत्ति है जिसका अर्थ होता है विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के अर्थ में भी समापत्ति शब्द का व्यवहार किया है।

ग्रहीता का अर्थ है पकडने वाला अर्थात् ज्ञान का धारण करने वाला। दूसरे शब्दों में उसे द्रष्टा या ध्याता भी कह सकते हैं। ग्रहण का अर्थ है ज्ञान और दर्शन का अर्थ है साधन, अर्थात् विशुद्ध या निर्मल ज्ञान की प्राप्ति। ग्राह्य से तात्पर्य है ग्रहण होने योग्य वस्तु अर्थात् वह वस्तु जो दृश्य या ध्येय है। इन्द्रियो के जितने भी विषय हैं वे सब ग्राह्य शब्द के अन्तर्गत हैं। पञ्चमहाभूत के अतिरिक्त पञ्च तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध भी ग्राह्य के अन्तर्गत आते हैं। इन्द्रियो की भी गणना ग्राह्यों में ही करना चाहिए। इसके साथ ही इन्द्रिया और अहकार ग्रहण करने के उपकरण या साधन हैं, अतः ये सब ग्रहण हैं। बुद्धियुक्त पुरुष को ग्रहीता कहते हैं। शुद्ध आत्मा या पुरुष चिन्मय होने से किसी विषय का ज्ञाता नहीं होता। जब उसका बुद्धि से योग होता है तभी वह द्रष्टा और ज्ञाता अर्थात् ग्रहीता हो सकता है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि जब चित्त धारणादि के अभ्यास से निर्मल हो जाता है तो वह सभी विषयो का यथार्थ ज्ञान कर सकता है। बिना चित्त के तो किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव ही नही है। यह शुद्ध चित्त का लक्षण है कि वह अन्य सब विषयो के साथ-साथ अपना ज्ञान भी कराता है।

इससे स्पष्ट है कि समाधि की अवस्था में एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान का उदय, मन के विविध सकल्पो-विकल्पो का विनाश और अन्यान्य चित्तवृत्तियों का विस्मरण होता है। इसमे समस्त प्रकार की आशाओ, अभिलाषाओ, तितिक्षाओं से मन शून्य हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण चञ्चलता तिरोहित हो जाती है जिससे वह शान्त, अचञ्चल और निर्विकार हो जाता है। वैकारिक भावो से शून्य हुआ मन समाधिस्थ मनुष्य मे जीवात्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने में अर्थपूर्ण रूप से सहायक होता है। इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए महाराज भोज ने समाधि का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

"सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स:समाधिः।"

जिसमे विक्षेपो को हटाकर मन को एकाग्र किया जाता है, सम्यक् रूप से मन का अवधारण किया जाता है वह समाधि है।

समाधि के सन्दर्भ मे योगी या साधक के शरीर की उतनी उपयोगिता नहीं रहती जितनी मन और आत्मा की होती है। मन और आत्मा को एक स्थान पर रखने, उन्हें अवलम्बन या आधार प्रदान करने की दृष्टि से शरीर की उपयोगिता अवश्य है, साथ ही साधना या योगाभ्यास का साधन भी शरीर है, किन्तु मन और आत्मा की अपेक्षा वह गौण है। आत्मा प्रत्येक अनुभव का साक्षी है। मरने पर भी इन्द्रियों

के अधिष्ठानों पर बाहरी विषयों के आघात होते रहते हैं, परन्तु साक्षी रूप आत्मा से वियोग हो जाने से अनुभव नहीं होते। परन्तु अभ्यास करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा से वियोग हो गया है। साधक जीवित है, इसके शरीर से आत्मा का विच्छेद नहीं हुआ है। शारीरिक और मानसिक सभी क्रियाओं का साक्षी आत्मा है। इसलिए पूर्ण रूप से त्रिपुटी का अनुभव हो या न हो, परन्तु आत्मा तो है ही। इसीलिए कहा है कि समाधि में एक ओर तो केवल अर्थमात्र अर्थात् ध्येय मात्र भासमान होता है और दूसरी ओर द्रष्टा अर्थात् ध्याता इस पर विद्यमान है, जैसे वह स्वरूप शून्य हो गया हो। उसकी सत्ता भी झीनी पड़ रही है। ध्येय का आभास पूर्ण रूप से है, ध्याता का आभास बहुत ही सूक्ष्म रूप में है। सच तो यह है कि ध्याता और ध्येय दोनों प्रायः एक हो गये हों। यदि परमात्मा ध्येय है तो साधक और परमात्मा में प्रायः अभेद हो गया है। ऐसी अवस्था मे ध्यान के लिए अवकाश ही नहीं रहता। यदि द्वैत बुद्धि उदात्त हो जैसा कि ध्यान में होता है तब तो यह प्रतीति हो कि मैं परमात्मा का ध्यान कर रहा हू। जब यह कहना कठिन हो गया हो कि ध्याता और ध्येय मे कोई अन्तर भी है या नही तो कौन किसका ध्यान करे? कौन द्रष्टा और किसका द्रष्टा हो? जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है—

विज्ञातारमरे केनाभिजानीयात्?

अर्थात् अरे, जानते वाले को किस साधन के द्वारा जाना जाय?

समाधि के विषय मे वेदान्त के अनुयाइयो के द्वारा ऐसा माना जाता है कि अनेक जन्मो के पुण्य का उदय होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है और धीरे-धीरे जिज्ञासु की मोक्ष की इच्छा प्रबल होती जाती है। उसके हृदय में इहामुत्र के दृष्ट और आनुश्रविक विषयो की ओर से वितृष्णा बढ़ती जाती है। वह छह गुणों से सम्पन्न होती है। वे गुण हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। चित्त को विषयों की ओर से खींचना शम और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना दम है। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास को सहना तितिक्षा है और प्रचलित कर्म काण्ड पूजा पाठ और दूसरे संसारी कामों को छोड़ना उपरति है। श्रद्धा और समाधान का अर्थ स्पष्ट है। इन गुणों से सम्पन्न होने पर मुमुक्षु सद्‌गुरु की शरण में जाता है। वहां वह गुरु के सत्संग से श्रवण और मनन का अभ्यास करता है। अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जीव को ब्रह्म बनाना उसका लक्ष्य नहीं है, अपितु उसको अपना भूला हुआ स्वरूप समझा देना ही उसका अभीष्ट है।

जो चित्त समाधि की ओर झुकता है उसकी अवस्था का प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलि ने निम्न शब्दों मे किया है—

"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।"

—योग सूत्र ३/११

जिस अवस्था में चित्त में सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय हो उसको समाधि परिणाम कहते हैं। साधारणतः हमारे चित्त सर्वार्थ होते हैं अर्थात् एक के बाद एक अनेक पदार्थ उनके विषय बनते हैं। विक्षिप्त चित्त का सही लक्षण है कि वह किसी एक जगह पर देर तक नहीं टिक सकता। विषय से विषयान्तर मे फिरता रहता है। ऐसे चित्त मे रजोगुण की प्रधानता होती है। यद्यपि थोडा सा मेल सत्वगुण का भी होता है जिसके कारण उसमे थोडी देर के लिए कुछ स्थिरता आ जाती है। जब ऐसा होने लगे तो सत्वगुण की मात्रा के बढ़ने के फलस्वरूप रजोगुण की मात्रा कम होने से एकाग्रता मे कुछ वृद्धि होने लगती है। अर्थात् दूसरे शब्दो मे सर्वार्थता कुछ कम हो तब यह कह सकते है कि चित्त मे समाधि परिणाम का उदय हुआ है। समाधि तत्काल नही आ जाती। समाधि परिणाम का उदय धारणा की अवस्था मे होता है। धीरे-धीरे ध्यान की अवस्था पहुचते-पहुचते जब प्रत्यय की एक तानता होगी तब वह एकाग्रता परिणाम होगा। अब इस प्रकार ध्यान करते-करते एकाग्रता दृढ़ होगी तब चित्त का झुकाव समाधि की ओर बढ़ जायगा और अन्त मे वह निरोध परिणाम भी उदय होगा जो समाधि का वास्तविक लक्षण है। सर्वार्थता से एकाग्रता की ओर जाना इतना सरल या सुगम नही है, जितना माना या समझा जाता है। चित्त का प्रवाह शान्त और निर्द्वन्द्व रहे इसके लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —

"तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।" —योग सूत्र ३/१०

अर्थात् चित्त की प्रशान्तवाहिता संस्कार के कारण होती है।

इस सम्बन्ध मे भाष्यकार ने कहा है—

"निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति तत्संस्कार-मान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयते इति।"

चित्त के प्रशान्तवाहित निरोध के अभ्यास में पटुता होने की अपेक्षा रहती है। यदि एतद्विषयक अर्थात् निरोध सम्मत संस्कार मद हुए तो फिर व्युत्थानधर्मी संस्कार मन को दबा लेंगे। कथन का अभिप्राय यह है कि चित्त में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। एक ओर तो एकाग्रता की ओर चित्तवृत्ति जाती है और दूसरी ओर अनेक जन्म से आई हुई सर्वार्थता का संस्कार खीचता है। एकाग्रता संस्कार अन्तर्मुख होने की ओर ले जाना चाहता है, जबकि सर्वार्थता संस्कार हठात् बहिर्मुख रखना चाहता है। यदि एकाग्रता संस्कार प्रबल हुए तो चित्त समाधि की ओर जा सकेगा अन्यथा फिर व्युत्थान अर्थात् जगत् की प्रतीति की शिला पर गिरकर चकनाचूर हो जायगा। यदि सौभाग्य से साधक का प्रयास प्रबल और सफल हुआ तो फिर उसको सफलता सूचक एक विशेष उपलब्धि प्राप्त होगी जो उसे समाधि की ओर और अन्ततः मुक्ति की ओर ले जायगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों का निरोध, चित्त की एकाग्रता तथा ध्याता एवं ध्येय की तदात्मता या एकाकारता सर्वथा समाधिमूलक एवं समाधि

के अर्थ मे प्रासंगिक है। चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है, चित्त की एकाग्रता भी इन्ही "उपायो" से सम्भव है। इस सदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि चित्तवृत्तियों के निरोध से तत्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इसीलिए समाधि के अर्थ में यह प्रासगिक है। महर्षि पतञ्जलि ने प्रारम्भ में ही "योग" की व्याख्या एव अर्थ निष्पादन में चित्तवृत्तियों के निरोध को प्रमुखता दी है। अभिप्रेतार्थ यह है कि चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है और समाधि के अर्थ मे भी चित्तवृत्तियों का निरोध जो तत्व ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण माना गया है, प्रासंगिक है तो योग और समाधि मे मूलत कोई भेद नहीं है। वस्तुतः समाधि की सिद्धि होना ही योग का परिचायक है, समाधि की सिद्धि ही मनुष्य या साधक को योगी बनाती है।

समाधि के भेद

योग शास्त्र मे समाधि दो प्रकार की बतलाई गई है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। इसमे सम्प्रज्ञात समाधि सचेतन और असम्प्रज्ञात चैतन्यातीत मानी गई है।

सम्प्रज्ञात समाधि :-समाधि की अवस्था में मन विषय से अभिज्ञ रहता है जिससे उसे विषय का सम्यक् प्रकार से ब्योरेवार ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुत. मन उस ज्ञान को कराने का मुख्य कारण या साधन बनता है। योग भाष्य के अनुसार योग की वह अवस्था जिसमे चित्त अपने उद्देश्य मे एकाकी रहता है और एक स्पष्ट तथा यथार्थ पदार्थ को पूर्ण रूप से प्रकाशित करता है, दु.खो को दूर करता है तथा कर्मों के बन्धन को शिथिल कर समस्त प्रकार की मानसिक वृत्तियो का दमन करना ही अपना लक्ष्य रखता है सम्प्रज्ञात समाधि है।

पूर्व प्रकरण मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योग शास्त्र के अनुसार चित्त मे अनेक वृत्तियाँ होती हैं। जब चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र होकर लगता है तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति जाग्रत होकर रहती है, अन्य सभी वृत्तियाँ क्षीण शक्ति वाली होकर उसी एक वृत्ति को सुदृढ़ बनाने में सलग्न रहती हैं। उसी एक वृत्ति मे "ध्यान" लगाने से "प्रज्ञा" का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है। इसे ही सबीज समाधि भी कहा गया है। जिसमें भावी जीवन का बीज विद्यमान रहता है वह सबीज समाधि है। वाचस्पति (तत्व वैशारदी) के अनुसार बीज कर्म का प्रसुप्त आशय है जो जन्म, जीवन की अवधि तथा सुखो के नाना रूपो की आशाओ के अनुरूप है। जिस समाधि का यह आधार है वह सबीज समाधि है। इस समाधि का सुख कोई व्यक्ति सैकड़ों वर्ष तक भी लेता रहे, फिर भी ससार की ओर लाने वाले सस्कार उसमें विद्यमान रहते हैं जिससे वह संसार मे ही परिभ्रमण करता रहता है, मुक्ति की ओर नहीं जा पाता। यही बीज है और इस बीज सहित होने से यह "सबीज समाधि" है। एक बात और है—इस समाधि मे कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है और उस समाधि की अवस्था में उस आलम्बन का भाव भी होता है। इस अवस्था में चित्त पूर्णतः एकाग्र

रहता है, सत्‌रूप अर्थ याने यथार्थ तत्व को प्रकाशित करता है, "क्लेशों" का नाश करता है, कर्मजन्य सांसारिक बन्धन नष्ट होने लगते हैं। आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोकित आत्मा निर्मल, विशुद्ध एव निर्विकार स्वरूप को प्राप्त होकर कैवल्य (मुक्ति) की ओर अग्रसर होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में ज्ञाता और ज्ञान का ऐसा संयोग होता है जिसमें ज्ञाता विषय को जानने वाला केवल इसलिए कहलाता है कि यह स्वय वही है। वस्तुतः विचार और विचार्य (विचार का विषय) एक ही है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भाव सलग्न रहता है। ये समाधि के ऐसे भाव हैं जिनके विषय निश्चित हैं, जिन पर इनका आधार है। जब मनुष्य हिताहित विवेक से युक्त रहकर अच्छे या बुरे विषयो के सम्बन्ध मे तर्क पूर्वक विचार करता है तथा समाधि की अवस्था मे ही आनन्द और अस्मिता के भाव का अनुभव करता हुआ लक्ष्य साधन में संलग्न रहता है तो वह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है। वितर्क और विचार युक्त समाधि की स्थिति मे रजोगुण का बाहुल्य रहता है तथा सत्वगुण भी कार्य करता है। समाधि की आनन्दयुक्त स्थिति मे सत्व गुण का बाहुल्य रहता है शेष दोनो गुणों का तिरोभाव रहता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के भेद—समाधि के उपर्युक्त भावो के आधार पर समाधि के चार भेद किए गए हैं। यथा—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता। इन्हे वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भी कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के विभूतिपाद मे समाधि का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है वह योग के अष्टाग विवेचन के संदर्भ मे है। योग दर्शन में ही समाधि पाद के अन्तर्गत उन्होंने समाधि के लिए "समापत्ति" की संज्ञा दी है।

वितर्क समाधि—इसे वितर्कानुगत या वितर्कानुगम समाधि भी कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने इसे सवितर्क समापत्ति कहा है जिसका स्वरूप उन्होंने निम्न प्रकार बतलाया है—

"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।"—योगसूत्र-१/४२

अर्थात् शब्द, अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान जब मिश्रित होकर रहते हैं तब वह सवितर्क अर्थात् वितर्क युक्त समाधि कहलाती है।

यहा शब्द का अर्थ है "कम्पन"। अर्थ का अभिप्राय है वह स्नायविक प्रवाह जो उसे भीतर ले जाता है और ज्ञान का अर्थ है प्रतिक्रिया। प्रस्तुत सवितर्क समापत्ति (समाधि) मे विषयी और विषय ये दोनों सम्पूर्ण रूप से पृथक् रहते हैं। यह पार्थक्य या भेद शब्द उसके अर्थ और तत्प्रसूत ज्ञान के मिश्रण से उत्पन्न होता है। पहले तो है बाह्य कम्पन-शब्द, जब वह इन्द्रिय प्रवाह द्वारा अन्तः में प्रवाहित होता है तब उसे अर्थ कहते हैं। तत्पश्चात् चित्त मे एक प्रतिक्रिया प्रवाह संचालित होता है उसे ज्ञान कहा

जाता है जिसे हम बाह्य वस्तु की अनुभूति कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्थूल विषयों के प्रति बुद्धि के तर्क वितर्कात्मक भाव से युक्त जब यह समाधि होती है तो इसे वितर्कानुगत कहा जाता है। सांसारिक वस्तुएँ समान्यतः स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। जब चित्त स्थूल विषय में सम्बद्ध होकर तदाकार रूप हो जाता है तब वह वितर्क कहलाता है। इस अवस्था मे साधक साकार ईश्वर जैसे परमयोगी श्रीकृष्ण जैसी स्थूल वस्तु को ध्यान मे रखते हुए समाधिलीन होता है। वह स्थूल वस्तु का आलम्बन लेकर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है और अन्ततः चित्त सूक्ष्म में एकाग्र होता है। वस्तुतः यह समाधि वस्तु-निष्ठ है, अर्थात् इसमें वस्तु विशेष जैसे "गाय" शब्द, उसका "अर्थ" और उसका ज्ञान तीनों एक होकर विद्यमान रहते हैं।

इस वितर्कानुगत समाधि के दो भेद किए गए हैं—सवितर्क, और निर्वितर्क। वेदान्त के आचार्य भी समाधि के दो भेद मानते हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। ऊपर समाधि का जो स्वरूप बतलाया गया है यही सवितर्क समाधि है। सवितर्क समाधि में चूंकि विकल्प का भाव रहता है, अतः इसे सविकल्प समाधि भी कहा गया है। इसमे द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी बनी रहती है। निर्वितर्क समाधि जिसे निर्विकल्प कहा गया है वितर्क से रहित होती है। इसमे दृश्य मात्र रह जाता है, वस्तु विशेष का शब्द छोड़कर केवल अर्थ का भाव ही उसमे निहित रहता है। ग्रहण करने योग्य स्थूल वृत्ति को निर्मल करके साधक जब स्वकीय स्वरूप ज्ञान को विस्मृत कर ध्येय ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है तब वह वितर्क विकल्प आदि भाव से शून्य होने के कारण, लक्ष्य-मात्र वृत्ति होकर समाधिलीन होता है। यही निर्वितर्क या निर्विकल्प समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने निर्वितर्क समापत्ति का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है—

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।" — योगदर्शन १/४३

स्मृति के परिशुद्ध हो जाने पर स्वरूप से शून्य हुई की भाँति केवल अर्थ (ध्येयमात्र) के स्वरुप को प्रत्यक्ष कराने वाली चित्त की स्थिति विशेष ही निर्वितर्क समाधि है। अभिप्राय यह है कि जब स्मृति शुद्ध हो जाती है, याने स्मृति में जब किसी अन्य प्रकार के गुण का सम्पर्क नहीं रह जाता है, जब केवल ध्येय वस्तु का अर्थ मात्र प्रतिभासित होता है तब वह निर्वितर्क अर्थात् वितर्क शून्य समाप्प्ति होती है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र के प्रथम (समाधि) पाद मे दो प्रकार की समापत्ति (समाधि) बतलाई है-सवितर्क समापत्ति और निर्वितर्क समापत्ति। इन्हीं को क्रमशः सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के नाम से कहा गया है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो सवितर्क समापत्ति (सविकल्प समाधि) को ध्यान की ही अवस्था विशेष माना जा सकता है और निर्वितर्क समापत्ति (निर्विकल्प समाधि) को समाधि की ही अवस्था विशेष कहा जा सकता है। सवितर्क समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से मिली हुई प्रतीति की चित्त में स्फुरणा

रहती है। इसके बाद जब साधक के चित्त मे ध्येय वस्तु के नाम की स्मृति लुप्त हो जाती है और उसको विषय करने वाली चित्तवृत्ति का भी स्मरण नही रहता, तब अपने चित्तस्वरूप का भी भान न रहने के कारण उसके स्वरूप के अभाव की सी स्थिति हो जाती है। उस समय सब प्रकार के विकल्पो का अभाव हो जाने के कारण केवल ध्येय पदार्थ के साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येय को प्रकाशित करता है, उस अवस्था का नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमे शब्द और प्रतीति का कोई विकल्प नही रहता, अत. इसे निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं।

विचारानुगत— चित्त का आलम्बन जब सूक्ष्म होता है अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्माकाराकारित होता है तब वह विचारानुगत होता है। सामान्यत: सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ मे पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओ, मन, बुद्धि, अहकार, प्रकृति और दस इन्द्रियो को तत्व रूप मे माना गया है। इन तत्वो मे होने वाली समाधि का नाम विचारानुगम है। उसके इन सूक्ष्म विषयो की सीमा इन्द्रिय से लेकर अलिङ्ग (प्रकृति) पर्यन्त है। जैसा कि प्रतिपादित है—"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।" इस समाधि के दो अवान्तर भेद किए गए है—सविचार और निर्विचार।

आनन्दानुगत—अन्त करण की निर्मलता के परिणाम स्वरूप जो हर्ष, आमोद, आह्लाद आदि भाव उत्पन्न होते है उनमे धारण की जाने वाली समाधि अनन्दानुगत समाधि कहलाती है। इन्द्रिय आदि प्राकृतकरण का जब सात्विक सूक्ष्म वस्तुओ-भावो से सम्पर्क होता है अथवा इन्द्रियो का जब सात्विक विषयो से आलम्बन होता है तब सत्व का प्रकर्ष हो जाता है। सत्व के प्रकर्ष से सुख आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्दानुभूति के साथ जब साधक समाधिलीन होता है तब वह आनन्दानुगत समाधि होती है। इस सम्बन्ध मे यहा यह ज्ञातव्य है कि वितर्क और 'विचार' दोनो का क्षेत्र मात्र जड पदार्थों तक व्याप्त है। जबकि आनन्दानुगत समाधि का क्षेत्र जड और चेतन (आत्मा) दोनो को व्याप्त करता है।

अस्मितानुगत-- चित् प्रतिबिम्बित बुद्धि 'अस्मिता' है अर्थात् पुरुष (चेतन) और बुद्धि की एक रूपात्मकता की प्रतीति होना 'अस्मिता' हैं। इसमे ऐक्य भाव होना आवश्यक है, जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता।" अर्थात् नेत्र और दर्शन शक्ति दोनो का एकात्म भाव होना अस्मिता है। इस स्थिति में चित्त और चित्त मे 'एकात्मिका सवित' रहती है। इस प्रकार अस्मिता इन्द्रियों से भी सूक्ष्म रहती है। इसका आलम्बन करके जो समाधि की जाती है वह अस्मितानुगत समाधि होती है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि बुद्धिवृत्ति और पुरुष की चेतना शक्ति के रूप मे जिस एकात्मप्रतीत भाव से समाधि की जाती है उसी का नाम अस्मितानुगत समाधि है। इस समाधि के आश्रय से पुरुष और प्रकृति के स्वरूपो का अलग अलग ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। समाधि प्रसूत विशिष्ट ज्ञान के

परिणाम स्वरूप जब प्रकृति और पुरुष का भेद समाप्त हो जाता है, दोनों के पार्थक्य की स्पष्ट प्रतीति होती है तब ही से पदार्थों के ज्ञातृत्व का बोध होता है। उसके बाद साधक कैवल्य को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है और अन्ततः वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

यह योग की उच्चतम स्थिति है जो समाधि के पश्चात् होती है। योगी को मुक्ति के लिए सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति से असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति मे पहुचना आवश्यक है, अन्यथा वह मुक्ति द्वार तक पहुंच कर भी वहाँ से वापिस लौट सकता है। सम्प्रज्ञात समाधि में विषयो का सम्यक् रूप से ब्योरेवार ज्ञान होता है, असम्प्रज्ञात में यह सब कुछ नही होता। सम्प्रज्ञात समाधि मे यथार्थ वोध अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थों की वास्तविकता का ज्ञान होता है। जब सासारिक विषयो एवं पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब (तत्पश्चात्) सभी विषयो से चित्त का सम्बन्ध छूट जाता है, यही योग की परम अन्तिम चरम अवस्था है जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति मे प्रज्ञा का उदय होता है, परिणामः इसमे किसी न किसी स्थूल या सूक्ष्म विषय का आलम्बन रहता है तथा ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनो की भावना बनी रहती है, किन्तु अम्प्रज्ञात समाधि में कोई आलम्बन नहीं रहता। जब ये तीनो (ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय) भावनाएँ एकीभूत हो जाती हैं, समस्त वृत्तियां परम वैराग्य से निरुद्ध हो जाती है, एक प्रकार से आलम्बन का अभाव हो जाता है, संस्कार मात्र शेष रहता है उस स्थिति विशेष को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि मे संस्कारों का वह बीज विद्यमान रहता है जो पुनः ससार की ओर ला सकता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि मे वह बीज दग्ध हो जाता है। परिणामतः 'क्लेश' का सम्पूर्णत अभाव हो जाता है और कर्माशय समाप्त हो जाते हैं। पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बीज कर्म का प्रसुप्त आशय है। यह जिसका आधार है वह सबीज है और जो इससे विरहित है वह निर्बीज है। इसीलिए असम्प्रज्ञात को निर्बीज समाधि कहा जाता है। सम्प्रज्ञात समधि अस्मिता तक आकर रुक जाती है और जहां तक अस्मिता है वहाँ तक अविद्या है। असम्प्रज्ञात समाधि का पर्यवसान निरोध पर आकर होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरुप निम्न प्रकार बतलाया है—

"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।" —योग दर्शन १/१८

दूसरे प्रकार की समाधि (असम्प्रज्ञात) में समस्त मानसिक क्रियाओं के विराम का सतत अभ्यास किया जाता है, इसमें मात्र संस्कार ही शेष रहता है।

यही वह पूर्ण ज्ञानातीत असम्प्रज्ञात समाधि है जो साधक (योगी) को मुक्त कर

देती है। पहले जिस सम्प्रज्ञात समाधि की बात कही गई है वह मनुष्य को मुक्त कराने में समर्थ नहीं है, आत्मा की मुक्ति उससे सम्भव नहीं है। योगाङ्गों की साधना के द्वारा भले ही मनुष्य समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर ले, फिर भी उसका स्खलन-पतन सम्भव है, किन्तु ज्ञानातीत असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति योगी को मुक्तिद्वार में प्रविष्ट करा देती है जहाँ से वापिस आना सम्भव नही है। जब तक आत्मा प्रकृति के अतीत होकर सम्प्रज्ञात समाधि के भी बाहर नही चली जाती है तब तक साधक के पतन का भय बना रहता है, जबकि असम्प्रज्ञात समाधि मे ऐसा नहीं है।

यद्यपि इसकी साधन प्रणाली अत्यन्त सरल प्रतीत होती है, किन्तु इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। यह साधन प्रणाली ऐसी है कि इसमे स्वय मन पर नियन्त्रण एवं ध्यान करना पडता है। जब भी कभी मन में कोई विचार उठता है तो तत्क्षण उसे दबा देना पडता है। साधक वास्तव मे जब ऐसा करने मे समर्थ हो जाता है तब बस उसी क्षण वह मुक्त हो जायगा। जो लोग पूर्व तैयारी किए बिना ही मन को शून्य करने का प्रयत्न करते हैं उनका मन अज्ञानात्मक तमोगुण से आवृत हो जाता है जिससे वह आलसी एव अकर्मण्य हो जाता है। जब इस असम्प्रज्ञात या ज्ञानातीत अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह समाधि निर्बीज हो जाती है। समाधि के निर्बीज होने का तात्पर्य है समस्त संस्कारो का शेष हो जाना। सम्प्रज्ञात समाधि मे चित्तवृत्तियो का केवल दमन भर होता है, पर तब भी वे सस्कार या बीजाकार मे विद्यमान रहती हैं। अवसर पाते ही वे पुन: तरगाकार में प्रकट हो जाती हैं, किन्तु जब सस्कारो को भी निर्मूल कर दिया जाता है, जब मन को भी लगभग नष्ट प्रायः कर दिया जाता है तब समाधि निर्बीज हो जाती है। तब मन मे ऐसा कोई सस्कार बीज नही रह जाता जिससे यह जीवन पुनः पुष्पित पल्लवित हो सके तथा जीवन का संसरण-अविराम ससार भ्रमण या ससार मे जीवन-मृत्यु का अविराम चक्र और भी घूम सके। योग की अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि में योगी इस विषयापन्न भौतिक संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर मुक्तावस्था के अखण्डानन्द की अनुभूति करता है यही जीवन का चरम पुरुषार्थ है। इस चरम पुरुषार्थ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर पुरुष सांसरिक दु:ख दैन्य एवं भौतिक सुख वैभव से छुटकारा पा लेता है।

समाधि एक प्रकार की मथानी है जो साधक को ज्ञानातीत अवस्था तक पहुंचाती है। दूध में मक्खन की भांति सासारिक बाह्य प्रपञ्च और प्रत्यक् चैतन्य का सम्बन्ध है। जिस प्रकार दूध के अणु अणु में मक्खन व्याप्त है, किन्तु जब तक उसे मथा नही जाता है तब तक उसमें व्याप्त मक्खन को प्राप्त नही किया जा सकता। उसी प्रकार जीवन में जब तक समाधि का आश्रय नही लिया जाता तब तक जीवन की वास्तविकता सांसारिक बाह्य प्रपञ्च और प्रत्यक् चैतन्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए इन्द्रियों को निग्रहीत करना और मन के समस्त संकल्पों को शून्य

कर लेना परम आवश्यक है। समाधिस्थ अवस्था में समस्त इन्द्रिय व्यापार निश्चेष्ट एवं निरपेक्ष्य हो जाता है और इसीलिए समस्त बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है। यह एक वास्तविकता है कि निबद्ध मन से ही परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। जब समस्त इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और समस्त बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है तब ही कैवल्य की प्राप्ति होती है यही असम्प्रज्ञात समाधि की चरम परिणति है।

त्रिपुटी और संयम

धारणा, ध्यान और समाधि—योग में इन तीनो अंगों का परस्पर मे कुछ इस प्रकार का सम्बन्ध रहता है कि ये परस्पर पृथक् नही रहते। इन तीनों मे परस्पर अंगी और अ ग का सम्बन्ध रहता है अर्थात् इन तीनो में समाधि अ गी है और धारणा व ध्यान उसके अ ग हैं। जब किसी विषय मे चित्त को ठहराया जाता है तब चित्त की वह विषयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है। तीन आकारों के समाहार अर्थात इकठ्ठे होने का नाम त्रिपुटी है। वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येय रूप है। ध्यातृ—ध्यान करने वाला आत्मा से प्रकाशित चित्त है। चित्त की वह वृत्ति जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है ध्यान है और ध्यान का विषय ध्येय है। इस त्रिपुटी के आधार पर धारणा, ध्यान और समाधि के अन्तर को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

धारणा—जब तक त्रिपुटी से भान होने वाली इस विषयाकार वृत्ति का समान प्रवाह से बहना आरम्भ न हो, किन्तु व्यवधान सहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्ति के बीच बीच अन्य वृत्तियां भी आई रहे तब तक वह धारणा कहलाता है।

ध्यान—त्रिपुटी के भान होने वाली यह विषयाकारवृत्ति जब व्यवधान रहित हो जाय, अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तिया बीच बीच मे न आवे, किन्तु सदृश वृत्तियों का प्रवाह बना रहे तब तक वह ध्यान-कहलाता है।

समाधि—जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधान रहित त्रिपुटी से भासने वाली विषयाकार वृत्ति मे त्रिपुटी का भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूप से शून्य जैसे प्रतिभासित होने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूं, यह ध्यान की अवस्था है, किन्तु केवल ध्येय विषय के स्वरूप का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनो का एक विषय में होना 'संयम' कहलाता है। विभूति आदि में इन तीनों की ही आवश्यकता होती है। इसलिए योग शास्त्र की परिभाषा मे इन तीनों के समुदाय को संयम कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषय में करनी हो तब उसकी संयम संज्ञा होती है अर्थात् उसे संयम शब्द से कहते हैं। उस संयम की पूर्णतः सिद्धि होने पर ही योग की सिद्धि होती है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

"तज्जयात्प्रज्ञालोकः" —योगदर्शन ३/५

—उस संयम को जीत लेने (उसके सिद्ध होने) से प्रज्ञा का प्रकाश होता है। साधना करते करते जब योगी संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् चित्त मे ऐसी योग्यता कर प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय मे वह सयम करना चाहे, उसी में तत्काल सयम हो जाता है, उस समय योगी को बुद्धि का प्रकाश प्राप्त होता है अर्थात् उसकी बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। इसी को अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से कहा गया है—

"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:." — योगदर्शन १/४७

—निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर (योगी को) अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है।

निर्विचार समाधि के अभ्यास से जब योगी के चित्त की स्थिति सर्वथा परिपक्व हो जाती है, उसकी समाधि स्थिति मे किसी प्रकार का किंचिन्मात्र भी दोष नही रहता उस समय योगी की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है। जैसा कि कहा गया है—

"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।" — योग दर्शन १/४८

—उस अवस्था मे योगी की बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाली होती है। उसमे सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीनो दोषों का सर्वथा अभाव रहता है।

योग शास्त्र मे ऋतम्भरा प्रज्ञा की विशेषता और महत्त्व का प्रतिपादन निम्न प्रकार मे किया गया है—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।"

—योग दर्शन १/४८

—सुने हुए और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है। क्योकि यह विशेष अथ वाली है।

साधारणत. वेद, शास्त्र और आप्त पुरुष के वचनो से वस्तु या विषय का सामान्य ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नही होता। इसी प्रकार अनुमान मे भी साधारण ज्ञान ही होता है। बहुत से सूक्ष्म विषयो या पदार्थों मे तो अनुमान की पहुच ही नहीं है। अत: वेद-शास्त्रो मे वर्णित किसी वस्तु के स्वरूप का वर्णन सुनने से जो तद्विषयक निश्चय होता है वह श्रुत बुद्धि है। इसी प्रकार अनुमान (युक्त्यपेक्ष तर्क) प्रमाण से जो वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है वह अनुमान बुद्धि है। ये दोनों प्रकार की बुद्धि-वृत्तियां वस्तु के स्वरुप को सामान्य रुप से ही विषय करती हैं, उसके अंग-प्रत्यगो सहित उसका पूर्ण ज्ञान इनसे नहीं होता। किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अत. यह दोनों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

मोक्ष या अपुनर्भव

योग शास्त्र या योग दर्शन में मोक्ष ही मानव जीवन का साध्य या चरम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त अष्टांग योग का साधन अपेक्षित बतलाया गया है, इसे योगशास्त्र मे कैवल्य कहा गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र के सभी आचार्यों ने केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ही अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। मार्ग अथवा दृष्टिकोण की भिन्नता होते हुए भी सभी दर्शन शास्त्रो का लक्ष्य रूप से मुख्य प्रतिपाद्य केवल मोक्ष या कैवल्य ही रहा है। विचार धारा एवं सिद्धान्तो मे भेद होते हुए भी दर्शन शास्त्र के प्रवर्तको, विद्वानो, मनीषियो एव विचारकों ने एक स्वर से पुरुष के लिए केवल अपुनर्भव को ही समान रूप से मान्य किया है। सभी विद्वानो की यह मान्यता है कि केवल पुरुष के मोक्ष के लिए ही सभी दर्शन शास्त्रो या दार्शनिक विचार धाराओ का प्रवर्तन हुआ है जो आपाततः अध्यात्म विद्या से अनुप्राणित है।

जब आत्मा कर्मों के बंधन से छुटकारा पा जाता है तब अपने किसी भी पूर्वोपार्जित कर्म का उपभोग करने के लिए उसे पुनः शरीर को धारण नहीं करना पड़ता। जब वह जन्म धारण नही करता है तो उसका मरण भी नहीं होता है। जन्म और मरण से रहित होने के कारण संसार के आवागमन रूपी बधन से छुटकारा मिल जाने के कारण वह मुक्त हो जाता है। ससार मे आत्मा द्वारा किसी भी योनि मे जन्म धारण नहीं करना ही 'अपुनर्भव' कहलाता है। यही आत्मा या पुरुष का चरम लक्ष्य और दर्शन शास्त्र तथा धर्म शास्त्र का मुख्य साध्य एव प्रतिपाद्य है।

आयुर्वेद में अपुनर्भव का स्वरूप

आयुर्वेद मे अपुनर्भव या मोक्ष का प्रतिपादन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार दर्शन शास्त्रो और धर्म शास्त्रो मे किया गया है। जब तक आत्मा कर्म बधन से युक्त रहता है तब तक वह सासारिक मोह, इन्द्रियजन्य विषयो एव माया जाल मे फसा रहता है। अपने द्वारा पूर्व जन्म मे उपार्जित शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुन पुन. जन्म धारण करना पडता है— यही पुनर्भव कहलाता है। किन्तु जब आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है तो उसे पुन· जन्म धारण नही करना पड़ता है। पुन. जन्म धारण नही करना ही 'अपुनर्भव' कहलाता है। यही आत्मा की मुक्तावस्था होती है और इसे ही मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति, कैवल्य या निवृत्ति कहते हैं। महर्षि चरक ने अपुनर्भव का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोग· सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१४२

—मन से जब रज और और तम का अभाव हो जाता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब समस्त प्रकार के कर्म सयोग का वियोग अर्थात् कर्मों के बन्धनो से वियोग हो जाता है उसे मोक्ष या अपुनर्भव कहते है।

इस प्रकार की मुक्ति के लिए ही आत्मा सतत प्रयत्नशील रहता है। यह मुक्ति पद अक्षय, निर्मल, अविनाशी, परम आनन्द दायक एवं दिव्यालोक कारक होता है। कर्म बधनो से आत्मा के मुक्त हो जाने के कारण ही इसे **'मोक्ष'** या **'अपवर्ग'** कहते है। आत्मा की कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण इसे "निवृत्ति" भी कहते है। जहा दर्शन शास्त्रो मे मोक्ष के विषय मे पर्याप्त विवेचन मिलता है वहाँ आयुर्वेद शास्त्र मे भी मोक्ष विषयक विवेचन यथेष्ट रूप से प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ मे महर्षि चरक का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

"निवृतिरपवर्ग तत्पर प्रशान्तं तदक्षर तद् ब्रह्म, स मोक्ष ।"

—चरक सहिता, शारीरस्थान ४/११

—निवृत्ति को अपवर्ग कहते है वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त शान्त, अविनाशी एव ब्रह्म स्वरूप होता है, वही मोक्ष कहलाता है।

बलवत् कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है यह सर्वतन्त्र मान्य सिद्धान्त है। मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करने वाले, आत्मा-पुनर्जन्म आदि विषयो मे विश्वास एव आस्तिक्य बुद्धि रखने वाले सभी दर्शनो ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आत्मा ससृष्ट समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। किन्तु "**नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि**" के अनुसार तथा "**प्रारब्धकर्मणो भोगादव क्षय.**" —पूर्वोपाजित कर्मों का फल भोग लेने पर जब प्रारब्ध बलबान कर्म का क्षय होता है तब मुक्ति होती है। कर्मों का क्षय होने पर सर्व प्रथम आत्मा ज्ञानालोक से उद्भासित एवं देदीप्यमान होता है। आत्मा को होने वाला इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान सासारिक-लौकिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न अलौकिक आत्मिक ज्ञान होता है जो **'केवल ज्ञान'** कहलाता है। यह केवल ज्ञान अपने आप मे इतना परिपूर्ण, निर्मल एव अखण्ड होता है कि इस ज्ञान का धारक आत्मा तीनो लोक तथा तीनो काल की समस्त बातो एव विषयो को अविच्छिन्न एव अबाधित रूप से जानने व देखने लगता है। इस प्रकार का **'केवल ज्ञान'** समुत्पन्न होने के बाद ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। जैसा कि शास्त्रो मे प्रतिपादित है—"**ऋते ज्ञानान्न मुक्ति**"— अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नही होती है। केवल ज्ञान के कारण ही मोक्ष को **'कैवल्य'** की सज्ञा दी गई है।

बलवान् कर्मों का क्षय होने पर बन्धन कारक कर्म के अभाव मे सयोग का वियोग (अभाव) स्वत सिद्ध है। अत: मुक्त पुरुष (आत्मा) का पुनर्जन्म नही होता, इसलिए यह मोक्ष या अपुनर्भव कहलाता है। मोक्ष या मुक्तावस्था मे आत्मा अनन्तकाल तक निवास करता है।

योग में मोक्ष या कैवल्य

योग शास्त्र मे मोक्ष की सत्ता और महत्ता जिस रूप से स्वीकार की गई है

उस रुप मे सम्भवत: अन्यत्र नही है । एक सच्चा योगी प्रारम्भ से ही मोक्ष प्राप्ति को अपना मुख्य लक्ष्य मान कर चलता है । यही कारण है कि योग शास्त्र में प्रतिपादित समस्त क्रियाए केवल मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि के साधन हैं । योग दर्शन मे मोक्ष को "कैवल्य" की संज्ञा दी गई है जो आत्मा के परम स्वातन्त्र्य की द्योतक है । यह अवस्था केवल निषेधात्मक नही है, अपितु वह चैतन्य पुरुष के जीवन का नित्य अथवा शाश्वत यथार्थ स्वरूप है जो उसे जड प्रकृति के बधनो से मुक्त होकर प्राप्त होता है । यही कारण है कि योग दर्शन ने सांख्य द्वारा प्रतिपादित भेद विज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया है । एक ओर जहां वह प्रकृति-पुरुष के भेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सत्ता को स्वीकार करता है, वहा दूसरी ओर उसका मुख्य बल मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधनो अर्थात् चित्त की वृत्तियो के निरोध या मानसिक क्रियाओ के दमन पर है । मानसिक क्रियाओ का दमन आत्मा की उत्कृष्ट स्थिति एव भेद ज्ञान का वह महत्वपूर्ण सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर योगी मोक्ष द्वार तक पहुचता है । मानसिक क्रियाओ के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान मानने का भ्रम नहीं करना चाहिये । यह तो संसार और सासारिक विषयो पर उसकी विजय का द्योतक है ।

योग दर्शन मे अविद्या या अज्ञान को मोक्ष का बाधक माना गया है । अन्य दार्शनिक विचार धारा की भाँति योग दर्शन की विचार धारा भी संसार की नश्वरता को स्वीकार करती है, जिसके अनुसार ससार मे समस्त इच्छाओ का कारण सासारिक व भौतिक वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नहीं होना है । हमारा यह भौतिक शरीर और यह सम्पूर्ण सासारिक प्रपञ्च इसी अज्ञान का परिणाम है । चित्त इसका समर्थक है और इसका विषय सासारिक सुखोपभोग है । जब तक इस ससार मे अविद्या का अस्तित्व विद्यमान है, मनुष्य अपने कर्म बधनो का क्षय करने मे समर्थ नही है । अविद्या का परिहार विवेक ज्ञान (विवेक ख्याति) के द्वारा ही सम्भव है । जब मनुष्य वस्तुओ के यथार्थ स्वरुप को जान लेता है अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसके मन-मस्तिष्क मे आने वाले सभी प्रकार के मिथ्या विचार लुप्त हो जाते हैं । परिणामतः आत्मा कल्मष और विकार रहित होकर पवित्र हो जाता है तथा वह चित्त की अवस्था से अलिप्त रह कर कर्मशून्य हो जाता है । गुण भी अवकाश प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा अपने सारतत्व मे प्रतिष्ठित हो जाता है । वस्तुत. आत्मा के यथार्थ स्वरूप जो भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है और अनेक प्रकार के आवरणो से मलिन बना रहता है, को जान लेना ही मोक्ष की ओर अग्रसर होना है । मनुष्य केवल पुरुषार्थ और आत्म सयम के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है । योग दर्शन अन्यान्य दर्शन पद्धतियों से कुछ अलग हट कर इस तथ्य पर अधिक बल देता है कि केवल शुष्क दार्शनिक ज्ञान ही हमे त्राण नही पहुंचा सकता । इसके विपरीत अपनी आन्तरिक भावनाओं तथा वासनाओ पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी इच्छा शक्ति को वश मे करना अधिक सार्थक, उपयोगी एव कल्याणकारी है ।

योग और आयुर्वेद में नाड़ी विज्ञान

योग शास्त्र और आयुर्वेद दोनो मे नाडी विज्ञान का विशेष महत्व है। योग शास्त्र मे नाडियो का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्ति को केन्द्रित करने मे सहायता मिलती है, जिससे आत्मिक शक्ति का विकास होता है। आयुर्वेद शास्त्र मे नाडी का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उससे रोग विज्ञान या रोग विनिश्चय करने मे सहायता मिलती है। जिससे रोगी की चिकित्सा करने तथा रोगापहरण करने मे सुविधा रहती है। यद्यपि योगाशास्त्र मे वर्णित नाडियो एवं आयुर्वेदोक्त नाड़ियो मे कोई विशेष सामञ्जस्य स्थापित नही किया जा सका है, तथापि योगशास्त्र मे वर्णित अनेक नाडियो का आयुर्वेद मे शरीर रचना की दृष्टि से विशेष महत्व है। आयुर्वेद शास्त्र मे जो नाडी विज्ञान प्रतिपादित है उसके द्वारा शरीर मे स्थित वात-पित्त-कफ दोषो की स्थिति का ज्ञान होता है, उनकी प्राकृत या वैकृत अवस्था का ज्ञान होता है जिससे शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता ज्ञात करने मे सुविधा रहती है। कतिपय अनुभवी आयुर्वेदज्ञ केवल नाडी ज्ञान के द्वारा ही निदान या रोग विनिश्चय करने मे समर्थ होते हैं।

वात नाड़ी संस्थान का संक्षिप्त परिचय

मानव शरीर मे वात नाडी सस्थान की कितनी उपयोगिता और महत्ता है—यह तथ्य शारीर शास्त्र का सामान्य ज्ञान रखने वाले भी भली-भाँति जानते है। यह सस्थान मानव शरीर का सचालक तो है ही उसका नियामक भी है। शरीर की समस्त क्रियाओ की सूचना और आदेश यही से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह सस्थान शरीर के अन्य सस्थानो की अपेक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक शारीर शास्त्र की दृष्टि मे जब इस विषय मे विचार किया जाता है तो नाडी सस्थान के मुख्यतः दो प्रकार के कर्म प्रतीत होते हैं—१. शरीर मे होने वाली समस्त क्रियाओं का सचालन और २. बाह्य परिस्थिति के अनुरूप उन क्रियाओ मे विविध परिवर्तन करना। इस उद्देश्य से नाडी सस्थान की रचना दो प्रकार से होती है। प्रथम प्रकार की नाडियाँ बाह्य सृष्टि सम्बन्धि ज्ञान को तथा शरीरावयवो मे होने वाली अनुकूल प्रतीतिजन्य वेदना (सुखानुभूति) एवं प्रतिकूल प्रतीतिजन्य वेदना (दु.खानुभूति) को अपने केन्द्रो तक पहुचाती हैं। इस प्रकार शुभ-अशुभ वेदनाओ (अनुभूतियो) को अपने केन्द्रो तक पहुचाने के कारण वे नाडियाँ सज्ञावह कहलाती हैं। आधुनिक विज्ञान मे उन्हे

एफेरेण्ट नर्व्स (Afferent Nerves) कहा गया है। अथवा उन्हें प्राय: सेन्सरी नर्व्स (Sensory Nerves) भी कहा जाता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ केन्द्र की ओर से प्राप्त यथायोग्य चेष्टाओ सम्बन्धी आदेशों को शरीर के अन्यान्य अवयवो तक पहुंचाती है, जिसके अनुसार वे अवयव तदनुरूप विभिन्न प्रकार की चेष्टाए करते हैं। दूसरे प्रकार की ये नाड़िया मनोवह कहलाती हैं जिन्हे आधुनिक विज्ञान मे इफेरेण्ट नर्व्स (Efferent Nerves) की संज्ञा दी गई है। इन्हें प्राय. मोटार नर्व्स (Motor Nerves) भी कहा जाता है।

यहा यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद के कतिपय विद्वानों ने उपर्युक्त द्वितीय प्रकार की नाडियो के लिए चेष्टावह शब्द का व्यवहार किया है। अर्थात् मनोवह नाड़ियो (इफेरेण्ट नर्व्स) को चेष्टावह की सज्ञा से व्यवहृत किया है तथा पृथक् रूप से मनोवह नाम की तृतीय प्रकार की नाड़ियो का अस्तित्व स्वीकार किया है जिनका प्रत्यक्ष केवल योगियो को ही सम्भव है। आयुर्वेद मे कही-कही नाडियों के लिए स्रोतस् शब्द का भी व्यवहार हुआ है जो प्रसंगानुसार ग्राह्य है। इस दृष्टि से सज्ञावह स्रोतस् और मनोवह स्रोतस् का व्यवहार आचार्यों द्वारा प्रचुर रूप से किया गया है। यद्यपि सज्ञावह और चेष्टावह दोनो ही प्रकार की नाडियो मे अनिवार्यत: मन का वहन होता है, तथापि आत्मा मे स्थित इच्छा या उसके द्वारा अभिलषित विषय को शरीर के अन्यान्य अवयवो तक पहुचाने के कार्य मे मन की उपस्थिति अनिवार्य है, जिसका अभिवहन चेष्टाओं के सम्पादन मे ही विशेषत. लक्षित होता है। अर्थात् जब चेष्टाओं का सम्पादन होता है तो उसमे मन का अभिवहन एव उपस्थिति विशेष महत्वपूर्ण है। सम्भवत: यही कारण है कि चेष्टावह नाडियो को मनोवह नाडियो की सज्ञा दी गई है। आत्मा जनित इच्छाओ की परिणति चेष्टा और क्रियाओ मे होती है—यह तथ्य दर्शन शास्त्र मे प्रतिपादित निम्न कथन से सुस्पष्ट है—

> आत्मजन्या भवेदिच्छा त्विच्छाजन्या भवेत् कृति: ।
> कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत् क्रिया ॥

अर्थात् इच्छा आत्मा से जनित होती है, इच्छा जनित कृति होती है, कृतिजन्य चेष्टा होती है और चेष्टाजन्य क्रिया होती है।

शरीर की सभी प्रकार की चेष्टाओं या क्रियाओं मे इन्द्रियो और मन की सन्निधि अथवा सहकार विशेषत: आवश्यक है। मन के प्रकरण मे इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। यहां केवल इतना कथन ही पर्याप्त होगा कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो ही प्रकार की इन्द्रियो के कर्म वायु द्वारा प्रेरित मन से सम्पन्न होते है। यदि मन का सन्निकर्ष या उपस्थिति न हो तो इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म सम्पन्न होना सम्भव नही है। दोनो प्रकार की इन्द्रियों के कर्मों को आधुनिक शरीर क्रिया के विद्वानो ने नाडी सस्थान के दो कर्म अर्थात् ज्ञान और कर्म के वेगो का वहन

बतलाया है। यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त संज्ञावह और मनोवह नाड़ियों में संज्ञाओं या चेष्टाओं का सन्देश अभिवहन करते हुए जो परिवर्तन होते हैं उन्हें वेग कहा जाता है। वेग की गति सामान्यतः प्रति सेकेण्ड १२० मीटर (१ मीटर = लगभग ४० इंच) होती है।

आयुर्वेद में स्पष्टतः इन्द्रियों को दो भागों मे विभक्त किया गया है— ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। दोनो इन्द्रियो के सभी प्रकार के कर्म वात द्वारा प्रेरित मन के द्वारा सम्पादित होते हैं। अर्थात् वायु द्वारा प्रेरित मन की सहायता से ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा ज्ञान प्राप्ति और कर्मेन्द्रियो के द्वारा विविध कर्मो मे प्रवृत्ति होती है। आधुनिक क्रिया शारीरविद् नाडी संस्थान के दो कर्म— अर्थात् ज्ञान और कर्म के वेगो का वहन बतलाते हैं। इस प्रकार दोनो ही मतो मे पर्याप्त समानता लक्षित होती है। अन्तर केवल इतना है कि एक ही बात को उभय मतानुसार प्रकारान्तर से कह दिया गया है।

नाडी संस्थान के सामान्यतः दो विभाग बतलाए गए है — १. मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान (सेरिब्रो स्पाइनल नर्वस् सिस्टम-Cerbrospinal nervous System) तथा २—स्वतन्त्र या जीवन नाडी सस्थान (आटोनोमिक नर्वस सिस्टम-Autonomic nervous system)। ये दोनो नाडी सस्थान पारस्परिक सहयोग से शरीर में कार्य करते हुए अन्यान्य क्रियाओ को सम्पन्न करते हैं। दोनो नाड़ी सस्थानो के संज्ञावह और मनोवह नाडीसूत्र पृथक् होते हैं। नाडी संस्थान के उपर्युक्त दोनो प्रकार एक विशेष प्रकार के धातु-तन्तु (टिश्यू-Tissue) से निर्मित होते हैं। उसे नाडी तन्तु (नर्व टिश्यू-Nerve Tissue) कहा जाता है। इसकी रचना नाडी कोषो (नर्व सेल्स-Nerve Cells) और सूत्रो तथा उससे निकलने वाले नाडी सूत्रो (नर्व फाइबर्स Nerve fibers) से होती है। अनेक नाडीसूत्रो के मेल से नाडियो का निर्माण होता है। दोनों को अपने आश्रय मे रखने वाली तथा विविध कोषो और सूत्रो को मिलाने वाली एक वस्तु होती है, जिसे 'नाडी, भूमि' (न्यूरोग्लिया-Neuroglia) कहते हैं।

ऊपर नाड़ी सस्थान के जो दो विभाग बतलाए गए हैं उनमे प्रथम को केन्द्रीय नाडी संस्थान (Central Nervous System) और द्वितीय को परिसरीय या प्रान्तीय नाडी सस्थान (Peripheral Nervous Systam) भी कहा जाता है। प्रथम विभाग मे मस्तिष्क तथा सुषुम्ना काण्ड और द्वितीय विभाग मे प्रथम विभाग से निकलने वाली नाडियाँ समाविष्ट हैं। नाडियो के द्वारा त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियो तथा आभ्यन्तरिक अंगो की अवस्था अर्थात् शीत-उष्ण, प्रकाश, भार, गन्ध, वेदना, समतुला आदि के सूचक सन्देश केन्द्रीय नाडी सस्थान के प्रति जाते हैं और वहा से परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्रिया करने के आदेश मांसपेशियों, आभ्यन्तरिक अवयवो एव अंगो के माससूत्रो तथा विभिन्न ग्रन्थियो मे जाते हैं। यथायोग्य आदेशो के द्वारा पेशियों, मास सूत्रों तथा ग्रन्थियो की क्रिया प्रारम्भ या समाप्त, उद्दीपित या अवसन्न की जाती है, साथ ही इन क्रियाओ मे परस्पर सहकार रखा जाता है। केन्द्रीय नाडी सस्थान के इस प्रकार स्पष्ट ही दो भेद हैं—प्रथम वह जो सन्देशो या संज्ञाओ को ग्रहण करता है तथा द्वितीय

वह जो इन संज्ञाओं के अनुसार योग्य प्रतिक्रिया करने का आदेश भेजता है। नाड़ियो मे भी दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। कुछ का कार्य केवल संज्ञाओं का वहन करना है—इन्हे संज्ञावह नाडीसूत्र (Sensory nerve fibers) कहा जाता है। अन्यों का कार्य चेष्टा के आदेशो का वहन करना है। इन्हें चेष्टावह नाडीसूत्र (Motor nerve fibers) कहा जाता है। इन सूत्रो के द्वारा संज्ञाओ के सन्देशों और चेष्टाओं के आदेशो का जो अभिवहन किया जाता है वही वेग (Impulse) कहा जाता है। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नाड़ी संस्थान के इन दोनों विभागों और उनके कार्यो का सामञ्जस्य आयुर्वेद और योग के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा उनके कर्मों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

योगशास्त्र मे नाड़ियो का महत्व प्राणायाम में सर्वाधिक है। यही कारण है कि विभिन्न उपनिषदो मे प्राणायाम के प्रसग मे नाडीचक्र का निरूपण करते हुए प्राणायाम से नाडी शुद्धि होने का प्रतिपादन किया गया है। जैसे त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/६७-७६, ध्यानबिन्दूपनिषद् ५०-५६, योगशिखोपनिषद् ५/१६-२०, वराहोपनिषद् ५/२२-३० योगचूडामण्युपनिषद् १४-२१ दर्शनोपनिषद् ४/५-२३, शाण्डिल्योपनिषद् १/४/६-१३ इत्यादि मे। योगशास्त्र के अनुसार नाडियो की निश्चित संख्या बतलाना सम्भव नही है, क्योंकि शरीर मे नाडिया असख्य हैं। इसी प्रसंग मे त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार यद्यपि नाडियो की गणना नही की जा सकती, तथापि उनकी सख्या ७२००० बतलाई गई है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

द्वासप्तति सहस्राणि स्थूला. सूक्ष्माश्च नाडयः।
सख्यातं नैव शक्यन्ते·····················॥

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/७५-७६

इसके अतिरिक्त ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१, योगशिखोपनिषद् १/१४, योगचूडामण्युपनिषद् १५, दर्शनोपनिषद् ४/६ आदि मे भी नाड़ियो की संख्या ७२००० बतलाई गई है। योगशिखोपनिषद् मे इनमे से १०१ को प्रमुख माना गया है। यथा—

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्य.......।
एकोत्तर नाडीशतम्......... .॥

— योग शिखोपनिषद् ६/४-५

"शतञ्चैका च नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिसृतैका।"

—छान्दोग्य० ८।६।६ और कठो० २।३।१६

—एक सौ एक नाडिया होती हैं, उनमे से एक मूर्धा (शिर) से निकलती है। (इसके अनुसार शीर्षण्य नाड़िया और मेरु नाड़ियो की कुल संख्या १०१ है। इसमे से एक सुषुम्ना नाडी मूर्धा का भेदन करके बाहर निकलती है)

"हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्तति द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्ति।" प्रश्न०३-६

—हृदय में यह आत्मा निवास करता है। हृदय मे जो एक सौ नाड़ियां हैं उनमें प्रत्येक की सौ-सौ शाखाएं निकलती है, पुनः उन शाखाओ मे प्रत्येक की ७२००० —७२००० प्रतिशाखा नाडियां निकलती हैं।

किन्तु अन्यत्र ७२ नाडियो को प्रमुख माना गया है। यथा—

तेषु नाड़ीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।

—ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१ एव योगचूडामण्युपनिषद् १५

योगशिखोपनिषद (६/१४-२७) मे सुषुम्ना (ब्रह्मनाडी), इडा पिङ्गला, विलम्बिनी, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, शूरा, विश्वोदरी, सरस्वती, राका, शङ्खिनी, कुहू, वारुणी एव चित्रा इन सोलह नाडियो का नामोल्लेख पूर्वक स्वरूप निरूपित करते हुए इनकी स्थिति बतलाई गई है। किन्तु दर्शनोपनिषद् (४/६-८) एवं शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार चौदह नाडिया मुख्य होती हैं। यथा—

'द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश।'—दर्शनोपनिषद् ४/६

'मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति।' — शाण्डिल्योपनिषद् १/४/९

मुख्य चौदह नाडिया है—सुषम्ना, इडा, पिङ्गला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुसा, विश्वोदरा, सरस्वती, शङ्खिनी, कुहू, वरुणा, यशस्विनी एव पयस्विनी। उपर्युक्त दोनो ही उपनिषदो मे तथा वराहोपनिषद् मे इन नाड़ियो स्थिति एव स्वरूप का वर्णन मिलता है।

ध्यानबिन्दूपनिषद् एव योगचूडामण्युपनिषद् मे दस नाड़ियो को प्रमुखता दी दी गई है। यथा—

प्रधाना: प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दशस्मृता।

ये दस नाड़िया हैं—सुषुम्ना, इडा, पिङ्गला, गान्धारी हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुसा शङ्खिनी, कुहू और यशस्विनी।

दर्शनोपनिषद् (४/३५-३९) मे उपर्युक्त चौदह नाडियो के देवताओ का उल्लेख मिलता है। इन नाडियो मे भी सुषुम्ना, पिगला और इडा इन तीन नाडियो को मुख्य मानते हुए सुषुम्ना को ब्रह्मानाडी की सज्ञा दी गई है और विस्तार से उसका वर्णन किया गया है। जैसाकि प्रतिपादित किया गया है—

आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा।
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता..........॥

—दर्शनोपनिषद् ४/९

इस सम्बन्ध मे त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् ६/५, ८/१३, १८ एव शाण्डिल्योपनिषद् १/४/१० भी द्रष्टव्य है।

वराहोपनिषद् के अनुसार इन नाडियो मे दस वायु सञ्चरण करते हैं। यथा—

एवमेतासु नाडीसु चरन्ति दश वायव:।

इसके अतिरिक्त विभिन्न उपनिषदो मे नाड़ीशुद्धि सूचक चिन्हो का विवरण मिलता है। यहां नाड़ीशुद्धि के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है कि इससे शरीर निरोग एव हल्का हो जाता है, जठराग्नि का सन्दीपन होता है तथा वार्द्धक्य के पलितादि दोष दूर हो जाते हैं। इसके लिए योगतत्वोपनिषद् ४४-४६, योगचूडामण्युपनिषद् दर्शनोपनिषद् ५/११-१२ एव शाण्डिल्योपनिषद् १/५/४, १/७/८-१० आदि दृष्टव्य हैं। साथ ही दर्शनोपनिषद्[५/१/११ में नाड़ीशुद्धि के प्रकार बतला कर उनका विशद वर्णन किया गया है। वहां नाडी शुद्धि को जीव-मुक्ति में उपकारक बतलाया गया है।

योग शास्त्र मे सामान्यत: चौदह नाडियो का उल्लेख मिलता है जो निम्न प्रकार है—

१ सुषुम्ना—सुषुम्ना पिण्ड मे होकर ब्रह्मरन्ध्र तक।
२. पिंगला—सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व मे स्थित और दक्षिण नासारन्ध्र तक।
३. इडा—सुषुम्ना के वाम पार्श्व मे स्थित और वाम नासारन्ध्र तक।
४. हस्तिजिह्वा—अधोगामिनी वाम अगुष्ठ पर्यन्त।
५. यशस्विनी—अधोगामिनी दक्षिण अंगुष्ठ पर्यन्त।
६, कुहू—योनिस्थ।
७. अलम्बुषा—गुदस्थ।
८ गान्धार—वाम नेत्रस्थ
९. पूषा—दक्षिण नेत्रस्थ
१०. शङ्खिनी—वाम कर्णस्थ
११. पयस्विनी—दक्षिण कर्णस्थ
१२. सरस्वती—जिह्वास्थ
१३. विश्वोदारा—मुखस्थ
१४. वरुण—सर्वदेहस्थ

इनके अतिरिक्त पाच सज्ञावह (Afferent or sensery) नाडियाँ और हैं जिनका कार्य क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण करना है। इसी प्रकार पाँच चेष्टावह (Efferent or Motor) नाडियाँ होती हैं जिनका कार्य वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ का प्रेरण करना है। इस प्रकार योगशास्त्र के अनुसार उपर्युक्त चौदह नाड़ियो के अतिरिक्त दस नाडियाँ और होती है, जिससे नाडियो की कुल सख्या चौबीस हो जाती है। योगशास्त्र मे कार्य एव स्थान की दृष्टि से ये नाडियाँ महत्वपूर्ण होती हैं। उनके द्वारा ही योग साधना का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर मे प्रवाहित किया जाता है।

ऊपर नाड़ियो की जो सख्या बतलाई गई है वह शरीर मे स्थित मुख्य नाडियों की सख्या है। शरीर मे प्राण का वहन करने वाले सौषुम्निक नाड़ीतन्त्र के अतिरिक्त

वायुमार्ग के द्वारा संज्ञा का वहन करने वाली और विभिन्न चेष्टाओं के लिए उत्तरदायी नाड़ियो की सख्या एक हजार बहत्तर है। जैसा कि योगशिखोपनिषत् के षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वायुमार्गेण सर्वगम्।
द्विसप्तति: सहस्राणि नाड्य: स्युर्वायुगोचरा ॥

—उर्ध्वमूल और अध. शाखा मे सर्वत्र वायुमार्ग के द्वारा गमनशील प्राण विचरण करता है। शरीर में वायु गोचर एक हजार बहत्तर नाडिया हैं।

सम्पूर्ण वातनाडी मण्डल मे मस्तिष्क सौषुम्निक नाडी तन्त्र (Cerebrospinal system) मुख्य है। यह तन्त्र मुख्यत शरीर मे सज्ञा के अभिवहन और चेष्टाओ के लिए उत्तरदायी है। मस्तिष्क व सुषुम्ना काण्ड के निम्नान्त तक अनेक चक्र, कदिकाए गोणचक्र बने हुए हैं। ये सब प्राण के छोटे बडे स्थान है। उन स्थानो से निकली हुई वातनाडियो मे होकर ही प्राण देहस्थ सभी अंग-उपाङ्गो मे गमनागमन करता रहता है। नाड़ीतन्त्र का द्वितीय विभाग पृष्ठवश के बाहर अवस्थित है। उसने पृष्ठवश (सुषुम्मा काण्ड) के अन्दर और बाहर विद्यमान नाडीचक्रो (Plexuses) मे नियत स्थान बनाए हैं। इसे स्वतन्त्र नाडीतन्त्र (Autonomic Nervous System) की सज्ञा दी गई है। यह तन्त्र मन और बुद्धि के अधीन न रहते हुए अपनी सरक्षण प्रवृत्ति का संचालन स्वयं करता है। यह पूर्णत स्वाधीन रहते हुए अन्नपाचन, रक्ताभिसरण, स्वेदवहन आदि अन्यान्य शरीर व्यापार का स्वत: ही सचालन करता है। यह स्वतन्त्र नाडीतन्त्र पूर्णत. उपर्युक्त मस्तिष्क-सौषुम्निक नाडीतन्त्र से भिन्न नही है। इसका कारण यह है कि इस नाड़ीतन्त्र के केन्द्र मस्तिष्क और सुषुम्ना काण्ड मे भी विद्यमान हैं। इस तन्त्र के दो मुख्य विभाग है—स्वतन्त्र (Sympathetic) और परिस्वतन्त्र (Parasympathetic) इन सभी मे प्राण विचरण करता है।

शरीर मे स्थित नाडीतन्त्र और नाडियो की सख्या के विषय मे अन्य शास्त्रो मे अनेक उद्धरण मिलते हैं, किन्तु उनमे एकरूपता अथवा मतैक्य का अभाव है।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्य पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ।

— छान्दोग्योपनिषद् ८-६-१

—हृदय से जो सूक्ष्म नाडियाँ निकलती है उनमे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, और लोहित वर्ण की नाडिया अणिम्न याने सूक्ष्मतम होती हैं। नाडियो का आदित्य पिंगल, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है, यह लोहित है।

इस विषय मे पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र द्वारा विहित विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। तदनुसार स्वतन्त्र नाडी मण्डल की जो नाड़िया (आटोनोमिक नर्व्स Autonomic Nerves) होती हैं वे पिंगल वर्ण की (Gray) होती हैं, मस्तिष्क और सुषुम्ना से

निकलने वाली नाड़ियाँ (Cerebro-Spinal nerves) वसामय पतले कंचुकयुक्त होने से उनका वर्ण शुभ्र होता है। विद्युत् शिखा (अग्नि शिखा) स्वभावत. उर्ध्वगति करती है, तब विद्युत् का वर्ण नील, पीत, रक्त आदि भासित होता है, इस हेतु से नाडियो के वर्ण प्रतीत हो सकते हैं। शरीर मे स्थित व्यान वायु वात-प्रणालियो के द्वारा रस वाहिनियो, रक्तवाहिनियो, पित्तवाहिनियो आदि मे भी प्रवेश करता है। वाहिनिया रक्त, नील, पीत, हरित और लोहित वर्ण की होती हैं।

नाड़ी सूत्र जो सूक्ष्म होते हैं उनकी मोटाई १४-१। मिली माईक्रोन (लगभग $\frac{1}{25000}$ इच) जानी गई है। इसीलिए श्रुति भगवति मे इसके लिए 'अणिम्न' विशेषण का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है सूक्ष्मतम।

इस प्रकार न केवल योग साधना मे अपितु अन्य तन्त्र मे भी नाडी का महत्व असदिग्ध है। योगशास्त्र के अनुसार योगिजनो एवं साधको ने अपने साधना काल मे स्वय इसका अनुभव किया, तत्पश्चात् ग्रथो मे उसका प्रतिपादन किया।

आयुर्वेद में नाड़ी वर्णन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आयुर्वेद मे रोग विज्ञान की दृष्टि से नाड़ी विज्ञान का विवेचन किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार नाडी सम्बन्धी ज्ञान मानव शरीर मे हाथ के अगुष्ठ मूल मे किया जाता है, जैसा कि आचार्य शार्ङ्गधर के निम्न वचन से स्पष्ट है—

करस्यांगुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टाया सुख दु ख ज्ञेय कायस्य पण्डितै.॥

—शार्ङ्गधर सहिता ३/१

अर्थात् हाथ के अगुष्ठ मूल याने कलाई मे जीव साक्षी रूप जो धमनी है उसकी चेष्टा (क्रिया) से ही शरीर के ज्ञाता वैद्यो के द्वारा सुख-दु.ख (आरोग्य या रोग) का ज्ञान किया जाता है।

सामान्यतः हाथ के अगूठे के मूल (मणिबन्ध-कलाई प्रदेश) मे स्फुरणशील जिस धमनी का अनुभव होता है उसे ही नाडी कहते हैं। वह जीव की साक्षी स्वरूप है अर्थात् उसके द्वारा ही यह ज्ञान होता है कि मनुष्य के शरीर में जीव या प्राण विद्यमान हैं या नही? क्योकि किसी कारणवश जब मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है तब जीवन का कोई बाह्य चिन्ह दिखलाई नही पडता और शरीर की बाहर की समस्त चेष्टाए बन्द हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे नाड़ी का स्पर्श करते ही पता चल जाता है कि शरीर मे अभी प्राण हैं। क्योंकि शरीर मे जब तक प्राण अवस्थित रहता है तब तक नाडी चलती रहती है। इसीलिए उसे 'जीव साक्षिणी' कहा गया है।

आयुर्वेद के चरक संहिता आदि आर्षग्रंथों मे उपर्युक्त नाडी सम्बन्धी वर्णन प्राप्त नहीं होता है, तथापि इसकी उपयोगिता ऐसी है कि सभी चिकित्सको को इसका

ज्ञान होना आवश्यक है, अत सभी इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। विज्ञ चिकित्सक इसके चमत्कारिक उपयोग से असीम लाभ उठाकर सुयश प्राप्त करते हैं। रोगी की शोचनीय अवस्था मे नाडी परीक्षा द्वारा ही वैद्य रोगी की अवस्था का समुचित ज्ञान प्राप्त कर पाता है। नाडी परीक्षा के द्वारा वैद्य को क्या-क्या ज्ञान प्राप्त होता है यह निम्न उद्धरण द्वारा स्पष्ट है :—

प्रदर्शयेद्दोषनिजस्वरूप व्यस्त समस्त युगलीकृत च।
मूकस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दीपप्रभावा इव जीवनाड़ी ।।

अर्थात् जिस प्रकार दीपक के प्रकाश मे समस्त वस्तुएं आलोकित होती हैं उसी प्रकार मूक, मुग्ध और मूर्छित मनुष्य की जीवनाडी दोषो से उत्पन्न व्यस्त (एक दोषज) समस्त (सन्निपातज) और द्वन्द्वज लक्षणो को बतलाती है।

इसी प्रकार नाडी के द्वारा जीवन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न दोष के अनुसार नाडी की गति मे भिन्नता रहती है। शास्त्रो मे नाडी की गति विविध प्राणियो की गति के समान बतलाई गई है। जैसे वक्रगति, चपल गति, सूक्ष्म गति आदि। इसके अतिरिक्त स्थिर, कठिन, शीत, ईषत् मन्द, सरल, दीर्घ, तिर्यक्, उष्ण, नमित, शीघ्र, मलोपेता, गुर्वी, मामा, गरीयसी, लघ्वी, गम्भीरा, क्षीण, शिथिल और व्याकुल आदि भाव भी नाडीगत परीक्ष्य भाव होते हैं। सामान्यत: पुरुष के दक्षिण हस्त मे और स्त्री के वाम हस्त मे नाडो परीक्षण का वैशिष्ट्य रहता है।

योग-शास्त्र मे नाडी सम्बन्धी जो उल्लेख मिलता है आयुर्वेदोक्त नाड़ी वर्णन के साथ उसका कोई सामञ्जस्य प्रतीत नही होता। क्योकि आयुर्वेद के अनुसार "करस्यांगुष्ठमूल" मे नाडी का बाह्य परीक्षण सम्भव नही है। तथापि यह विचारणीय एव अनुसधानीय विषय है कि योगशास्त्र मे जिन नाडियो का उल्लेख मिलता है आयुर्वेदीय शारीर शास्त्र मे उसका क्या महत्त्व एव उपयोगिता है?

सुषुम्ना–इड़ा–पिंगला

योगशास्त्र मे जो नाडिया वर्णित हैं उसमे सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमे भी सुषुम्ना प्रधान है। योगशास्त्र के अनुसार शरीर मे व्याप्त अनन्त नाडियो का उद्भव सुषुम्ना से ही माना गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है :—

"नाड्योऽनन्ता समुत्पन्ना सुषुम्ना पञ्चपर्वसु।"

—शारदा तिलक तन्त्र

अर्थात् सुषुम्ना के पाँच पर्वों से अनन्त नाडियाँ समुत्पन्न हुई हैं।

तन्त्र ग्रंथो मे सुषुम्ना की स्थिति बतलाते हुए उसे सभी नाडियो का आश्रय बतलाया गया है जिसमे सभी नाडिया समाश्रित हैं। निम्न उद्धरण द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

तत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारसुशोभनम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्नायाः मूल सविवरं स्थितम् ॥
तालुमूले सुषुम्ना सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योऽनन्ता सर्वनाडीसमाश्रिता ॥

अर्थात् उसके ऊपर तालुमूल मे सुन्दर सहस्रार है जिसमे विवरण सहित सुषुम्ना का मूल स्थित है । तालुमूल मे वह सुषुम्ना अधोमुख हुई विद्यमान है जो मूलाधार के द्वारा सर्व नाडियो की आश्रय है या जिसमे सभी नाडिया समाश्रित हैं ।

मानव शरीर मे सुषुम्ना की स्थिति के विषय मे तन्त्र ग्रन्थो में जो विवरण उपलब्ध होता है उसके अनुसार सुषुम्ना नाडी मेरुदण्ड के मध्य मे विद्यमान है । इसके दोनो ओर इडा और पिंगला नामक नाडिया विद्यमान है । सुषुम्ना के बाई ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला नामक नाडी स्थित रहती है । इन दोनो नाडियों को चन्द्र नाडी और सूर्य नाडी भी कहा जाता है । इन तीनो नाडियों की मानव शरीर मे स्थिति के विषय मे कतिपय निम्न उद्धरण महत्त्वपूर्ण हैं—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे मध्ये नाडी सुषुम्ना ।
सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् भित्वा देदीप्यते सा ॥

—षट्चक्रनिरुपण

अर्थात् मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश मे बाई तथा दाहिनी ओर इडा और पिंगला नामक नाडियाँ अवस्थित हैं तथा दोनो के मध्य मे सुषुम्ना नाडी स्थित है जो मेरु के मध्य भाग मे स्थित समस्त कमलो को भेदकर देदीप्यमान होती है ।

"सुषुम्ना चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता ।"

—शारदा तिलकतन्त्र

अर्थात् सुषुम्ना मेरु के मध्य मे चव्य नामक लता के (गुच्छो) के समान (आकार वाली) है ।

"सुषुम्ना ग्रीवां तां प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता ।"

—षट्चक्रनिरुपण टीका

अर्थात् सुषुम्ना उस ग्रीवा मे जाकर तिर्यग्भूत होकर स्थित है ।

इडा भगवती गगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥

अर्थात् इडा तो भगवती गगा है और पिंगला यमुना नदी है । इडा और पिंगला के मध्य मे जो सुषुम्ना है वह सरस्वती है ।

ऊपर जिन कमलो का निर्देश दिया गया है वे तन्त्र-ग्रथो मे प्रतिपादित छ चक्र हैं । इन छह चक्रों का नाम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र है । इनका वर्णन आगे किया जायगा । इन समस्त चक्रो का अधिष्ठाता रूप

सहस्रार चक्र है जो आयुर्वेद के अनुसार मस्तिष्क हो सकता है। इन षट्चक्रो मे से होकर सुषुम्ना नाडी की शाखाए गुजरती हैं। यही उनका पूर्व लिखित भेदन है। सुषुम्ना के नीचे सिरे से लगा हुआ सहस्रार चक्र है जहा कुण्डलिनी शक्ति वास करती है। सुषुम्ना के ऊपरी सिरे से लगा हुआ सहस्रार चक्र है जो ज्ञान का आयतन है। अत: सभी चक्रो मे यह प्रमुख माना गया है।

आयुर्वेद मे योगशास्त्र या तन्त्र ग्रथो की भाँति सुषुम्ना, इडा, पिंगला और षट्चक्रो का उल्लेख नही मिलता है। तन्त्र ग्रथो मे इनका आश्चर्यजनक रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है जो प्राचीन भारतीय विद्वानो के शरीर विषयक प्रचुर ज्ञान का पुष्ट प्रमाण है। आधुनिक विद्वानो के अनुसार सुषुम्ना मस्तिष्क का ही पृष्टवशगत अश और विस्तार है, जैसा कि निम्न कथन से स्पष्ट है :—

The extension of the brain downwords is the medulla spinalis more usually known as the spinal Cord.

—Human Physiology, P/224

यद्यपि इडा, पिंगला और उनसे सम्बद्ध षट्चक्रो की स्थिति सिर के बाहर ही होती है और उनका कर्म भी मस्तिष्क से अशत स्वतन्त्र होता है, तथापि उनका भी नियामक केन्द्र सिर ही मे होता है। इस केन्द्र को आज्ञाकन्द (थैलेमस-Thalamas) कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर मे शिर कितना महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आयुर्वेद मे शिर की जो श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है तथा उसे समस्त इन्द्रियो, चेतना और ज्ञान का अधिष्ठान कहा गया है वह सर्वथा समीचीन एव आधुनिक विज्ञान सम्मत है। शिर मे समस्त इन्द्रिया आश्रित होने के कारण उसे उत्तमाग माना गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

प्राणा प्राणभृता यत्र स्थिता सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमागमगना शिरस्तभिधीयते ॥

—चरक सहिता, सूत्रस्थान १७/१२

अर्थात् जिसमे प्राणियो के प्राण और समस्त इन्द्रिया स्थित है, वह शिर (शरीर के) समस्त अगो मे उत्तमाग कहलाता है।

अष्टागहृदयकार आचार्य वाग्भट्ट ने शरीर और शिर का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए शरीर मे शिर की उपयोगिता एव महत्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। उन्होने शरीर की रचना एक वृक्ष के रूप मे स्वीकार की है और शिर को उसका मूल माना है। सामान्यत: किसी भी वृक्ष का मूल नीचे की ओर भूमि के अन्दर होता है। किन्तु आचार्य वाग्भट् के अनुसार शरीर एक विलक्षण अश्वत्थ वृक्ष है। इसका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर सम्पूर्ण शरीर मे फैली हुई हैं। यह मूल जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है—मस्तिष्क है। इनमे ज्ञान ग्रहण

करने वाली नाड़ियां प्रविष्ट होती हैं और अंग-प्रत्यंग को कर्म की प्रेरणा-आज्ञा देने वाली नाड़ियाँ इससे निकलती हैं। ये ही मस्तिष्क रूप मूल की शाखाए हैं। इनके अधीन शरीर की ज्ञानकर्मरूप समस्त क्रियाए हैं जो वायु के द्वारा सम्पादित होती हैं। यह वायु भी प्राणस्वरूप है जो शिर-मस्तिष्क मे रहता है। इसीलिए शिर को उत्तमांग कहा गया है और उसकी रक्षा का विशेषत: निर्देश दिया गया है—

ऊर्ध्वमूलमध: शाखामृषय: पुरुष विदु:।
मूलप्रहारिणस्तस्माद्रोगान् शीघ्रतर जयेत् ॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिता।
तेन तस्योत्तमांगस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

—अष्टाग हृदय, सूत्रस्थान २४/५८-५९

अर्थात् ऋषियो ने यह पुरुष ऊर्ध्वमूल और अध:शाखा वाला बतलाया है। अत मूल (शिर) पर प्रहार करने वाले रोगो को शीघ्र जीतना चाहिये। चूकि शिर मे सभी इन्द्रिया और प्राण समाश्रित हैं, इसलिए उस उत्तमाग (शिर) की रक्षा मे सावधान रहना चाहिये।

इसी प्रसग मे तन्त्रान्तरकार का निम्न वचन भी महत्वपूर्ण है—

अनामये यथा मूले वृक्ष सम्यक् प्रवर्तते।
अनामये शिरस्येव देह: सम्यक् प्रवर्धते ॥

—च० सू० २/३ पर चक्रपाणि द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर वचन

अर्थात् जिस प्रकार मूल के निरोग रहने पर वृक्ष सम्यक्तया प्रवर्धित होता है, उसी प्रकार शिर के निरोग रहने पर शरीर की सम्यक्तया वृद्धि (पोषण-सवर्धन) होती है।

आधुनिक दृष्टि से सुषुम्ना

आधुनिक शरीर रचना विज्ञान मे सुषुम्ना की रचना के विषय मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार करोटि के अधोभाग मे एक छिद्र होता है। यही से सुषुम्ना का प्रारम्भ होता है। सुषुम्ना की स्थिति पृष्ठवश मे है। इसकी मोटाई कनिष्ठिका अगुलि के बराबर और लम्बाई लगभग अठारह इच होती है। इसके मध्य मे एक अतिसूक्ष्म प्रणाली होती है जो केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखी जा सकती है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि आधुनिक दृष्टि से नाड़ी संस्थान के दो विभाग हैं। जिसमे पहला मस्तिष्क सौषुम्निक नाडी सस्थान (सेरिब्रो स्पाइनल नर्वस सिस्टम—Cerebrospinal nervous System) है। इस नाड़ी सस्थान के दो मुख्य अवयव हैं—एक मस्तलुग पिण्ड और दूसरा सुषुम्ना। मस्तुलुंग पिण्ड का प्रधान भाग मस्तिष्क (सेरिब्रम-Cerebrum) होता है। मस्तिष्क के अतिरिक्त मस्तुलुंग पिण्ड

के चार अन्य भाग और होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—धम्मिल्लक, (सेरीबेल्लम-Cerebellum), मस्तुलुंग मध्य (मिडब्रेन Mid brain), उष्णीषक (पौस Pons) तथा सुषुम्ना शीर्षक (मेड्यूला ओब्लोंगेटा-Medulla Oblongata) ये सब विभाग करोटि (खोपडी) मे होते हैं। मस्तुलुंग पिण्ड पर अनेक सीताएँ (छोटी-छोटी खाइयाँ) होती हैं। धम्मिल्लक मस्तिष्क के पृष्ठभाग के नीचे की ओर होता है। मस्तुलुंगमध्य वस्तुत. मुख्यरूप से मस्तिष्क, धम्मिल्लक एव उष्णीषक को परस्पर जोडने वाला अवयव है। इनके नीचे ग्रन्थि के आकार का उष्णीषक होता है। इसके भी नीचे सुषुम्ना शीर्षक होता है। सुषुम्नाशीर्षक नीचे की ओर सुषुम्ना के अग्रभाग से सयुक्त रहता है।

मस्तुलुंगपिण्ड और सुषुम्ना दोनो तीन वृत्तियो (कलाओ या आवरणो) से वेष्टित होते हैं। मस्तुलुंग पिण्ड के अन्दर चार गुहाए होती हैं। इन गुहाओ, अन्दर की वृत्तियो के दोनो अन्तराल और सुषुम्ना की प्रणाली के मध्य मे सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड (Cerebrospinal fluid) नामक द्रव रहता है। आयुर्वेद की दृष्टि से इसे तर्पक कफ कहा जा सकता है।

यदि मस्तुलुंगपिण्ड और सुषुम्ना को काटकर देखा जाय तो उसमे असहाय आखो से भी दो प्रकार की रचनाए स्पष्टत. दिखाई देगी। एक भाग शुभ्रवर्ण होने के कारण शुभ्रवस्तु (व्हाइट मैटर White Matter) तथा दूसरा भाग धूसर वर्ण होने के कारण धूसर वस्तु (ग्रे मैटर-Gray Matter) कहलाता है। शुभ्रवस्तु नाडी सूत्रो (नर्व फाइवर्स-Nerve fibers) के द्वारा तथा धूसर वस्तु नाडी कोषो (नर्वसेल्स-Nerve Cells) के द्वारा निर्मित होती है। मस्तुलुंग पिंड मे धूसर वस्तु बाहर की ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दर की ओर होती है। सुषुम्ना मे इसके विपरीत शुभ्रवस्तु बाहर की ओर तथा धूसर वस्तु अन्दर की ओर होती है। धूसर वस्तु वह भाग है जिसमे संज्ञाओ के वेग आते है तथा जहाँ से चेष्टाओ के वेग अगो मे जाते है।

अनुप्रस्थ रूप से (चौडाई ने रूप मे) यदि सुषुम्ना को काटा जाय तो इसमे दोनो वस्तुएँ स्पष्टत: लक्षित होगी। धूसर वस्तु का अवस्थान (आकार) अग्रेजी अक्षर एच-H के सदृश होता है। मस्तुलुंग पिण्ड के समान सुषुम्ना मे भी धूसर वस्तुओ की रचना प्रधानत· नाडी कोषो (नर्वसेल्स-Nerve Cells) से होती है और शुभ्रवस्तु की नाडी सूत्रो से। धूसर वस्तु के दो सिरे पीछे की ओर तथा दो आगे की ओर निकले होते हैं। अगले सिरो को अग्रिम शृग (एन्टीरियर कॉर्नू-Anterior Cornu) तथा पिछले सिरो को पश्चिम शृग (पोस्टेरियर कॉर्नू Posterior Cornu) कहा जाता है। सुषुम्ना काण्ड मे सम्पूर्ण लम्बाई मे आगे और पीछे की ओर चीरे (फिशर-Fissur) पडे होते हैं।

सुषुम्ना काण्ड की श्वेतवस्तु का निर्माण उन नाडी सूत्रो से होता है जो

मस्तिष्क और अवयवो के मध्य वेग का वहन करते हैं। धूसर वस्तु का निर्माण जिन नाड़ीकोषों से होता है वे स्वयं मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग के सदृश चैतन्य के ज्ञापक हैं। अर्थात् शरीर के विभिन्न भागो से उनमे ज्ञान के वेग पहुचते हैं तथा वहा से चेष्टाओ के प्रवर्तक वेग अवयवो को प्राप्त होते हैं। शरीर मे अन्यान्य प्रकार की जो प्रति , सक्रमित क्रियाए होती है, वे सुषुम्ना काण्ड द्वारा ही सम्पादित होती हैं। यही प्रति सक्रमित क्रियाए सुषुम्ना का स्वतन्त्र कर्म है।

सुषुम्ना काण्ड से ऊपर से नीचे तक दाएं और बाए समरूप मे अनेक नाडियां निकलती जाती हैं। इन्हे सौषुम्निक नाड़ियां कहते हैं। ये कशेरुकाओं के छिद्रो मे से बाहर आती हैं। इन नाडियो का मूल सुषुम्ना के मध्यवर्ती धूसर वस्तु के नाडी-कोष" हैं। इनसे निकले नाडी-सूत्र मिलकर धूसर वस्तु के अग्रिम और पश्चिम शृ गो से बाहर निकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कशेरुका के अन्तरालवर्ती शृ गो से एक एक मूल प्रादुर्भू त होता है। दोनो ओर के अग्रिम और पश्चिममूल शीघ्र ही मिल जाते हैं और मिल कर एक नाड़ी बनाते हैं। यही सौषुम्निक नाड़ियां हैं ' ये जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती हैं, वैसे वैसे इनके विभाग और उपविभाग होते हैं, जिनके प्रतान (शाखा प्रशाखा) त्वचा, पेशी आदि मे व्याप्त होते हैं।

सौषुम्निक नाडियो मे सज्ञावह तथा मनोवह (चेष्टावह) दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। किन्तु मूल मे ये दोनो पृथक्-पृथक् होते है। परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि इनके पश्चिम मूल (पश्चिम शृंगों से निकले मूल) तो सज्ञावह होते हैं तथा अग्रिम मूल मनोवह किंवा चेष्टावह होते है। सज्ञावह नाड़ी सूत्रो के द्वारा शरीर के अवयवो से स्पर्श, वेध, शीत, उष्ण, भार, आदि सज्ञाओ के वेग सुषुम्ना मे पहुचते तथा मनोवह सूत्रो के द्वारा अवयवोचित प्रतिसंक्रम के वेग अवयवो का पहुचते है। ग्रीवा से वक्ष के अधोभाग पर्यन्त इस प्रकार ने सौषुम्निक नाडियो के इकतीस युग्म निकलते हैं। नीचे के भाग मे सौषुम्निक नाडियां अश्वपुच्छ के सदृश समानान्तर गुच्छो के रूप मे निकलती हैं।

सुषुम्नाकाड का जो अंश विकारग्रस्त हो जाता है उससे निचले भाग मे निकलने वाली नाडिया जिन अवयवो को जाती है, उनमे सज्ञा एव चेष्टा सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी कशेरुकाओ के मध्यावर्ती तरुणास्थिमय गद्दी या स्वय कशेरूका का शोथ, स्थानभ्र श या क्षयवश सकोच होने पर इनका दबाव स्थानीय नाडी पर पडता है। इस प्रकार भी नाडी के द्वारा नियन्त्रित अवयव का वध (अकर्मण्यता) हो जाता है।

योगशास्त्र में कुण्डलिनी का स्वरूप

योगशास्त्र मे कुण्डलिनी का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

"कुण्डले अस्याः स्त इति कुण्डलिनी"

—अर्थात् इसके दो कुण्डल होते हैं, अतः यह कुण्डलिनी कहलाती है।

"बिसतन्तु स्वरूपणां तां विदु त्रिवलयां प्रिये।" —ज्ञानार्णव तन्त्र

—हे प्रिये! उसे (कुण्डलिनी को) त्रिवलि में बिसतन्तु के स्वरूप वत् जानो।

"परा शक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तुतनायका।"—ललिता सहस्रनाम

—वह कुण्डलिनी बिसतन्तुमय अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति है।

"शक्ति कुण्डलिनी नाम बिसतन्तु निभा शुभा।"

—योगकुण्डल उपनिषद्

बिसतन्तु के समान कुण्डलिनी नाम की शुभ शक्ति होती है।

तडिल्लेखेव तन्वी तपनवैश्वानरमयी।

तडिल्लता समरुचिर्विद्युल्लेखेव भास्वरा।। —वाम के स्वरतन्त्र

वह कुण्डलिनी विद्युत किरण की भाँति तन्वी है, वह उष्ण अग्नि से युक्त है, बिजली की आभा के समान उसकी किरणे (कान्ति) है और बिजली की भाँति ही वह प्रकाशमान किरणो वाली है।

योगीजन इस कुण्डलिनी शक्ति को प्राणायाम के द्वारा जाग्रत करते हैं। जिसमे मूलबध और उड्डियान बध का अभ्यास विशेष महत्वपूर्ण होता है। इन तीनो बधो के समुचित अभ्यास एव सिद्धि के बिना कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सम्भव नही है। तीनो बधो का विवरण प्राणायाम के प्रकरणान्तर्गत दिया जा चुका है।

नाड़ी चक्र निरूपण

योग शास्त्र मे नाडी चक्रो को भी महत्व पूर्ण माना गया है। ये नाडी चक्र शरीर मे श्रोणि प्रदेश से लेकर मस्तिष्क तक के अन्तराल मे शरीर मे विभिन्न स्थानो मे स्थित हैं। मूलत शरीर मे षट् चक्र विद्यमान हैं और ये सभी चक्र सुषुम्ना नाडी से सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त मस्तिष्क के उर्ध्व भाग मे भी एक नाडी चक्र की अवस्थिति है जो षट् चक्र से भिन्न होने के कारण महाचक्र की संज्ञा से अभिप्रेत है। इन सभी चक्रो का सक्षिप्त वर्णन यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

हमारे देश मे बौद्ध युग से पहले शाक्त सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाए प्रत्येक राज्य और प्रान्त मे फैल चुकी थी। शाक्त सम्प्रदाय का प्रचार भारत मे इतनी द्रुत गति से हुआ कि अल्प काल मे ही अधिकाश लोगो की श्रद्धा इस सम्प्रदाय की विधियो मे हो गई। शाक्त सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित विधि-विधानो मे निष्णात विद्वानो को तान्त्रिक कहा गया और उनके द्वारा जिन ग्रन्थो की रचना की गई वे 'तन्त्रशास्त्र' कहलाए। उनमे से अनेक ग्रथ लुप्त प्राय हो चुके हैं, फिर भी अनेक ग्रन्थ अभी भी यत्र तत्र उपलब्ध है। इन ग्रन्थो मे प्रतिपाद्य विषय के रूप मे कुण्डलिनी, सुषुम्ना नाडी, इडा पिंगला नाडी, अन्य वात नाडिया, सहस्रदलकमल, शिवस्थान, विभिन्न चक्र आदि योग शास्त्र से सम्बन्धित विषयो का व्यवस्थित विवेचन मिलता है।

तन्त्र शास्त्र मे उपलब्ध विवेचन के अनुसार सहस्रदल कमल महाचक्र है। यह अग्रिम मस्तिष्क (Cerebrum) के भीतर उर्ध्वभाग मे स्थित है। वह पूर्ण चन्द्र के समान अति शुभ्र, देदीप्यमान, सहस्र (अनेक) दल युक्त और अधोमुख है। इस मस्तिष्क के भीतर अनेक गुहाए हैं। इनमे से एक को ब्रह्मगुहा की सज्ञा दी गई है। उसके अन्दर शून्याकाश है। उस स्थान मे प्राणतत्व सुषुम्ना मार्ग से उर्ध्वगमन करके विश्रान्ति लेता है। वही महानाद रूप शिवस्थान है और वही पर आत्मा का निवास होता है।

योग शास्त्र मे षट् नाडी चक्रो को विशेष महत्व दिया गया है, अत: तन्त्रो एव शास्त्रों मे उनका विवेचन मिलता है। आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुरूप वह संक्षिप्त है। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाडीचक्रों के लिए आधुनिक शरीर शास्त्र मे जो सज्ञा दी गई है वह भी दृष्टव्य है। उन नाडी चक्रो का सक्षिप्त वर्णन यहा प्रस्तुत है—

१ – मूलाधार चक्र

योग्य शास्त्र मे इसे आधार चक्र के नाम से भी कहा गया है। वहाँ इसका वर्णन निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

कुलाभिध सुवर्णाभ स्वयम्भूलिङ्ग सगतम्।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता॥
तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनो स्थिता।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेज: कामबीज भ्रमन्मतम्॥
तस्य स्याद् दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै।
परिस्फुरद्वादि सान्त चतुर्वर्णं चतुर्दलम्॥

इस कमल का नाम 'कुल' है, यह सुवर्ण के समान कान्तिवाला तथा स्वयम्भू-लिङ्ग मे युक्त है। उस पद्म मे द्विरण्ड नाम का सिद्ध, डाकिनी अधिष्ठातृ और गणेश देवता है। उस पद्म के मध्य म योनि है, उस योनि मे कुण्डलिनी की स्थिति है और उस कुण्डलिनी के ऊपर तेज स्वरूप काम बीज भ्रमण (घूमना-फिरना) करता है। जो बुद्धिमान पुरुष इस मूलाधार पद्म का सर्वदा ध्यान करते हैं उनको दादुरी वृत्ति (मेढक की भाति उछलना) सिद्ध होता है और क्रमश. भूमि को त्याग कर ऊपर उठता है। यह पद्म परम प्रकाशमान व से स तक (व, श, ष, स) इन चार वर्णों से चार दलो युक्त शोभित होता है। इस मूलाधार का ध्यान करने से शरीर मे कान्ति, जठराग्नि की वृद्धि, अरोगता, मन्त्र सिद्धि इत्यादि का लाभ होता है।

तन्त्र शास्त्र मे इसका सक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है—

नाम – आधारचक्र

स्थान — योनि

दल — चतु:

वर्ण—रक्त
लोक—भू
दलों के अक्षर—वं शं षं सं
नाम तत्व—पृथ्वी
तत्व बीज—लं
बीज का वाहन—ऐरावत हाथी
गुण—गध
देव—ब्रह्मा
देश शक्ति—डाकिनी
यंत्र—चतुष्कोण
ज्ञानेन्द्रिय—नासिका
कर्मेन्द्रिय—गुदा
ध्यानफल—वक्ता, मनुष्यो मे श्रेष्ठ, सर्वविद्या विनोदी, आरोग्य,
आनन्द चित्त, काव्य प्रबन्ध मे सामर्थ्य ।

आधुनिक शारीर शास्त्र मे इसकी बस्ति गुहान्तरीय चक्र (Pelvic Plexus) संज्ञा दी गई है। इसके दो विभाग माने गये हैं, दोनो को एक सज्ञा से व्यवहृत किया गया है।

२—स्वाधिष्ठान चक्र

द्वितीय तु सरोज च लिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
बादि लान्त च षड्वर्ण परिभास्वरषड्दलम् ॥
स्वाधिष्ठानाभिध तत्तु पकज शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी ॥

द्वितीय पद्म जो लिङ्ग मूल में स्थित है ब से ल पर्यन्त अर्थात् ब, भ, म, य, र, ल इन छह वर्णों से युक्त है और छह दलो से शोभित है। इस रक्त वर्ण वाले पद्म का नाम स्वाधिष्ठान है। इस स्थान मे बाण नामक सिद्ध, राकिणी देवी अधिष्ठात्री और ब्रह्मा देवता होता है। इस चक्र की सिद्धि होने पर निम्न प्राप्त होता है —

विविध चाश्रुत शास्त्र नि शको वै वदेव ध्रुवम् ।
सर्वरोग विनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भय ॥

ऐसा अनेक प्रकार का शास्त्र जिसका कभी श्रवण भी नही किया है। (इस चक्र की सिद्धि होने पर) उसे नि शक होकर बोलता है, सभी रोगो से मुक्त होता है और ससार मे निर्भय होकर विचरण करता है।

तन्त्र शास्त्र मे इसका सक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार बतलाया गया है—

नाम—स्वाधिष्ठान
स्थान—पेडू

दल—षट्

वर्ण—सिन्दूर

लोक—भुव

दलो के अक्षर—बं से लं तक (बं भं मं यं रं लं)

नाम तत्व—जल

तत्वबीज—व

बीज वाहन—मकर

गुण—रस

देव—विष्णु

देवशक्ति—डाकिनी

यन्त्र—चन्द्राकार

ज्ञानेन्द्रिय—रसना

ध्यान फल—अहकारादि विकारो का नाश, योगियो मे श्रेष्ठ, मोह रहित तथा गद्य-पद्य रचना मे सामर्थ्य।

आधुनिक शरीरशास्त्र मे इसे अधरान्त्रिक नाडी चक्र (Inferio Rmesentric Plexus) की सज्ञा दी गई है।

३—मणिपूरक चक्र (Epigastic Plexus)

तृतीय पंकजं नाभौ माणपूरकसंज्ञकम्।
दशारं डादि फान्तार्णं शोभित हेमवर्णकम्॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमगलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका॥

तीसरा कमल नाभि मे स्थित रहता है जो मणिपूरक सज्ञा वाला है। वह दस दल से युक्त ड से फ पर्यन्त अर्थात् ड ढ ण त थ द ध न प फ इन दश वर्ण वाला सुवर्ण की भाति शोभित है। इस स्थान मे रुद्र नाम का सिद्ध जो सर्व मगल दायक है रहता है। वहाँ परम धार्मिक लाकिनी नाम की देवी और विष्णु देवता अवस्थित हैं।

इस चक्र का ध्यान करने वाला योगी निम्न फल का भागी होता है—

तस्मिन् ध्यान सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धि स्यान्निरन्तर सुखावहा॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम्॥

जो योगी सदैव इस चक्र में ध्यान स्थिर करता है, उसे निरन्तर सुख प्रदान करने वाली पाताल सिद्धि प्राप्त होती है। उसको ससार मे अभिलषित समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं. उसके समस्त दुःख रूपी रोगो का विनाश होता है। उसे काल को जीतने की सामर्थ्य और दूसरों के शरीर मे प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है।

तन्त्र शास्त्र के अनुसार इसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

नाम —मणिपूरक चक्र
स्थान —नाभि
दल —दस
वर्ण —नील
लोक —स्व
दलो के अक्षर— डँ से फँ तक (डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ)
नाम तत्व — अग्नि
तत्व बीज —रँ
बीज वाहन—मेष
गुण —रूप
देव — वृद्ध रुद्र
देवशक्ति —लाकिनी
यन्त्र —त्रिकोण
ज्ञानेन्द्रिय —चक्षु
कर्मेन्द्रिय —चरण
ध्यानफल— सहार-पालन मे सामर्थ्य, वचन रचना चातुर्य, जिह्वा पर सरस्वती विराम ।

आधुनिक शारीर शास्त्र मे इसे सौर मण्डल चक्र-Solar Plexus की संज्ञा से भी व्यवहृत किया गया है । यह चक्र उदर प्रदेश मे आमाशय की पिछली ओर तथा औदर्या महाधमनी के आगे विद्यमान रहता है । जिस प्रकार सूर्य मे से निकलने वाली किरणें चारो ओर फैलती हैं, उसी प्रकार इस चक्र मे से निकले हुए असंख्य नाडी सूत्र आशयो मे फैलते हैं । यही कारण है कि इसे "नाभिचक्र" की संज्ञा भी दी गई है । यह उदर प्रदेश मे स्थित सभी चक्रो की अपेक्षा बडा है । इस चक्र के सुषुम्ना काण्ड से सम्बन्ध वाले भाग को आधुनिक परिभाषा के अनुसार "निम्न औरसी केन्द्र"—Lower Thoracic Centers की संज्ञा दी गई है ।

४—अनाहत चक्र (Cardiac plexus)

इस चक्र मे उत्तान और गम्भीर दो चक्र होते है । इसके अतिरिक्त इनके सूत्र फुप्फसो के सूत्रो से मिलकर वहां पर भी परिफुफ्फुस चक्रों की रचना करते हैं इस प्रकार ये कुल चार चक्र होते हैं । इस चक्र का सुषुम्ना से सम्बन्ध वाला भाग सुषुम्नाकाण्ड के अनुपृष्टिक भाग की पहली चार कदिकाओ के भीतर अवस्थित है । आधुनिक शारीर शास्त्र में इसे "ऊर्ध्व औरसी केन्द्र"—Upper Thoracic Centers की संज्ञा दी गई है । इस चक्र का बाह्य भाग हृदय के मूल भाग मे ऊपर की ओर प्रतीत होता है । उस स्थान मे अन आहत (बिना प्रेरणा के) ध्वनि सुनाई पडती है ।

इसलिए इसे अनाहत चक्र की संज्ञा दी गई है। इसके विषय मे शास्त्र मे कहा गया है—

शब्दब्रह्ममय: शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ।
अनाहताख्य पद्म तत् मुनिभि: परिकीर्तितम् ।।

जिसमे शब्द और ब्रह्म से युक्त शब्द बिना आहत हुए प्रतीत होता है उसे मुनिजनो ने अनाहत नाम का कमल कहा है।

हृदयेऽनाहत नाम चतुर्थं पकज भवेत् ।
कादि ठान्तार्ण सस्थान द्वादशारसमन्वितम् ।।
अतिशोण वायुबीज प्रसादस्थानमीरितम् ।
सिद्ध पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ।।
एतस्मिन् सतत ध्यान हृत्पाथोजे करोति य. ।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषित ।।

हृदय मे अनाहत नाम का चतुर्थ कमाल होता है। वह बारह दलो से युक्त क से ठ पर्यन्त अर्थात् क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ इन बारह वर्ण वाला है। वह अति उज्ज्वल रक्त वर्ण वाला प्राण वायु का आधार और प्रसाद स्थान कहा गया है। इस स्थान मे पिनाकी नाम का सिद्ध और काकिनी नाम की अधिष्ठात्री निवास करती है। जो योगी हृदय मे स्थित इस चक्र मे ध्यान लगाता है उसके प्रति काम से पीड़ित देवाङ्गनाएँ आकर्षित होती हैं।

इस चक्र मे ध्यान करने से निम्न फल की प्राप्ति होती है—

ज्ञान चाप्रतिम तस्य त्रिकालविषय भवेत् ।
दूरश्रुति: दूरदृष्टि: स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ।।

उसे अप्रतिम ज्ञान की प्राप्ति होती है जो तीनो काल के समस्त पदार्थों को विषय करता है। इसके अतिरिक्त दूरस्थ ध्वनियो को वह सुनता है, दूरस्थ वस्तुओ को देखता है तथा स्वेच्छा पूर्वक आकाश में विचरण कर सकता है।

इसका सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

नाम —अनाहत चक्र
स्थान —हृदय
दल —द्वादश
वर्ण —अरुण
लोक —मह.
दल के अक्षर—कँ से ठँ तक (कँ खँ गँ घँ ङ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ)
नाम तत्व —वायु
तत्व बीज —?
बीजवाहन—मृग
गुण —स्पर्श
देव —ईशान रुद्र

देवशक्ति—काकिनी
यंत्र —षट्कोण
ज्ञानेन्द्रिय—त्वक्
कर्मेन्द्रिय—कर
ध्यानफल—वचन रचना मे सामर्थ्य, ईशत्व सिद्धि, प्राप्त योगीश्वर, ज्ञानवान्, इन्द्रियजित्, काव्य शक्ति युक्त परकाया प्रवेश।

५ विशुद्धाख्य चक्र (Carolial plexus)

यह चक्र कण्ठ प्रदेश मे अवस्थित रहता है। इसके बाह्य और अन्त दो भाग माने जा सकते है। आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुसार इसके बाह्य भाग की सज्ञा "परिग्रसनिक" (Pharyngeal Plexus) है। इसका अन्तभाग जो सुषुम्ना से सम्बन्धित रहता है और सुषुम्नाशीर्ष मे विद्यमान रहता है उसे आधुनिक शरीरशास्त्र मे "ऊर्ध्व परिस्वतन्त्र भाग (Upper Parasympathetic Portion) की सज्ञा दी गई है। शास्त्रो मे इसका उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है—

विशुद्धि तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्ध पद्ममाख्यातमाकाशाख्य महत्परम्॥
कण्ठस्थानस्थित पद्म विशुद्ध नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभ स्वरोपेत षोडशस्वरसंयुतम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता।
ध्यान करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डित:॥
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव॥

कण्ठस्थान मे स्थित कमल 'विशुद्ध' नाम का पाचवा चक्र है। वह सुन्दर सुवर्ण की भाति आभा वाला, सुस्वर युक्त तथा अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ: आदि सोलह स्वरो से युक्त होता है। इस पद्म मे छगलाण्ड नामक सिद्ध और शाकिनी नाम की अधिष्ठात्री होती है। इसका जीवात्मा देवता होता है। जो योगी नित्य इसमे ध्यान करता है वह योगीश्वर पण्डित होता है। किन्तु इस विशुद्धाख्य पद्म मे ध्यान लगाने वाले योगियो को चारो वेद रहस्य पूर्ण निधि की भाति विभासित होते हैं।

तन्त्र शास्त्र में इसका सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार मिलता है—

नाम — विशुद्धाख्य चक्र
स्थान — कण्ठ
दल — षोडश
वर्ण — धूम्र
लोक — जन

दल के अक्षर—अ से अः तक (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ
ओ औ अं अः)

नाम तत्व —आकाश

तत्व बीज—हँ

बीजवाहन—हस्ति

गुण —शब्द

देव —पञ्चवक्त्र

देवशक्ति —शाकिनी

यंत्र —शून्य चक्र

ज्ञानेन्द्रिय —कर्ण

कर्मेन्द्रिय —वाक्

ध्यानफल —काव्य रचना सामर्थ्य, ज्ञानवान्, उत्तमवक्ता, शांतचित्त त्रिलोकदर्शी, सर्वहितकारी, आरोग्यवान्, चिरञ्जीवी और तेजस्वी।

६—आज्ञाचक्र (Medulla)

आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुसार कदाधरिक प्रदेश (Subtholemicd-regions) मे दो आज्ञाकन्द हैं। दोनो आज्ञाकन्दो के निम्नतल के जो नीचे के भाग हैं उनमे अनेक कन्दाणु (Neurons) विद्यमान हैं, जो स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल के केन्द्र रूप से कार्य करते हैं। निद्रा केन्द्र भी उसी प्रदेश मे अवस्थित रहता है। आज्ञा-चक्र सामान्यतः भ्रूमध्य मे अवस्थित रहता है और उसके नाडीसूत्र चक्र के बाहर सम्पूर्ण भ्रूभाग मे फैले रहते है। वहाँ पर ध्यान केन्द्रित करने पर कन्दाणुओ पर असर होता है। प्राचीन आचार्यों ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है—

आज्ञानामाम्बुजं तद्धि मकरसदृश ध्यानधामप्रकाशम्।
आज्ञासंक्रमण तत्र भ्रुवोरराज्ञेति कीर्तितम्॥
आज्ञापद्म भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेत द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालसिद्धो देव्यत्र डाकिनी॥
शरच्चन्द्रनिभ तत्राक्षरबीज विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति॥
तत्र देवः पर तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धि लभते नाऽत्रसशयः॥
आज्ञापद्ममिद प्रोक्त यत्र देवो महेश्वरः।
पीठत्रय ततश्चोर्ध्वं निरुक्त योगचिन्तकैः॥
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्य भालपद्मव्यवस्थितम्॥

आज्ञा नामक यह पद्म दोनों भौं के मध्य मे स्थित रहता है जो ह और क्ष दो बीज से युक्त दो पत्र वाला है। यह शुक्ल वर्ण का होता है जिसमे महाकाल नाम का सिद्ध, हाकिनी अधिष्ठातृ और परमात्मा देवता होता है। यह शरत्कालीन चन्द्र के समान कान्ति वाला होता है तथा उसमे ठ बीज (अक्षर बीज) होता है। यह परम हस रूप है जिसे जान कर मनुष्य कभी कष्ट नही पाता है। इसमे अत्यन्त उत्कृष्ट तेज होता है जो देवरूप है तथा समस्त तन्त्रो मे मन्त्रणा करने वाले इसका चिन्तन करके उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त करते है इसमे कोई सशय नही है। यह आज्ञा पद्म (चक्र) है जिसमे देव महेश्वर है। योग का चिन्तन करने वालो के द्वारा उससे ऊपर तीन पीठ बतलाए गए है, भाल (मस्तक) पद्म मे व्यवस्थित वह बिन्दुनाद शक्ति के नाम से कहा जाता है।

शास्त्र मे इसका विवरण निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है—

नाम —आज्ञा चक्र
स्थान – भ्रूमध्य
दल — द्विदल
वर्ण — श्वेत
दल के अक्षर ह, क्ष
नाम तत्व —महत्
तत्व बीज - अँ
बीज वाहन —नाद
देव —लिंग
देव शक्ति —हाकिनी
यन्त्र —तपः
ध्यान फल —वाक् सिद्धि

इस प्रकार योग शास्त्र मे मुख्यत ये छ: चक्र बतलाए गए है जो सम्पूर्ण मेरु दण्ड मे मूल से शीर्ष तक अवस्थित हैं। योगीजन इन चक्रो मे अपनी शक्ति को केन्द्रित कर कुण्डलिनी को जाग्रत करते है।

आसनों का प्रायोगिक स्वरूप

आयुर्वेद की दृष्टि से योगासनों की उपयोगिता पर पूर्व प्रकरण मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। न केवल स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से अपितु विभिन्न रोगो के निवारणार्थ तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी योगासनो की उपयोगिता एव महत्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक विकास में योगासनो का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया है। यही कारण है कि दिन प्रतिदिन योगाभ्यास एव योगासनो के अभ्यास के प्रति लोगो की रुचि एव लगाव बढता जा रहा है।

यहा पर अति महत्व के कुछ विशिष्ट एव सरल योगासनो की क्रियाविधि पर प्रकाश डाला जा रहा है, ताकि उनके प्रयोग एव अभ्यास से स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगो से से बचाव किया जा सके। योगासनो के अभ्यास से पूर्व कुछ सावधानियो और विशेष बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। इससे योगासनो का अभ्यास करने मे सरलता होगी तथा उनका अपेक्षित अनुकूल प्रभाव शरीर, मन और मस्तिष्क पर पडेगा। तदर्थ निम्न बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है—

१. जिस स्थान पर आसन किया जाना है वह स्थान स्वच्छ एवं साफ सुथरा हो।

२ आसन ऐसे स्थान पर किया जाय जहा शुद्ध वायु का सचार होता हो।

३. मकान के अन्दर यदि आसनाभ्यास किया जाता है तो कमरा खुला हुआ एवं हवादार होना चाहिये। आसन एकान्त स्थान मे किया जाय।

४. आसन करने से पूर्व शरीर और वस्त्रादि की स्वच्छता आवश्यक है।

५ प्रात, सध्या एव स्नान करने से पूर्व आसन करना चाहिये।

६ रोग विशेष की स्थिति मे आवश्यकतानुसार चिकित्सक की सलाह से आसन के लिए उपयुक्त समय निर्धारण किया जा सकता है।

७ आसन करते समय मन मे किसी प्रकार का विकार भाव न हो और चित्त प्रसन्न हो।

८. भोजन करने के तत्काल बाद आसन नही किया जाय। भोजन करने के पश्चात् लगभग चार या साढ़े चार घटे के अन्तराल से आसन किया जाय।

९. आसन करने के पश्चात् लगभग आधा घटे तक विश्राम किया जाय। उसके बाद स्नानादि करके दूध-फल आदि का सेवन किया जाय। चाय-काफी आदि उत्तेजक नशीले पेयो से यथा सम्भव बचा जाय।

१०. आसनाभ्यास करने वालो को यथा सम्भव प्रात पांच बजे तक शय्या-त्याग कर देना चाहिये।

११. शौच आदि दैनिक क्रिया से निवृत्ति के पश्चात् आसनाभ्यास करना

चाहिए। जो आसन कोष्ठबद्धता के निवारणार्थ किये जाते हैं उनका अभ्यास शौच से पूर्व एक गिलास जल पीकर किया जाय।

१२. स्वस्थ व्यक्ति को अपनी आवश्यकतानुसार आसन का चयन करना चाहिये।

१३. नियमित आसनाभ्यास की दृष्टि से सरल आसनो का ही चयन किया जाय। दुरूह, कष्टसाध्य एवं अलाभकर आसनो से बचा जाय।

१४. आसनाभ्यास का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय होना चाहिये, न कि प्रदर्शन।

आसनों का वर्गीकरण

योगशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थो मे आसनो का वर्गीकरण उपलब्ध नही होता है, किन्तु शरीर एव उसके अगो की विभिन्न प्रकार की स्थितियो को ध्यान में रखते हुए यदि उनका वर्गीकरण किया जाय तो उपयुक्त होगा। कुछ विद्वानो ने आसनो को दो वर्गों मे विभाजित किया है (१) विकासासन तथा (२) ध्यानासन। जिन आसनो से शरीर के विविध अगो के द्वारा व्यायामात्मक क्रिया होती है तथा शरीर का विकास होता है उन्हे विकासासन के वर्ग मे रखा गया है। जैसे पवनमुक्तासन, धनुरासन आदि। जो आसन बैठकर मुख्यत ध्यान आदि के लिए किए जाते हैं उन्हें ध्यानासन मे परिगणित किया गया है। जैसे सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन आदि। किन्तु आसनो को इन दो वर्गों की अपेक्षा शरीरावयवो की भिन्न भिन्न स्थिति के अनुसार और अधिक वर्गों मे विभाजित किया जाय तो अधिक उपयुक्त रहेगा। सामान्यतः आसनो को निम्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

१ बैठकर किए जाने वाले आसन—

सिद्धासन, पद्मासन, अर्धपद्मासन, बद्धपद्मासन, स्वस्तिकासन, सुखासन योग मुद्रासन, पवनमुक्तासन, वज्रासन, गोमुखासन, कूर्मासन, शशकासन, मत्स्येन्द्रासन, जानुशिरासन, वृश्चिकासन।

२ खड़े होकर किए जाने वाले आसन—

ताडासन, त्रिकोणासन, उत्कटासन आदि।

३ चित लेट कर किए जाने वाले आसन—

शवासन, सर्वाङ्गासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्यासन, चक्रासन।

४. पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन—

भुजङ्गासन, शलभासन, धनुरासन, मयूरासन, नाभि-आसन या दोलासन।

५ उल्टे (सिर के बल) खड़े होकर किए जाने वाले आसन— शीर्षासन

इन आसनो मे सूर्यनमस्कार का उल्लेख नही है, इसका कारण सम्भवतः यह है कि क्रिया विधि की सरलता के कारण तथा उसका स्वरूप विशुद्धतः व्यायाम परक

होने के कारण इसे योगासनों की श्रेणी में नही रखा गया। तथापि उसकी उपयोगिता और महत्व असदिग्ध है।

१. सूर्य नमस्कार

इस क्रिया को यद्यपि पूर्णत: योगासन की सज्ञा नही दी जा सकती, किंतु उपयोगिता एव आवश्यकता की दृष्टि से यह ऐसी सरल प्रक्रिया है जिसमे अनेक आसन सम्मिलित हैं। यह वस्तुतः कुछ योगासनो एव प्राणायाम के पूर्व का एक ऐसा मिला-जुला रूप है जो दोनो की पृष्ठभूमि तैयार करता है। अतः योगासन एवं प्राणायाम के लिए इसका अभ्यास आवश्यक है। सूर्य नमस्कार सामान्यत. सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय किया जाता है।

सम्पूर्ण सूर्य नमस्कार के लिए शरीर के अगो से विभिन्न क्रियाए करते हुए दस अवस्थाओ से गुजरना आवश्यक है। उन .दस अवस्थाओ मे शरीर के अगो की स्थिति एव क्रिया का वर्णन निम्न प्रकार है—

१. **प्रथम अवस्था**—इस अवस्था मे शरीर सीधा हो। दोनो हाथ वक्ष से सटे हुए, एक दूसरे से चिपके हुए (नमस्कार की मुद्रा मे) हो। दोनो हाथ के अगूठे वक्ष के मध्य भाग मे स्थित गड्ढे मे टिके हुए हो। शेष चारो अगुलिया परस्पर चिपकी हुई अगूठे से दूर रहे। दृष्टि नासाग्र पर स्थित हो, फुफ्फुस फूले हुए, वक्ष उन्नत और उदर दबा हुआ हो।

२. **द्वितीय अवस्था**— इस अवस्था मे हाथो को सिर से ऊपर ले जाकर धड़ को पीछे की ओर मोडा जाय। इस स्थिति मे मुह बन्द करके नासिका से ध्वनियुक्त पूर्ण श्वास अन्दर ली जाय, फिर कुछ समय तक उसे भीतर रोककर रखा जाय। (याने पूरक कुम्भक किया जाय)

३. **तृतीय अवस्था** – इस अवस्था मे दोनो टाँगें सीधी रखते हुए शरीर का मध्योत्तर भाग नीचे झुकाते हुए दोनो हाथो को भूमि पर टिकाया जाय तथा मस्तक को घुटनो से छुआ जाय। रोकी हुई वायु को बाहर निकाला जाय, याने कुम्भक किया जाय।

४. **चतुर्थ अवस्था**—इस अवस्था मे दाहिने पैर को पीछे ले जाया जाय, बाएं पर को मोडकर उसे आगे लाया जाय। स्थिति ऐसी हो कि बाई जाघ का दाहिने पैर की एडी से स्पर्श हो। दोनो हाथ भूमि पर टिके हुए, भुजाएँ सीधी हो, गर्दन तनी हुई, सिर का पिछला भाग पीछे झुका हुआ तथा दृष्टि आकाश की ओर उठी हुई हो। इस प्रकार ऊपर देखते हुए पुनः श्वास भरी जाय --पूरक किया जाय।

५ ***पचम अवस्था***-- *इस अवस्था मे बाया पैर पीछे ले जाया जाय* याने दोनो पैर समान रूप से लम्बाकार हो। स्थिति ऐसी हो कि सम्पूर्ण शरीर केवल हथेलियो और पंजो विशेषत पैर की अगुलियो पर टिका हो और सिर से पाव तक सीधा तना रहे, तब श्वास छोडी जाय।

६. **षष्ठ अवस्था**—इस अवस्था मे पंजो और हथेलियो की स्थिति यथावत् रखते हुए दोनो घुटनो को मोडकर भूमि पर स्पर्श करते हुए गर्दन को नीचे की ओर मोडकर ठुड्डी को वक्षाग्र पर टिकाते हुए तथा मस्तक को भूमि पर स्पर्श कर शरीर को पीछे ले जाया जाय और श्वास खीचते हुए पूरक एव कुम्भक किया जाय।

७. **सप्तम अवस्था**—साष्टाग की मुद्रा मे शरीर के आठो अग (मस्तक, नासाग्र, वक्ष, उदर, दोनो हस्ततल तथा दोनो घुटने) भूमि पर टिका दिए जावे। बाह्य कुम्भक की स्थितिकी जाय।

८. **अष्टम अवस्था**—इस अवस्था मे हाथ और पैरो की स्थिति बदले बिना सिर और धड की कसेरुका (रीढ) को उन्नत करते हुए गर्दन तनी हुई हो और ऊपर की ओर देखा जाय, भुजाएँ सीधी और तनी हुई हो तथा घुटने भूमि ा स्पर्श न करे, अपितु किंचित् ऊपर हो।

९ **नवम अवस्था**—इस अवस्था मे श्वास छोडते हुए याने रेचक करते हुए नितम्बो को ऊपर उठाया जाय तथा सिर दोनो हाथो के बीच मे नीचे की ओर इस प्रकार लाया जाय कि शरीर की स्थिति धनुषाकार बन जाय। तत्पश्चात् शरीर को पूर्ववत् क्रम सख्या ६ की स्थिति मे लाया जाय।

१०. **दसम अवस्था**—इस अवस्था मे श्वास अन्दर लेते हुए याने पूरक करते हुए दाहिने पैर को मोडकर दोनो हाथो के मध्य मे लाकर शरीर को क्रम सख्या ४ की स्थिति मे लाया जाय।

११. **एकादश अवस्था**—इस अवस्था मे श्वास छोडते हुए बाया पैर आगे लाकर दाहिने पैर के साथ रखा जाय। नितम्ब भाग ऊपर की ओर हो तथा मस्तक घुटनो से लगा हुआ हो। दोनो हथेलिया पैरो के साथ भूमि पर लगी हो। तत्पश्चात् शनैः शनैः शरीर को सीधा किया जाय और दोनो हाथ जोड कर नमस्कार की स्थिति मे लाया जाय।

आरोग्य और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो सूर्यनमस्कार का महत्व है ही, आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसका महत्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से सूर्य नमस्कार का महत्व तब और अधिक हो जाता है जब निम्न मन्त्रोच्चार पूर्वक उस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य विहित मुखम्।
तत् त्व पूषन् अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

हे सूर्य! सुवर्ण पात्र से ढके हुए सत्य के मुख को सत्य धर्म के लिए और सत्य दृष्टि के लिए खोलो।

7
6
8
5
9
1 व 12
4
11
3
2
10
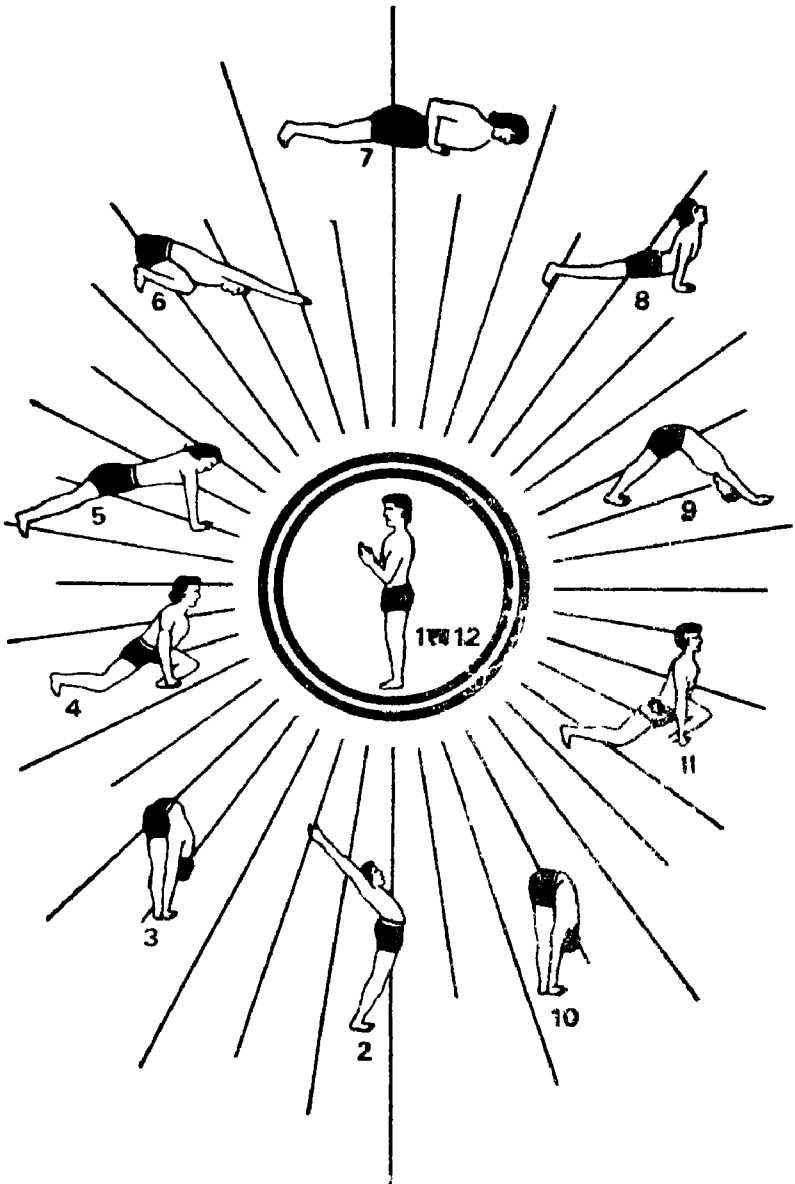
सिद्धासन

चौरासी लाख आसनों मे सिद्धासन को मुख्य आसन माना गया है। इसके माध्यम से ध्यान, भजन, पूजा-पाठ, तथा प्राणायाम से लेकर समाधि तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। सिद्धासन शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार
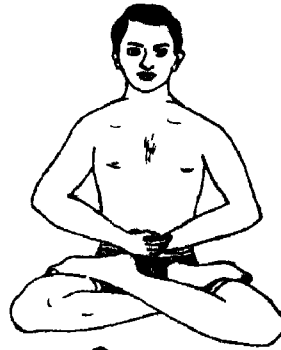
सिद्धासन

के विकास के लिए परम उपयुक्त माना गया है। इसके द्वारा योग की समस्त सिद्धियां प्राप्त की जा सकती है, इसी से योगियो ने इसका नाम सिद्धासन रखा है।

विधि—भूमि पर बैठकर बाये पैर की ऐडी को गुदा से ऊपर की ओर अण्डकोश के नीचे सीवनी नाडी पर लगाया जाय और दाये पैर की ऐडी को उठाकर लिंग मूल पर रखा जाय। ध्यान रहे कि दोनो पाव के अगूठे जंघाओ और पिण्डलियो के बीच मे छिपे रहे, जैसा कि चित्र मे बतलाया गया है। तत्पश्चात् हाथो को गोद मे रखते हुए दायें हाथ को बायें हाथ पर रखें, ठोड़ी को हृदय पर लगावें, मेरुदन्ड और शरीर को सीधा रखते हुए, अचल दृष्टि होकर भ्रूमध्य का अवलोकन करें, इसे सिद्धासन कहते है।

श्वास स्थिति—इस आसन मे मध्यम रूप से श्वास लेना चाहिए और यथा साध्य पूरक कर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। फिर रेचन कर यही क्रिया दोहराना चाहिए। इस प्रकार सिद्धासन सिद्धि के लिए पाच मिनट से प्रारम्भ कर ३ घन्टे ४८ मिनट तक अभ्यास करना चाहिए।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से मन एकाग्र होता है, कामवासना शान्त होती है तथा ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है। साथ ही इसके द्वारा योग के चरम लक्ष्य समाधि एव मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

पद्मासन

इस आसन में शरीर की आकृति कमल के फूल जैसी हो जाती है, अत इसे कमलासन भी कहते हैं।

विधि—भूमि पर दोनो पैर फैलाकर बैठना चाहिये, फिर बायें पैर की एडी को दाई जघा पर इस प्रकार रखा जाय कि एडी नाभि के पास आ जाय। इसके बाद दाये पैर को उठाकर इस प्रकार रखा जाय कि दोनो एडियाँ नाभि के पास आपस मे मिल
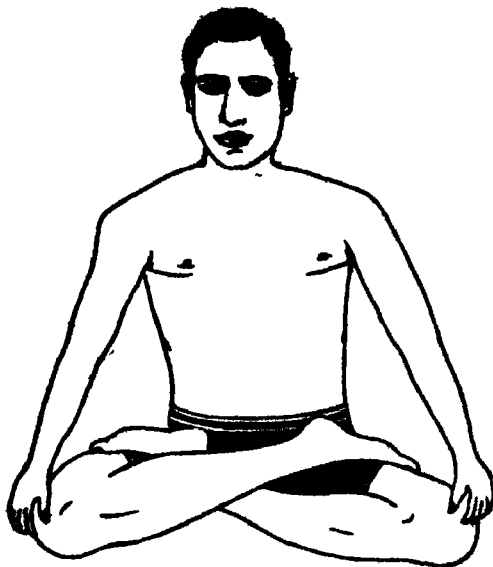
पद्मासन

जाये। घुटने जमीन से मिले रहे। मेरुदण्ड सहित कमर से ऊपर का शरीर का सपूर्ण भाग सीधा रखा जाय। दोनो हाथो को दोनो घुटनो पर हथेली के बल अथवा हथेली (पजा) चित्त करके तर्जनी अगुली और अगूठे को मिलाकर छल्ले की तरह बनाया जाय अथवा हथेलियो को चित्त करके एक दूसरे के ऊपर गोद में रखा जाय।

दोनों हाथों को घुटनों पर रखने से गरिमा शक्ति की वृद्धि होती है, अर्थात् शरीर भारी होता है। दोनों हाथों को गोद में रखने से लघिमा शक्ति की वृद्धि होती है अर्थात् शरीर हल्का होता है। २-२ मिनट रुककर पैरों को बदलकर अभ्यास करना चाहिए।

श्वास स्थिति—इस आसन मे नासिका के द्वारा धीरे-धीरे पूर्ण पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करना चाहिए, पश्चात् रेचक करना चाहिये। कम से कम ५ बार यह क्रिया करके पैर की स्थिति बदलना चाहिए, पुनः यही क्रिया दोहरायें।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से सब प्रकार की व्याधियाँ दूर होती हैं। क्योकि यह आसन कफ, पित्त और वायु को समावस्था मे लाता है, जिससे पाचन शक्ति बढ़ती है, जाघ और घुटने की मांसपेशियो पर तनाव पड़ने से इनमे शक्ति आती है, रीढ़ की हड्डी यदि टेढ़ी हो तो धीरे-धीरे सीधी हो जाती है। आतरिक अवयव हृदय, फेफड़े, आमाशय, प्लीहा, यकृत्, आन्त्र आदि स्वस्थ रहते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थिया जैसे थाईराइड एव पैरा थाई राइड आदि ठीक से काम करती हैं। प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि के लिए यह आसन सर्वोत्तम है।

इसके अतिरिक्त इस आसन का निरन्तर अभ्यास करने से पैरों का सुन्न होना, पैरो का दुखना, पैरों मे मोच आना, जघा पृष्ट मूल की नाड़ी सायटिका की विकृति के कारण होने वाली तीव्र वेदना आदि मे लाभ होता है।

अर्द्धपद्मासन

जो व्यक्ति पद्मासन करने में असमर्थ हैं, उन्हें अर्ध पद्मासन करना चाहिये। ऐसा देखा गया है कि स्थूल शरीर वाले लोग प्रथमतः पदमासन को पूर्ण रूप में लगाने में समर्थ नही हो पाते। इसका कारण यह है कि उन्हें जांघो पर पैर रखना कठिन प्रतीत होता है, इसलिए इस पद्मासन को सरल बनाने के लिए अर्द्धपद्मासन को विकसित किया गया।

विधि—इसमें केवल एक पांव को दूसरे पांव की जांघ पर चढ़ाकर रखा जाता है एवं दूसरे पांव को पहले पांव की पिण्डली के नीचे ही छिपाकर रखते हैं। दो-दो मिनिट मे पांव बदल-बदल कर इस आसन का अभ्यास १० मिनट तक करना चाहिये। ४० दिन के निरन्तर अभ्यास से पद्मासन की पूर्ण स्थिति प्राप्त होती है।

इस आसन मे यह ध्यान देने योग्य है कि यह आसन लगाते समय रीढ़ सीधी होना चाहिये। यदि रीढ़ सीधी न रही और झुक कर बैठें तो उदर के स्नायु शिथिल होंगे। बहुत समय तक यह स्थिति रहने पर उदर के स्नायु दुर्बल हो जाते हैं। शरीर का झुकाव आगे की ओर होने से उदर के स्नायु दबते हैं। उदर के स्नायुओं के बहुत समय तक शिथिल रहने तथा उनके दबाए जाने के कारण पेट बढ़ता है। रीढ़ सीधी

रहने से यह दोष नहीं आ पाता है जिससे रीढ़ की शक्ति बढ़ती है, कूबड़ नहीं निकल पाती है और वृद्धावस्था में कमर अधिक नहीं झुक पाती है।

नोट—हाथ एवं श्वास की स्थिति पद्मासन के समान ही है।

बद्ध-पद्मासन

यह भी पद्मासन का ही एक प्रकार है। हठयोग प्रदीपिका में पद्मासन के अन्तर्गत ही बद्ध पद्मासन का समावेश किया गया है और इसे सर्व रोग नाशक बतलाया गया है। इस आसन मे दोनो पैरों के अगूठो को दोनो हाथों की अंगुलियों से पकड़ कर बांध दिया जाता है, अतः इसे बद्ध-पद्मासन कहते हैं।
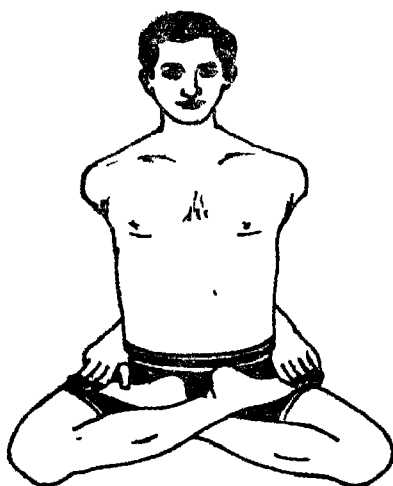
बद्धपद्मासन

यह आसन सरल नहीं है। स्थूलकाय व्यक्ति के लिए इस आसन का अभ्यास करना कठिन है। शरीर के स्नायुओं का लचीलापन बढ़ने पर इस आसन की स्थिति सहज साध्य है।

विधि—पद्मासन की स्थिति में बैठने के पश्चात् दायें हाथ को पीठ के पीछे से लाकर उसके द्वारा दांये पैर के अगूठे को तथा बाएं हाथ को पीठ के पीछे से लाकर उससे बायें पैर के अंगूठे को पकड़ना चाहिए। रीढ़, गर्दन एवं सिर सीधी रेखा में तना हो। तत्पश्चात् आंख बंद करके भ्रूमध्य ध्यान को एकाग्र करना चाहिये।

लाभ—इसके अभ्यास से छाती चौड़ी होती है। थाईराइड ग्रन्थि ठीक काम करती है, शारीरिक दुर्बलता दूर होती है एवं हाथ, गर्दन, कंधे पीठ, जांघ तथा पिण्डलियों की मांस पेशियों को शक्ति प्राप्त होती है। श्वास प्रश्वास की गति नियमित होती है तथा आसनाभ्यासी को हृदय विकार होने की सम्भावना नहीं रहती।

स्वस्तिकासन

इस आसन का आकार विश्व प्रसिद्ध शुभ चिन्ह स्वस्तिक के समान होता है, इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वस्तिक का अर्थ है—सीधा। क्योंकि इस आसन में सीधा बैठा जाता है इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं।

विधि—भूमि पर बैठकर दोनों पैर मोड़कर जंघा और पिण्डलियों के बीच दोनों पंजों को इस प्रकार रखा जाय कि दोनो पजे दोनों घुटनों के बीच में आ जायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को जघाओं के अन्त मे घुटनों के पास रखकर मेरुदण्ड सहित सम्पूर्ण शरीर को सीधा रखें। ध्यान रहे घुटने भूमि से उठने न पायें।

स्वस्तिकासन

श्वास स्थिति—सामान्य श्वास होना चाहिए।

लाभ—यह अत्यन्त सरल आसन है। इसमें काफी देर तक आराम से बैठा जा सकता है। इसलिए ध्यान आदि के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त आसन है। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों के पैर बहुत ठंडे या गर्म रहते हों, पसीना अधिक आता हो उन्हें इस आसान का नित्य अभ्यास करने से बहुत लाभ मिलता है।

सुखासन

रीढ़' गर्दन, और सिर को सीधे रखते हुये बैठने के सुखद आसन को सुखासन कहते हैं। पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि ध्यान के जो आसन हैं उन्हें भी यदि उनमें आराम से बैठा जा सके तो सुखासन की श्रेणी में रखा जा सकता है।

विधि—भूमि पर पालथी लगाकर बैठ कर दोनों हथेलियो को घुटनों पर रखा जाय अर्थात् पहले यदि दाये पैर का तलवा बांये पैर की जाँघ के निम्न भाग को स्पर्श करता है तो यह क्रम बदलकर बाँयें पैर के तलवे को दायें पैर की जांघ को स्पर्श कराते हुए रखा जाय। यह आसन पर्याप्त समय तक किया जा सकता है।
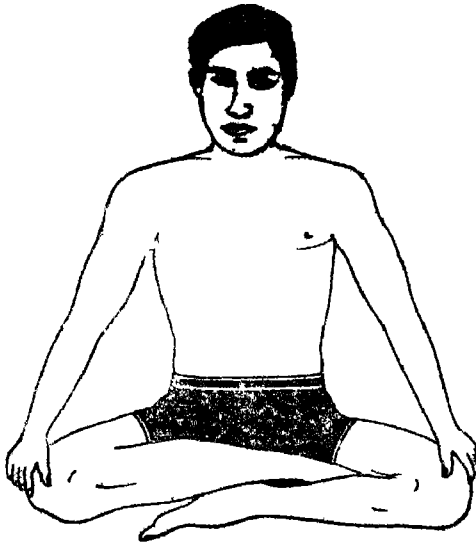
सुखासन

श्वास और समय—इस आसन मे श्वास साधारण रूप से लेते रहना चाहिये। एक मिनिट तक बैठने के बाद पैरो के क्रम को बदल देना चाहिये और एक मिनिट तक इसी अवस्था मे रहना चाहिये। इसके बाद दोनों पैरो को सामने फैलाकर एक मिनिट आराम करना चाहिये। यह आसन आवश्यकतानुसार बार-बार किया जा सकता है।

लाभ—ध्यान केन्द्रित करने के लिए यह आसन अति उत्तम है।

योग-मुद्रासन

चौरासी लाख आसनों में यह एक ऐसा आसन है जिसमें प्राणायाम की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुसरण करना आवश्यक होता है। सर्वप्रथम आसन की मुद्रा में कुम्भक प्राणायाम किया जाता है और कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है जिससे योगी का योग चरम सीमा पर पहुंच जाता है, इसीलिए इस आसन का नाम योग-मुद्रासन रखा गया है।
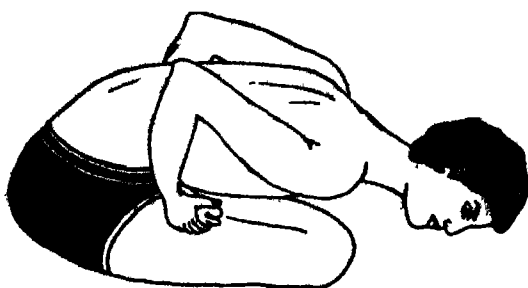
योग मुद्रासन

विधि—प्रथम भूमि पर बैठकर बायें पैर को उठाकर दाहिनी जंघा पर इस प्रकार रखा जाय कि बायें पैर की ऐड़ी नाभि के नीचे आ जाये। फिर दायें पैर को उठाकर बाईं जंघा पर इस प्रकार रखा जाय कि दोनों एड़ियां नाभि के नीचे आपस में मिल जायें अर्थात् पद्मासन की स्थिति मे बैठकर हथेलियो को समेटकर हथेली के पिछले भाग को दोनों पैरो की एड़ियो पर रखा जाय। पश्चात् हाथ कमर पर रख कर अंगुलियाँ आपस मे फंसा ली जाय। रीढ़ और गर्दन सीधी व दृढ़ रखें। दोनों कधे ऊपर उठाए जावें तथा हाथ तान कर रखे जावें। पूरक करते हुए प्राण वायु का ग्रहण किया जाय। अब सामने झुक कर माथे को भूमि पर टिकाया जाय। ऐसा करते समय पीठ न झुकाई जाय तथा उसे अधिक से अधिक सीधा रखने का प्रयत्न किया जाय। ध्यान रखें कि जांघ और नितम्ब भूमि से सटे रहे। बाहु शरीर से सटी रहे तथा कोहनी कोण बनाती रहें।

२. दूसरी विधि—दोनों हाथो को पीछे जहां रीढ़ और कमर मिलती है वहाँ ले जायें उसके बाद बायें हाथ की कलाई को दाहिने हाथ की हथेली से मजबूती से पकड़ लिया जाय और तब मस्तक को जमीन से लगाने के लिए धीरे-धीरे झुकाया जाय। जो व्यक्ति पद्मासन में कठिनाई का अनुभव करें वे सुखासन में बैठकर भी यह आसन कर सकते हैं। इस क्रिया में उदर पर अत्यधिक दबाव पड़ता है।

समय व श्वास स्थिति— यह क्रिया करते समय कुम्भक किया जाय। माथा जमीन से टेकने पर रेचक किया जाय तथा बाईं कुम्भक की स्थिति में ५-६ सेकण्ड तक रहा जाय। सामने झुकने के पहले श्वास को बाहर निकाला जाय और रेचक की स्थिति में मस्तक को जमीन से लगाया जाय। दस सेकेन्ड तक इस आसन में रहने के बाद धीरे-धीरे श्वास को अन्दर ग्रहण करते हुए पूर्व अवस्था में आया जाय और इतने ही समय तक पद्मासन में विश्राम किया जाय। यह आसन कम से कम पांच बार किया जाय। स्वाभाविक रूप से श्वास लेते हुए ५ से १० मिनिट तक इस आसन में रहा जा सकता है।

लाभ— इस आसन का नियमित अभ्यास करने से पाचन शक्ति की वृद्धि होती है। पेट, छोटी और बड़ी आंत के सभी प्रकार के विकार नष्ट हो जाते हैं, मलावरोध (कब्ज) दूर हो जाता है। निद्रा, तन्द्रा, तथा आलस्य दूर होकर मन में स्फूर्ति तथा उत्साह का संचार होता है। शरीर मे नवीन चेतना जाग्रत होती है। हृदय एव फेफड़े क्रियाशील हो जाते हैं। फेफड़ो की बीमारी मे यह आसान अवश्य करना चाहिये।

पवन मुक्तासन

इस आसन का अभ्यास करने से वायु सम्बन्धी विकार शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, अत इसे पवनमुक्तासन कहते हैं। अन्न नलिका, जठर, आन्त्र तथा मलाशय मे उत्पन्न हुई विकृत वायु का अनुलोमन होकर अधो (गुदा) मार्ग से बहि नि.सरण होता है।
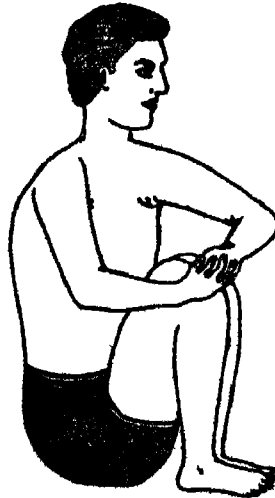
पवन मुक्तासन

विधि— भूमि पर सीधे बैठ कर सिर एवं रीढ़ को सीधा रखा जाय। घुटनों

को मोड़ कर और दोनों हाथो से इस प्रकार जकड़ा जाय, जैसा कि चित्र में बतलाया गया है। जांघों को पेट से और घुटनो को सीने से लगाया जाय। पंजे सटे रहें और एड़ियां नितम्ब को स्पर्श करती हुई हों। अब श्वास को बाहर निकलना आरम्भ किया जाय और इतनी निकाली जाय कि पेट अन्दर की ओर चिपक जाय, तब घुटनों से सीने को और जांघो से पेट को हाथो से जकड़ते हुए यथाशक्ति दबाया जाय।

इसके अतिरिक्त पीठ के बल लेट कर भी यह आसन किया जाता है। तदनुसार पीठ के बल लेट कर पैर सटे हुए तथा अंगूठे परस्पर मिले हुए हों। भुजाएं कान के निकट से पीछे की ओर ले जाकर हाथ ताने जावें और पैर सामने ताने जावें। इसके बाद प्रथम दाहिना पैर ऊपर उठा कर ४-५ सेकेण्ड तक स्थिर रखा जाय। बाद में ३०°, ४५° तथा ६०° पर ले जाकर हर बार ४-५ सेकण्ड तक स्थिर रखा जाय। पश्चात् पैर को घुटने मे मोड कर उदर प्रदेश तथा सीने पर जांघो को रख कर हथेलियों से पकड़ कर घुटना नीचे दबाया जाय। इससे उदर तथा सीने के दाहिने भाग पर अच्छा दाब पड़ता है। बांया पैर बिल्कुल तना रहना चाहिये।

श्वास की स्थिति– इस आसन मे रेचक करना चाहिये। रेचन क्रिया करते समय मन मे १ से १२ तक गिनती गिनना चाहिए, जिससे धीरे-धीरे पूर्ण रेचन हो सके। तदुपरान्त यथा शक्ति इसी अवस्था मे रहते हुए तीस सैकेन्ड से १ मिनिट तक कुम्भक याने श्वास रोकने का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ—इस आसान से पेट की दूषित अपान वायु बाहर निकलती है, कब्ज दूर होता है, यकृत, प्लीहा आदि अवयव स्वस्थ होते हैं। उनकी क्रिया नियमित होती है। आंत उतरने का रोग (हार्निया) इस आसन का अभ्यास के करने वालों को नहीं होता। कमर, घुटने एव जाघो मे रक्त सचार तीव्र होने से वे स्वस्थ और सबल होते हैं।

गोमुखासन

इस आसम में दोनों मुडे हुए घुटने जो एक दूसरे पर चढ़े हुए होते हैं, गाय के मुख के समान और दोनो पैर गाय के कानो के समान दिखते हैं इसलिए इस आसन को गोमुखासन कहते हैं।

विधि—भूमि पर पालथी लगाकर बैठा जाय, फिर बायें पैर की एड़ी को दाहिनी जांघ के नितम्ब भाग के मूल मे गुदा के पास लगाया जाय, अब दाहिनी जांघ को बायें पैर की पिंडली के ऊपर भार देते हुए घुटनों को मोड़कर बाई जांघ के मूल से दाहिनी एड़ी को सटाकर लगाया जाय। ध्यान रहे कि दोनो पैर के पंजे सीधे होकर जमीन से लगे रहें। इस अवस्था में दोनों पैर गाय के कानों के समान दिखाई देंगे और एक घुटना, दूसरे के ठीक ऊपर होगा जो गाय के मुख के समान दिखाई देगा। अब दाहिने हाथ को

पीछे ऊपर उठाया जाय और कोहनी मोड़कर पीठ पर हाथ को रखा जाय। बायें हाथ को नीचे से मोड़कर दाहिने हाथ के पास लाया जाय और दोनो हाथों को उंगलियो का
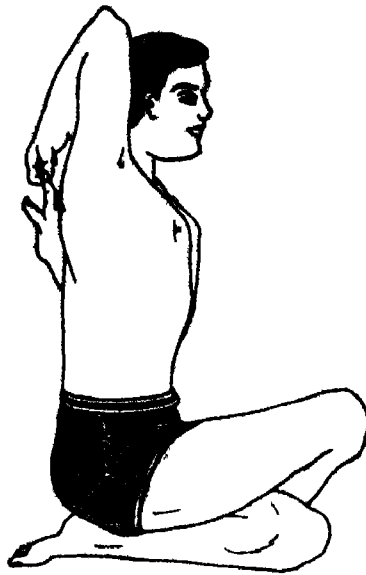
गोमुखासन

"हुक" बनाते हुए जकड़ लिया जाय। जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है। रीढ़ एवं गर्दन को सीधा रखा जाय, दृष्टि को सामने रखा जाय। दो मिनट बाद पैर व हाथ दोनों की स्थिति बदली जाय।

श्वास स्थिति—स्वाभाविक व सामान्य रूप से श्वास लेते रहें।

लाभ—इस आसन से हाथ एव पैरो की मांसपेशिया दृढ़ होती हैं। मूत्राशय सम्बन्धी विभिन्न-विकार मधुमेह, प्रमेह, प्रदर, धातु दौर्बल्य, स्वप्नदोष आदि रोग दूर होते हैं। पैरों तथा जाघो की रक्त वाहिनियां व मज्जा तन्तु स्वस्थ एवं कार्यक्षम होते है जिससे आमवात, गठियावात, पीठ का दर्द तथा अन्य वात रोग दूर होते हैं। जिन्हें नींद नहीं आने की बीमारी हो उन्हे सोने से पूर्व यह आसन करना चाहिए।

नोट—पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि उसकी जनेन्द्रिय जांघों के बीच न दबे।

वज्रासन

इस आसन का अभ्यास करने से शरीर वज्र के समान सुदृढ़ हो जाता है। अतः इसे वज्र आसन कहा गया है।

विधि—इस आसन की स्थिति बहुत कुछ मुसलमान लोग जिस स्थिति में नमाज पढ़ने बैठते हैं, उस स्थिति से मिलती-जुलती है। भूमि के ऊपर दोनों पिण्डलियों को पीछे की ओर मोड़कर इस प्रकार बैठा जाय कि नितम्ब दोनों एड़ियों के बीच में रहे, पैरों के तलवे खुले रहें तथा घुटने आपस में जुड़े रहें। शरीर तना हुआ, गर्दन सीधी तथा नजर सामने स्थिर रहे। दोनों हाथ घुटनों पर तान कर रखे जावें। पिंडलियों का जितना भाग जमीन को छूता रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा। शरीर का सारा बोझ घुटनों व पिण्डलियों पर रखा जाय।
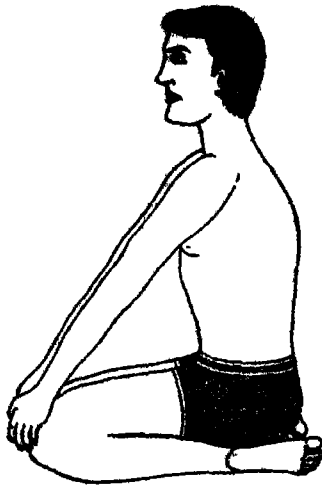
वज्रासन

सुप्तवज्रासन

विधि—स्वाभाविक रूप से मध्यम श्वास लिया जाय।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से शरीर सुदृढ़ होता है, भोजन के बाद १५-२० मिनिट तक वज्रासन करने से अन्न पाचन होने में सहायता मिलती है, पाचन शक्ति बढ़ती है, उदर मे वायु विकार व मल बद्धता दूर होती है। रीढ़, कमर, जांघ, घुटने और पिंडलियों में ताकत आती है। कमर व पैरों का वात रोग, गृध्रसीवात रोग दूर होता है एवं सम्पूर्ण शरीर वज्र के समान कठोर व शक्तिशाली हो जाता है।

सुप्तवज्रासन—वज्रासन का एक अवान्तर प्रकार सुप्तवज्रासन है जो वज्रासन की अपेक्षा कुछ कठिन है। इसमें कुछ सावधानी भी अपेक्षित है। इसकी विधि यह है प्रथम वज्रासन की स्थिति में बैठा जाय। घुटनों पर रखे हाथ उठा कर कूल्हों के दोनों ओर रखे जावें। कमर से ऊपर का भाग धीरे-धीरे पीछे झुकाया जाय। दोनों कोहनियां

भूमि पर टिकाएं, हाथ भी जमीन पर रखे जावें। पश्चात् हाथ आगे सरकाएं और सिर जमीन से टिकाया जाय। गर्दन के पीछे दाहिने पंजे से बांया और बाएं पंजे से दाहिना कंधा पकड़ कर हाथों की बनी हुई कैंची पर सिर टिकाया जाय। घुटने पूर्ववत् परस्पर मिले रहें। सुप्तवज्रासन की यह पूर्ण स्थिति है। कुछ क्षण तक इस स्थिति में रहने के बाद सिर के नीचे से हाथों का सहारा हटा कर दोनों हाथ शरीर के बगल में समानान्तर रखें तथा हाथो के पंजे भूमि पर हो। पश्चात् सिर ऊपर उठाए, कोहनियों से सहारा लेकर पीठ एव कमर ऊपर उठाई जाय। कोहनियां उठा कर तथा हाथ पीछे खीच कर सीधे बैठ जावें। हाथ पूर्ववत् घुटनो पर रखें।

कूर्मासन

इस आसन की स्थिति में मनुष्य की पीठ, कूर्म अर्थात् कछुए की पीठ के समान दिखाई देती है, इसलिए इसे कूर्मासन कहा गया है।

विधि—भूमि पर दोनो पैर पीछे की ओर मोडकर इस प्रकार बैठा जाय कि दोनों एडियां दोनो नितम्बो के नीचे आ जायें और पैरो के पंजे आपस मे सटे हुए छूते रहें, याने वज्रासन की स्थिति मे बैठा जाय। फिर दोनो हाथो की मुट्ठी बांधकर दोनों कोहनियों को आपस मे मिलाकर नाभि के पास रखी जायें। ध्यान रहे कि हथेली का हिस्सा ऊपर की ओर रहे और शरीर को जितना झुकाया जा सके उतना आगे की ओर झुकते हुए झुकाया जाय। सिर सीधा एव दृष्टि को सामने रखे।

श्वास स्थिति—इस स्थिति मे जब तक श्वास को रोका जा सके, रोका जाय, तदुपरान्त धीरे-धीरे सिर को ऊपर ले जाकर सीधे बैठा जाय एवं सामान्य श्वास लिया जाय।

लाभ—इसके अभ्यास से कन्धे, भुजायें, कोहनी, जांघ, घुटने तथा पिण्डलियों का उत्तम व्यायाम हो जाता है। पेट के विभिन्न रोग दूर होते हैं, यकृत स्वस्थ होता है। जिनके मल के साथ आव आती हो उनके लिये यह आसन बड़ा लाभप्रद है। स्त्रियों बच्चो एव वयस्को सभी के लिये यह आसन लाभप्रद है। १०-१५ मिनिट तक इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की ऊष्मा मे वृद्धि हो जाती है। इस आसन के द्वारा बर्फीले स्थान में भी योगी शीत से प्रभावित नही होते।

शशकासन

शशक अर्थात् खरगोश शिकारी के भय से किसी झाड़ी या बिल में अपना सिर छिपा कर बैठ जाता है और सोचता है कि शिकारी मुझे नहीं देख पा रहा है। छिपने के समय खरगोश की जो स्थिति होती उसी से मिलता-जुलता यह आसन है। इसी लिए इसे शशकासन कहा जाता है।

विधि—प्रथम वज्रासन की स्थिति में बैठ जाय, पश्चात् दोनों हाथों के पंजों से दोनों एड़ियों को इस प्रकार पकड़ा जाय कि चारों अंगुलियां पैर की एड़ियों पर
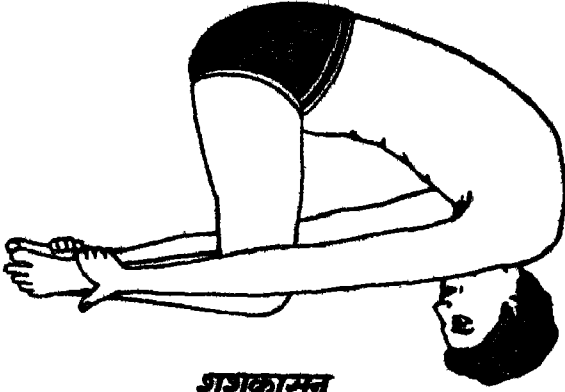
शशकासन

और अंगूठा पैर के ऊपरी भाग पर पड़े। इसके बाद दोनों घुटनों, पिण्डलियों तथा पावों को वज्रासन की स्थिति मे रखते हुए नितम्ब को ऊपर उठाते हुए सामने की ओर झुका जाय, कि जैसा चित्र में दिखलाया गया है। माथे को घुटने के पास की जमीन से तथा ठोड़ी को कंठ से सटाया जाय, ऐसा करने से पीठ धनुषाकार हो जायगी। ध्यान रहे कि एड़ियों को पकड़ी हुई बाहुए सीधी और तनी हुई हों।

समय और श्वास—प्रथम श्वास को बाहर निकाल कर आगे झुकना प्रारम्भ किया जाय। इस आसन में १० से १५ सैकेण्ड तक रहने के बाद पुनः पूर्व अवस्था में आते समय श्वास अन्दर ली जाय। यह प्रक्रिया ५ से १० बार की जाय। अभ्यास के द्वारा आसन की अवधि एक मिनट तक बढ़ाई जाय।

लाभ—इसके अभ्यास से रीढ़ की हड्डी लचीली एवं मजबूत होती है। यकृत, प्लीहा एवं आंत्र स्वस्थ होते हैं, पाचन शक्ति बढ़ती है।

मत्स्येन्द्रासन एवं अर्ध मत्स्येन्द्रासन

इस आसन को महान् योगी मत्स्येन्द्र नाथ करते थे। उन्होंने इसका आविष्कार एवं प्रवर्तन किया। अतः उन्हीं के नाम पर इसका नामकरण हुआ और यह आसन मत्स्येन्द्रासन कहलाया। पश्चिमोत्तानासन एवं हलासन मे मेरुदण्ड आगे मुड़ता है जबकि धनुरासन, भुजगासन और शलभासन में मेरुदण्ड पीछे मुड़ता है। उपर्युक्त आसनों के द्वारा मेरुदण्ड को केवल आगे या पीछे की ओर मोड़ना ही पर्याप्त एवं लाभप्रद नहीं है, उसे दोनों बगलों की ओर मोड़ना भी आवश्यक है, ताकि मेरुदण्ड लचीला हो सके। मत्स्येन्द्रासन से इस कमी की पूर्ति हो जाती है।

विधि—प्रथम भूमि पर पैर फैलाकर बैठा जाय। फिर बायें पैर को दाहिने जाँघ पर इस प्रकार रखा जाय, कि एड़ी नाभि के पास आ जाय तब दाहिने पैर को बायें घुटने पर इस प्रकार रखा जाय कि पैर खड़ा रहे और उसका पंजा घुटने के सहारे बाहर की ओर भूमि पर जमा रहे। बायें हाथ को दाहिने पैर के घुटने के बाहर से ले जाकर
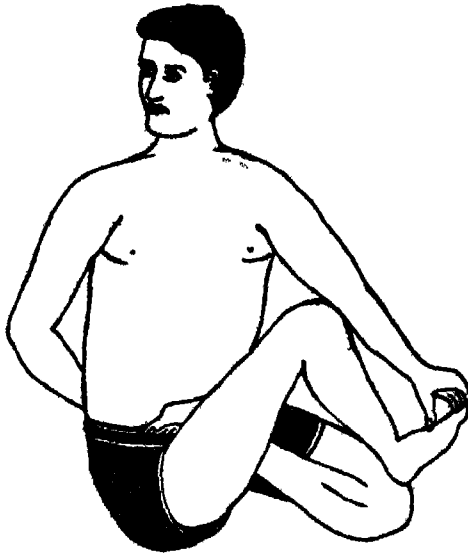
मत्स्येन्द्रासन

उसका अंगूठा मजबूती से पकड़ा जाय। अब दाहिने हाथ को पीठ की तरफ से घुमाकर लाया जाय और बांई एड़ी को पकड़ा जाय जिससे मुख और शरीर दाहिनी बगल वाली पीठ की ओर घूम जाय और रीढ़ मरोड़ जाय। दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थित किया जाय। ध्यान रहे छाती व गर्दन आगे की ओर न झुकने पावे। यही स्थिति विपरीत पैर करके दूसरी ओर से की जाय।

श्वास स्थिति— सामान्य गति से मध्यम श्वास धीरे-धीरे लेते रहें।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा अर्धमत्स्येन्द्रासन अधिक सरल एवं सुविधाजनक है। अतः जो व्यक्ति मत्स्येन्द्रासन करने में सक्षम न हो उन्हें अर्धमत्स्येन्द्रासन का अभ्यास करना चाहिये।

विधि—आसन पर बैठ कर दोनों पैर सीधे फैलाए जावें। एड़ियाँ और अंगूठे परस्पर मिले हुए हों, पृष्ट भाग की रीढ़ एक सीध में हो। जाँघ के पास हाथ के पंजे भूमि पर रखे जावें, हाथ तने हुए हों। दाहिना पैर घुटने से मोड़कर उसकी एड़ी को गुदा और वृषण के बीच की सिरा पर दृढ़ता से रखा जाय। पश्चात् बायां पैर घुटने से

झुका कर बाएं हाथ से बायीं जांघ तथा दाहिने हाथ से बाएं पैर का तलुआ पकड़ कर उसे दाहिनी जांघ पर से लेकर दाहिने घुटने के समीप सीधा खड़ा रखा जाय। पश्चात् बाएँ हाथ से बायीं जाँघ दाहिनी ओर दृढ़ता से दबाई जाय। इससे मेरुदण्ड विरुद्ध दिशा में कुछ झुकेगा तथा ऐंठेगा। पश्चात् दाहिने हाथ से बाएं घुटने को घुमाकर दाहिनी कांख में बायां घुटना दबाया जाय। दाहिना हाथ बाएँ पैर की ओर झुका कर अंगुलियो से बाएं पैर का अगूठा दृढ़ता से पकड़ा जाय। इसमे कमर की कशेरुकाएँ तथा पीठ के नीचे की कशेरुकाएं बाईं ओर झुकते हुए एठती हैं।

इस आसन से मेरुदण्ड का उत्तम व्यायाम होता है, वह पूरी तरह दाहिने एवं बाईं ओर मुड जाता है, जिससे मेरुदण्ड अधिक लचीला व कार्यशील होता है। इसके प्रभाव से मस्तिष्क चैतन्यशील होता है, पीठ, हाथ, पैर आदि अवयवों की मांस-पेशियों में पर्याप्त खिचाव होता है, साथ ही सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त का संचार होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है, जिससे आमवात, कटिशूल, कृमिरोग आदि विकार नष्ट होते हैं।

अर्धमत्स्येन्द्रासन से लाभ

१ रीढ़ की कशेरुकाएं जो कमर से गर्दन तक फैली रहती हैं दोनों ओर उत्तम रीति से ऐंठी जाने से वे उत्तम लचीली तथा स्वस्थ होती हैं। २. रीढ़ के स्वस्थ रहने के कारण शरीर की इन्द्रियाँ उत्तम कार्यक्षम होती हैं तथा शरीर मे उत्साह एव चैतन्य निर्माण होता है जिससे वृद्धावस्था दूर रहती है। ३. पीठ की रीढ़ के दाहिने या बायीं ओर के किसी भाग मे झुकाव पैदा हुआ हो या कोई कशेरुका या अंतरेन्द्रिय स्थान भ्रष्ट हो गई हो तो इस आसन के अभ्यास से वह दूर होता है। ४. फेफड़ो पर हेर फेर से दोनो ओर से दाब एवं तनाव पड़ने के कारण वे लचीले तथा जीवट होकर उनकी आकुञ्चन एवं प्रसरण क्षमता बढ़ती है। इससे दमा-खांसी तथा श्वासवह सस्थान की व्याधियां दूर होती हैं, साथ ही प्राथमिक अवस्था के क्षयरोग की रोकथाम होती है। ५. उदर पर पडने वाले दबाव एव ऐंठन तथा दीर्घ प्रश्वास के कारण अशुद्ध रक्त प्रवाह को तीव्र गति मिलती है जिससे हृदय व फेफड़ों में रुधिर की शुद्धि तेजी से होकर शरीर के समस्त अवयवो को विशुद्ध रक्त की आपूर्ति शीघ्र होती है जिससे उन अवयवों की क्रिया में अपेक्षित सुधार होता है। ६. इस आसन मे प्रतान शक्ति की परस्पर विरोधी क्रियाएँ होती हैं जिससे रीढ़ के समीप के महत्त्वपूर्ण स्नायुओं, पृष्ठ भाग के स्नायुओं तथा अंतःस्थ स्नायुओं का उत्तम व्यायाम होता है, उनकी उत्तम मालिश भी होती है। ७. बद्धकोष्ठता एवं अग्निमांद्य, यकृत्-प्लीहा वृद्धि तथा मूत्रपिण्डों के विकार इत्यादि दूर होते हैं। ८. कमर, पीठ तथा जाँघ की संधियों का वात विकार दूर होता है। ९. रीढ़ उत्तम लचीली होती है, उसे उत्तम बल प्राप्त होता है तथा इसके कारण विविध रोग दूर होते ही हैं, साथ ही आध्यात्मिक शक्ति भी विकसित होती है।

जानुशिरासन

जानु कहते हैं घुटनों को। इस आसन में सिर को घुटनों पर रखा जाता है, अतः इसे जानुशिरासन कहते हैं।
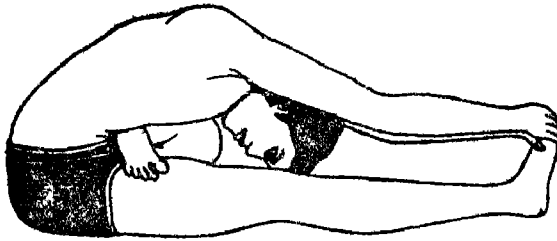
जानुशिरासन

विधि—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठा जाय। प्रथम बायें पैर को इस प्रकार मोडा जाय कि उसका पंजा व एडी दाहिनी जाँघ के ऊपर आ जाय। दायाँ पैर सीधा ही रहे। अब दोनो हाथो से दायें पैर के पंजे या उसकी अगुलियो को पकड़ कर शरीर को आगे की ओर मोडते हुए सिर का मस्तक भाग दाहिने पैर के घुटने पर लगाने का प्रयत्न किया जाय। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि घुटना बिल्कुल भी मुडने न पावे। दो मिनिट तक इसी स्थिति मे रहने के बाद सिर उठाकर तथा बायाँ पैर सीधा कर सामान्य स्थिति मे आकर विश्राम किया जाय। इसी प्रकार की क्रिया बायें पैर से की जाय।

श्वास स्थिति—स्वाभाविक रूप से मध्यम श्वास ली जाय।

लाभ इस आसन का नियमित अभ्यास करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूत्राशय, यकृत और प्लीहा के रोग ठीक होते हैं। अन्तस्रावि ग्रन्थि जैसे अग्न्याशय (pancriyas) स्वाभाविक रूप से अपना कार्य सम्पन्न करती है और इन्सुलिन नामक स्राव उत्पन्न करती है जिससे मधुमेह व्याधि नियन्त्रित होती है। अतः मधुमेह के रोगियों को इस आसन से बहुत लाभ होता है। स्थूलकाय व्यक्तियों के बढ़े हुए पेट को कम करने के लिये तथा स्थूलकाय स्त्रियों के लिए भी यह आसन अत्यधिक लाभकारी है।

टिप्पणी—गर्भवती स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

वृश्चिकासन

इस आसन की स्थिति में शरीर का आकार वृश्चिक (बिच्छू) की भाँति हो जाता है, अतः इसे वृश्चिकासन कहते हैं।

विधि—प्रथम भूमि पर कम्बल बिछाकर दोनों पैरों के पंजों एवं घुटनों के बल बैठा जाय। हाथ के दोनों पंजों को भूमि पर फैलाते हुए दोनों कोहनियों एवं पंजों को
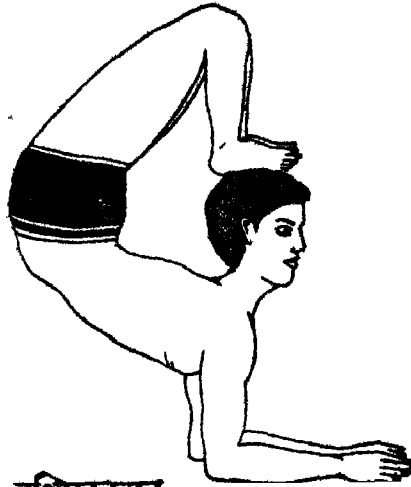
वृश्चिकासन

थोड़े फासले पर जमा दिया जाय और कोहनी से ऊपर दोनों बाहुएं सीधी रखी जावें। सम्पूर्ण शरीर कोहनी एव घुटनो पर आधारित रहे तथा सिर भूमि से ऊपर ही उन्नत स्थिति मे रहे। अब एक झटके के साथ शरीर को पीछे की ओर मोड़ते हुए दोनों पैर ऊपर उठाते हुए उन्हे इस प्रकार से उल्टा जाय कि दोनों पैर एक साथ उलट कर सिर के ऊपर आ जायें तथा छाती और कमर एक कमान के जैसा आकार ग्रहण कर ले। जहाँ तक सम्भव हो सके सिर और गर्दन को इस प्रकार मोड़ा जाय कि दोनों पैर सिर का स्पर्श करने लगें। यह एक कठिन आसन है जो सरलता से नहीं किया जा सकता है। अतः इस आसन के अभ्यास के समय सावधानी विशेष रूप से अपेक्षित है।

श्वास स्थिति—प्रथम पूरक कर कुम्भक की स्थिति में आसन किया जाय, फिर रेचन करते हुए पूर्व की स्थिति में आ जायें।

टिप्पणी यह एक क्लिष्ट आसन है, अतः योग्य गुरु के निर्देशन में ही इसका अभ्यास किया जाय।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से मेरुदण्ड लचीला होता है। गर्दन की माँस-पेशियाँ सुदृढ़ एवं मजबूत होती हैं सीना चौड़ा होता है तथा शरीर हल्का होकर मेदो रोग (मोटापा), पाण्डु रोग, कृमि रोग, आमवात तथा अजीर्ण रोग नष्ट होता है।

ताड़ासन

ताड़ासन

इस आसन में शरीर की स्थिति ताड़ या खजूर के वृक्ष के समान लम्बे रूप में होती है, अतः इसे ताड़ासन कहते हैं।

विधि—दोनों पैरों के पंजो को ३० डिग्री पर खोलते हुए दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाते हुए सावधान की स्थिति में खड़े हो जायें। दोनों हाथो को एक साथ बगल से धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए सिर के ऊपर ले जाकर दोनों हथेलियों को परस्पर एक दूसरे के सम्मुख रखा जाय। साथ ही दोनो पंजो के बल शरीर को ऊपर उठाया जाय तथा हाथो से शरीर को ऊपर खींचने का प्रयास किया जाय। ध्यान रहे कि सम्पूर्ण शरीर का भार पंजो पर ही रहे।

श्वास स्थिति—हाथो को धीरे-धीरे ऊपर ले जाते समय पूर्ण पूरक करते हुए कुम्भक की स्थिति मे यह आसन किया जाय। यथा साध्य १ से २ मिनिट तक ताडासन की स्थिति में रहने के बाद धीरे-धीरे रेचन करते हुए सावधान की स्थिति मे आ जायें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से शरीर की लम्बाई, शक्ति तथा आयु में वृद्धि होती है। छाती चौडी होती है। फेफडे, पुष्ट व सक्रिय होते हैं। पिण्डली, जंघाओ, एवं भुजाओ की मासपेशियों के खिचाव से शरीर सुडौल एव सुन्दर बनता है। पाचन शक्ति तीव्र होती है स्त्रियो मे शरीर सौष्ठव के लिए यह आसन अत्यन्त लाभकर है।

त्रिकोणासन

यह आसन खड़े होकर किया जाता है। इसमें आसन कर्ता का शरीर त्रिकोण के समान हो जाता है, अत: इसे त्रिकोणासन कहते हैं।

विधि—सीधे खड़े होकर दोनों पैरो को एक-दूसरे से लगभग दो फुट की दूरी पर रखा जाय। दोनों हाथ दोनों बगल मे सीधे लटके हुए हों। रीढ़ की हड्डी को दाहिने या बाईं ओर इस प्रकार मोड़ा जाय कि कमर से ऊपर का सम्पूर्ण भाग दाहिने या बाईं ओर झुक जाय। यदि बाईं ओर झुका जाय तो उसके साथ ही दाहिनी बाहु

को सिर से सटाते हुए ऊपर की जाय तथा उसे भी शरीर के वाम पार्श्व की ओर झुकाते हुए फैलाया जाय। अब बाईं बाहु को घुटने से नीचे टखने की ओर अधिकाधिक ले जाने और इसका स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाय, यहाँ तक कि बाएं पैर का अंगूठा पकड लेवें। यही क्रिया दाहिनी तरफ दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकडते एवं बाएँ हाथ को दाहिनी ओर झुकाते हुए दोहराई जाय।
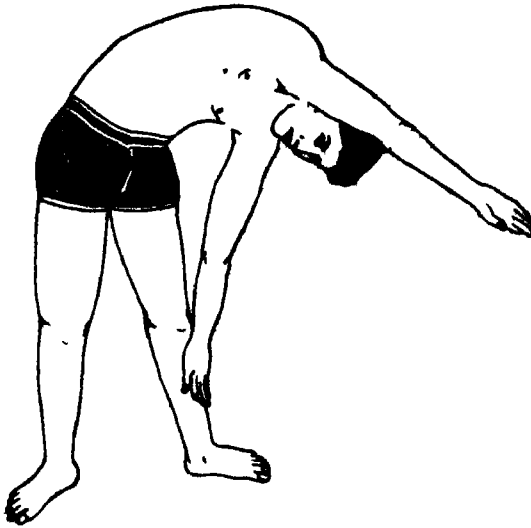
त्रिकोणासन

श्वास स्थिति—पूरक कर कुम्भक की अवस्था मे यह आसन किया जाय तथा रेचक करते हुए सीधे खडे हो जाये।

लाभ—मेरूदण्ड की समस्त कशेरूकाओ एव मॉसपेशियो मे खिचाव पड़ने के कारण वे लचीली होती हैं। पीठ व कमर में वेदना विशेषत गृध्रसी बात मे इस आसन के अभ्यास से बहुत लाभ होता है। क्योंकि इसमे पूरे पैर एवं नितम्बो की पेशियों का पूरा तनाव (खिचाव) होने से पृष्टवंश, कटिप्रदेश, नितम्ब एवं उरू आदि अंगों पर अपेक्षित एव पूर्ण प्रभाव पडता है। यह आसन अधिक कठिन नहीं है, इसे सुविधा पूर्वक किया जा सकता है, अतः स्त्रियाँ भी इसे आसानी से कर सकती हैं। इससे शरीर में स्थित अनावश्यक मेद का क्षय होता है जिससे मुटापे मे कमी होती है तथा शरीर सुडौल बनता है। कमर, पीठ एवं गर्दन के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

उत्कटासन

इस आसन मे उकड होकर बैठा जाता है, अत. यह उत्कटासन कहलाता है। कट शब्द मे उत् उपसर्ग जोडने से उत्कट शब्द बनता है। उत् शब्द का अर्थ है ऊर्ध्व। घेरण्ड सहिता मे उत्कटासन का वर्णन मिलता है जो सक्षेप मे इस प्रकार है—

एड़ियाँ ऊँची उठाकर पजो के बल पर खडे रहे तथा धीरे-धीरे एड़ियो पर बैठें। उत्कट आसन के विविध प्रकार है तथा प्रत्येक का शरीर पर भिन्न-भिन्न परिणाम होता है।
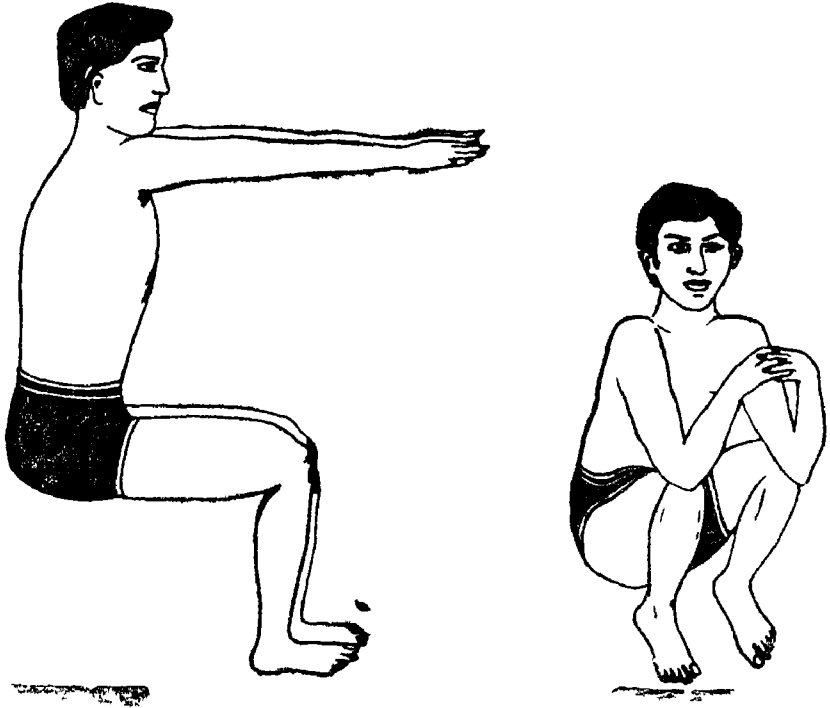
आसन करने की प्रथम विधि—पहले सीधे खडे रहे, पांव आपस मे सटे रहे, हाथ कमर पर रखें और हाथ की उगलिया नाभि के दोनो तरफ हो तथा अगूठे पीछे हो। अब धीरे-धीरे एड़िया ऊपर उठाई जावें और पंजो के बल पर खडे रहने का प्रयत्न किया जाय। इस समय सम्पूर्ण शरीर का भार पैरो की उगलियो पर होगा। एकाग्र चित्त से इस स्थिति का अभ्यास किया जाय। इससे शरीर का भार सभालना सुगम होगा। यदि भार संभालते न बने तो किसी का आधार ले लिया जाय। अब घुटनो मे दोनो उरुओ को धीरे-धीरे तब तक झुकाया जाय जब तक पैरो की उगलियाँ तथा मुडे हुए घुटने सीधी रेखा मे नही आते हैं। अधिक झुकने से घुटने पैरो के आगे

हो जाएगे जो उचित नहीं है। कमर से सिर तक शरीर को सीधा रखा जाय। आसन की यह पूर्वस्थिति है। इस अवस्था मे १५ सेकण्ड तक रहना चाहिए। इसके बाद पुन. पूर्व स्थिति मे खडे होना चाहिये। इस आसन के ३ से ५ आवर्तन किए जावे।

द्वितीय विधि - सीधे खडे होकर हाथ कमर पर रखें। एडियां मिली हो तथा अंगूठो के बीच एक फुट का अन्तर हो। एडियाँ ऊपर उठाई जायं तथा पूरक किया जाय। धीरे-धीरे नीचे झुकते हुए रेचक किया जाय। नीचे आने पर श्वास प्रश्वास की गति स्वाभाविक एव साधारण होनी चाहिये। पश्चात् घुटनो को बगल मे फैलाया जाय और घुटने सीधी रेखा मे हो। प्रारम्भ मे घुटनो को अधिक फैलाना सम्भव नही होता है। क्योंकि स्नायुओ मे लचीलापन कम रहता है, अत सुगमता से वे जितने फैल सके उतने फैलाये जाय। इस स्थिति मे पन्द्रह सेकेण्ड तक रहा जाय। बाद मे इसकी अवधि धीरे एक मिनिट तक बढाई जाय। पूर्व स्थिति मे आने के समय पुन: पूरक किया जाय तथा नीचे जाते समय रेचक किया जाय। आसन के सारे आवर्तन होने तक यह काम चालू रखा जाय। प्रारम्भ मे तीन आवर्तन करे। अभ्यास होने पर ५-६ आवर्तन किए जा सकते है। अन्तिम आवर्तन के अन्त मे रेचक कर पूर्व स्थिति मे आए।

तृतीय विधि—सीधे खडे होना चाहिये तथा हाथ कमर पर रखे हुए हो। घुटने, अगूठे तथा एडियाँ मिली हुई हो। पश्चात् एडियाँ ऊँची उठाई जायं तथा धीरे धीरे नीचे इतना झुके कि नितम्ब और एडियो मे ५-६ इंच का अन्तर हो। इस स्थिति मे घुटने बहुत सामने आएगे तथा जमीन से समानान्तर रहेगे। अब उदर कुछ अन्दर दबाया जाय। कमर से ऊपर का भाग सीधा हो, दृष्टि सामने हो। पजो पर शरीर का सारा भार होने से उन पर तनाव पडता है, अत: इस अवस्था मे रहना सरल नही है। प्रथम इस स्थिति मे चार पाच सेकण्ड तक रहने का अभ्यास किया जाय। पश्चात् अवधि पन्द्रह सेकण्ड तक बढ़ाई जाय। इस विधि से आसन के तीन आवर्तन किए जावें।

चतुर्थ विधि— बैठ कर पाँव सीधे फैलायें और हाथ बगल मे रखें। पैर घुटनो मे मोडकर जांघो के समीप लाये। एडियाँ तथा नितम्ब को जमीन से ऊंचा उठाये। एडियाँ परस्पर सटा कर रखें। घुटनो को बगल मे अधिक फैलाये। हाथ कमर पर रखे। दोनो घुटने सीधी रेखा मे हो। यह आसन की सर्वोत्तम स्थिति है। नितम्ब एडियो पर ही रखें। इस स्थिति मे पैरो के अंगूठो मे ६ इंच का अन्तर हो। हथेलियाँ घुटने पर रख कर उनसे घुटने दबायें। पेट भीतर दबाया जाय। ठुड्डी नीचे हृदय की ओर हो तथा श्वास प्रश्वास की गति सामान्य हो। प्रारम्भ मे पन्द्रह सेकेण्ड तक इस आसन का अभ्यास किया जाय तथा पर्याप्त अभ्यास के पश्चात् ५ मिनिट तक किया जाय।

ऊपर बतलाये गए उत्कटासन के चारों प्रकारो की अपनी अलग-अलग विशेषता है। परन्तु सामान्य रूप से निम्न लाभ इस आसन से होते हैं—

१— पैरों के अंगूठे सहित उंगलियों पर सम्पूर्ण शरीर का भार पड़ने से उनकी दृढ़ता एवं शक्ति बढ़ती है।

२— वज्रासन मे तलवे अन्तर्वक्र होते हैं, जबकि इस आसन मे वे बहिर्वक्र होते हैं। वज्रासन के पश्चात् उत्कटासन करने से पैरो के अंगूठो तथा उंगलियो के स्नायुओ तथा अस्थि बंधनो पर उत्पन्न हुआ तनाव दूर होकर वे सामान्य स्थिति मे आते हैं।

३— कमर के स्नायुओ पर उत्तम परिणाम होता है जिससे कटिशूल तथा कमर का सन्धिवात रोग दूर होता है।

४— आसन के दूसरे प्रकार मे जांघ तथा पैरो के स्नायु उत्तम तनते हैं। जाघ, पिण्डलिया तथा कमर शक्तिशाली होती है। बैठक व्यायाम से जो लाभ होता है वही लाभ इस आसन के १४-१५ आवर्तन करने से भी होता है। पूरक एव रेचक पूर्वक आसन करने के कारण फेफड़े तथा हृदय बलवान होता है तथा छाती चौडी होती है।

५— इस आसन के दूसरे तथा चौथे प्रकार मे घुटनो के बगल में अधिक फैलने के कारण श्रोणि प्रदेश पर अपेक्षित अनुकूल प्रभाव पडता है जिससे मूत्र-पिण्डादि उत्सर्जक इन्द्रिया अधिक कार्यक्षम होती है।

६— इस आसन का लैङ्गिक इन्द्रिय पर भी अनुकल परिणाम होता है। इस आसन के कारण उसकी नसनाडियो को विपुल रक्त की पूर्ति होती है जिससे वे बलवान होती है। उत्कटासन के अभ्यास मे हाथी पाव रोग पर अपेक्षित एव उत्तम परिणाम होता है। इस सम्बन्ध मे योगीजनो का अनुभव है कि जिसका रोग बडा नहीं है वह यदि अन्य विविध आसनो के साथ उत्कटासन तथा गरूडासन का अभ्यास कम से कम ८ से १० मिनिट तक एक वर्ष भर करता है तो उसे आशातीत लाभ होता है।

सर्वाङ्गासन

सर्वाङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण शरीर के समस्त अगो का व्यायाम जिस आसन से होता है वह सर्वाङ्गासन कहलाता है। योगीजन इसे आसनो का सम्राट मानते हैं। इसका कारण यह है कि इस आसन का नित्य एव नियम पूर्वक अभ्यास करने से अनेक रोग होने का भय समाप्त हो जाता है। जिससे जीवन आरोग्य सम्पन्न होकर सुख पूर्वक व्यतीत होता है। अकालजनित बुढापा नही आ पाता है और यौवनावस्था की स्थिति सुदीर्घकाल तक बनी रहती है। इस आसन के अभ्यास से महिलाओ की कुछ विशेष व्याधियाँ दूर होती है। अत. इनके लिए भी यह आसन उपयोगी है।

आसन करने की विधि

सर्व प्रथम भूमि पर एक मोटा कम्बल बिछाकर उस पर चित होकर पीठ के बल सीधे लेटना चाहिये। पैर एक रेखा में सीधे रखे हो, दोनों हाथ भूमि पर शरीर के समानान्तर नितम्ब से सटे हुए हो तथा हथेलियाँ भूमि पर हो। सम्पूर्ण शरीर शिथिल छोड़कर दीर्घ श्वसन किया जाय और धीरे-धीरे श्वास बाहर छोडी जाय। घुटने सीधे

रखकर पैर धीरे धीरे ऊपर उठायें तथा जमीन से ४५ अंश का कोण बनाया जाय। इस स्थिति मे कुछ सेकंड स्थिर रहने के पश्चात् पैर और ऊपर उठाकर ९० अश के कोण पर स्थिर रखा जाय। इस स्थिति मे पुन कुछ सेकेण्ड स्थिर रहें। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जायगा वैसे-वैसे उपर्युक्त स्थिति मे स्थिर रहने का समय बढ़ाते जाएँ। प्रारम्भ मे घुटनो के पिछले स्नायुबंधो पर विशेष तनाव का अनुभव होगा। किन्तु धीरे-धीरे वह कम होकर पश्चात् बिलकुल भी प्रतीत नहीं होगा। अब धीरे-धीरे कमर तथा पीठ जमीन से ऊपर उठाकर तथा कमर को हाथो का आधार देकर कोहिनी,
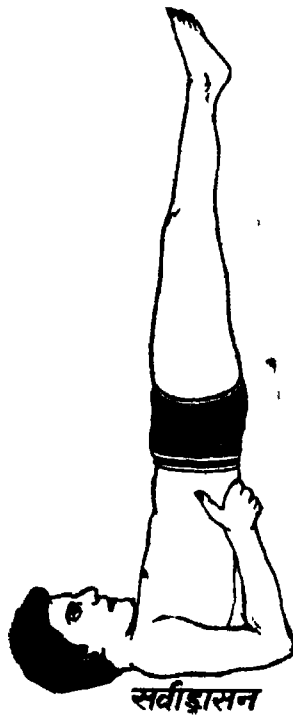
सर्वाङ्गासन

गर्दन का पिछला भाग तथा कंधो के आधार पर सम्पूर्ण शरीर स्थिर रखा जाय। सम्पूर्ण सिर गर्दन से समकोण करता हुआ स्थिर रहना चाहिए। ठड्डी गले के गड्ढे के पास रहनी चाहिए। इसे जालंधर बध कहते हैं। सर्वाङ्गासन प्रारभ मे ३० सेकेण्ड तक करना चाहिये। पश्चात् धीरे-धीरे समय बढ़ाया जाय। अन्य आसनो के साथ सर्वाङ्गासन करना हो तो वह ६ मिनिट तक किया जाय, परन्तु केवल सर्वाङ्गासन करना हो तो अधिक से अधिक २४ मिनिट तक किया जा सकता है। सर्वाङ्गासन से पूर्वस्थिति मे आते समय प्रथम पैर पीछे की ओर सिर की दिशा मे ले जाना चाहिए, पश्चात् पैर शरीर की सीध मे जमीन पर धीरे-धीरे टिकाना चाहिए। पश्चात् पुन. शरीर शिथिल

करना चाहिए। सर्वाङ्गासन के कारण जो अस्थायी प्रतिक्रिया शरीर मे पैदा होती है उसे मिटाने के लिये तीन चार बार दीर्घ श्वसन करना चाहिये।

लाभ

इस आसन का अभ्यास करने से उदर के समस्त विकार दूर होते हैं, अग्निमांद्य दूर होता है जिससे भूख खुल कर लगती है। कमर एव शरीर के अधो भाग मे स्थित वात विकार दूर होते हैं।

सर्वाङ्गासन से रक्त शुद्ध होता है तथा जीवन शक्ति का विकास होता है। शीर्षासन के समान ही इस आसन मे भी सिर नीचे और पैर ऊपर होने के कारण अशुद्ध रक्त गुरुत्वाकर्षण की सहायता से हृदय के दाहिने हिस्से मे द्रुतगति से पहुच कर फेफडो के द्वारा उसकी तुरन्त शुद्धि होती है तथा हृदय के दाए हिस्से मे शुद्ध रक्त पहुचने लगता है। वहा से शुद्ध रक्त महारोहिणी तथा उसकी शाखा-उपशाखाओ के द्वारा समस्त इन्द्रियो तक विपुल मात्रा मे पहुचाया जाता है। इस प्रकार द्रुतगति से रक्त शुद्धि की क्रिया होने के कारण यकृत तथा आतो के अधिकाश रोग दूर होते हैं। इसके साथ ही शीर्षस्थ ग्रथियो तथा गलग्रथियो का अशुद्ध रक्त सचय दूर होकर वे अधिक कार्यक्षम होती हैं।

इस रक्त शुद्धि करण का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि हृदय की क्रिया प्राकृत होती है, वह स्वस्थ एव क्रियाशील बनता है। फेफडे विकार रहित होकर स्वस्थ होते हैं।

हलासन

इस आसन मे शरीर की आकृति हल की तरह हो जाती है, अत इसे हलासन कहते हैं।

विधि - भूमि पर मोटा कम्बल बिछाकर, पीठ के बल लेट जाइये। दोनो हाथ सीधे शरीर से सटे हुए व भूमि से चिपका कर रखें। पैरो को सीधा तथा घुटनो को
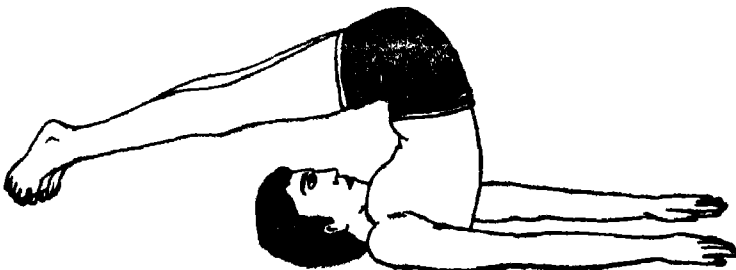
हलासन

साथ मिलाकर हथेलियो से भूमि को दबाते हुए दोनों पैरों को धीरे-धीरे ४५ अश ऊपर उठाया जाय। इस अवस्था मे ४-५ सेकण्ड तक रहने के बाद पैरो को सिर के ऊपर ६० अंश का कोण बनाते हुए पीछे की ओर जाकर इतना झुकाया जाय कि पैर की अगुलियाँ व अंगूठे भूमि से लग जायें। यह पूर्ण हलासन की स्थिति है जिसमे १८० अश का कोण बनता है, जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है। ध्यान रहे घुटने मुडने न पायें। दोनो पैर सीधे व कडे रहे, ठोडी छाती से लगी रहे, हाथ भूमि से सटे रहे। जब पैर ६० अश ऊपर उठे होते हैं, तब वह अर्ध हलासन की स्थिति होती है।

श्वास स्थिति— पैरो को सिर की ओर उठाने के लिये उठाने से पहले रेचक किया जाय और तब तक श्वास अन्दर नही ली जाय जब तक दोनो पैरो की अगुलियाँ व अगूठे जमीन से न लग जायें। इसके बाद साधारण रूप से श्वास लिया जाय। इस स्थिति मे आधा मिनिट रुका जाय। प्रत्येक आसन (हलासन) करने के बाद इतनी ही देर शवासन की स्थिति मे आराम किया जाय।

लाभ— सम्पूर्ण मेरूदण्ड, पीठ की मांसपेशियां, हाथ पैर तथा गर्दन का उत्तम व्यायाम होता है। मेरूदण्ड लचीला एव शक्तिशाली होता है। वात प्रकोप के कारण मेरूदण्ड मे होने वाले विभिन्न वात रोग एव शूल आदि नष्ट होते हैं। मस्तिष्क में ताजगी आती है। पाचन शक्ति बढती है तथा विबन्ध दूर होता है।

पश्चिमोत्तानासन

इस आसन मे शरीर का पृष्ट भाग उत्तान स्थिति मे होता है अर्थात् रीढ और उससे संलग्न हड्डिया ऊपर उठकर सामने की ओर झुकाई जाती हैं जिससे पृष्ट भाग के समस्त स्नायुओ पर तनाव पडता है, अत इसे पश्चिमोत्तानासन कहते हैं।

आसन करने की विधि

प्रथम भूमि पर पैर आगे की ओर फलाकर बैठा जाय। पश्चात् पैर की एडिया तथा अगूठे परस्पर सटे हुए हो, पीठ की रीढ व गर्दन सीधी रेखा मे हो, दृष्टि सामने हो दोनो हथेलियां जाघो के समीप भूमि पर हो।
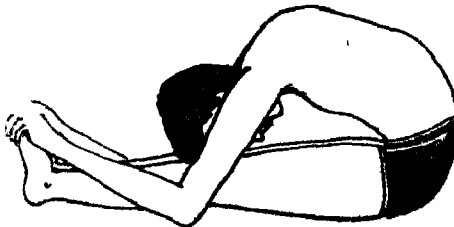
पश्चिमोत्तानासन

द्वितीय स्थिति—दोनों हाथ कधे से ऊपर की ओर ताने जावें, भुजायें कान से लगी हुई हो, पश्चात् धड़ को आगे की ओर झुकाते हुए दोनो हाथ की अंगुलियों से पैर के अगूठों को पकडा जाय। पेट को पीठ की ओर अन्दर दबाते हुए ललाट को झुकाकर दोनो घुटनो से स्पर्श कराने का प्रयत्न किया जाय। ध्यान रहे कि दोनों घुटनो से ललाट का स्पर्श कराने हेतु घुटने ऊपर नही उठने चाहिये अपितु तने हुए हों। इसमे स्नायुओ का तनाव महत्वपूर्ण है। इस आसन मे यह स्थिति महत्वपूर्ण है।

तृतीय स्थिति—इसके पश्चात् कटि, त्रिकास्थि प्रदेश, कमर एव उससे ऊर्ध्व भाग सम्पूर्ण पृष्टवश को पैरो की ओर इतना झुकाया जाय कि सिर के ललाट भाग से दोनो घुटनो का स्पर्श हो। इससे धड़ का हिस्सा सामने होकर जांघो के ऊपर आ जायगा। दीर्घश्वास छोडकर पेट अन्दर दबा कर ललाट को घुटनो पर लगाया जाय। घुटने तने हुए हो, धड़ सामने झुकाने से कंधे तथा पैर के अगूठे का अन्तर कम होगा जिससे कोहिनिया मुडेंगी और नीचे भूमि का स्पर्श करेगी। अत. कोहिनियो को भूमि पर पिण्डलियो के समीप लगाया जाय। यह आसन की पूर्ण स्थिति है। इस स्थिति मे कुछ सेकण्ड तक रहा जाय।

पुन पूर्व स्थिति मे आने के लिए सिर ऊपर उठाया जाय, हाथ की अगुलियो को खोलते हुए धड ऊपर उठाया जाय। दोनो हाथ ऊपर उठाकर कान के पास लाए जावें। पीठ की रीढ़ एव गर्दन सीधी रख कर हथेलियो को जाघो के समीप भूमि पर रखा जाय। इस प्रकार यह पश्चितोत्तनासन का एक आवर्तन होता है। आसन की पूर्ण स्थिति तथा बाद मे उल्टे क्रम से पूर्व स्थिति दोनो मिलाकर आसन का एक आवर्तन पूर्ण होता है। इस प्रकार पश्चिमोत्तानासन के तीन से छह आवर्तन किए जा सकते हैं। इस आसन के लिए अधिक से अधिक तीन मिनिट देना पर्याप्त होगा।

इस आसन का उत्तम अभ्यास होने पर पूरक, कुभक तथा रेचक के साथ आसन किया जाय, इससे विशेष लाभ होगा। जमीन से ऊपर कान के समीप हाथ लाते समय पूरक, हाथ की उगलियो से दोनो पैरो के अगूठे पकडने तक कुभक तथा पश्चात् श्वास छोडना आवश्यक मालूम हुआ तो रेचक किया जाय तथा पेट भीतर खीचकर मस्तक घुटनो से लगाया जाय और हाथ की कोहनिया जमीन से लगाई जाँय। उलटे क्रम से प्रथम मस्तक ऊपर उठाकर हाथो की उगलियाँ खुली करे। फिर हाथ ऊपर ले जाते समय पूरक, कान के समीप हाथ लाते समय कुभक तथा जाघो के दोनो ओर हाथ लाकर हथेलिया जमीन पर रखते समय रेचक करना चाहिये।

योगासनो का मुख्य उद्देश्य शारिरिक माँसपेशियो व स्नायुओ मे खिचाव द्वारा लचीलापन लाना है जो इस आसन से पूर्ण होता है। इस आसन से मेरुदण्ड के समस्त विकार जैसे पीठ दर्द, उदर रोग, यकृत्रोग व श्वासरोग दूर होकर मोटापा कम होता है। स्त्रियो की सभी बीमारिया विशेषत गर्भाशय की विकृति से होने वाले विभिन्न रोग एव प्रदर रोग नष्ट होता। मधुमेह, आमवात व गठिया मे भी इस आसन का अभ्यास लाभकारी है।

मत्स्यासन

मत्स्य का शब्दार्थ है मछली। इस आसन की स्थिति मे मनुष्य मछली की तरह बिना हिले-डुले जल मे बहुत समय तक तैरता रह सकता है। अतः इसे मत्स्यासन कहते हैं। जल पर तैरते रहने के लिये इस आसन के साथ प्लाविनी प्राणायाम करना आवश्यक है।
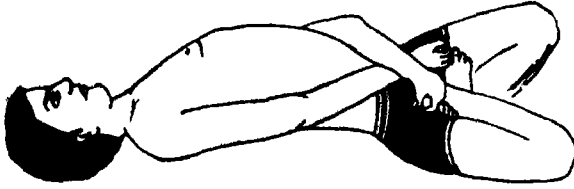
मत्स्यासन

विधि – भूमि पर कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जायें। लेटे-लेटे पद्मासन लगाया जाय।

सर्वप्रथम पद्मासन की स्थिति मे बैठा जाय अर्थात् बायें पैर को दाहिनी जघा पर तथा दाहिने पैर को बाईं जघा पर रखा जाय। दोनो घुटने भूमि का स्पर्श करते रहे। हथेलियो को थोडा पीछे रखकर कोहनी को मोडकर उस पर शरीर का भार देते हुए धीरे-धीरे पीठ के बल लेट जाये। सिर को नीचे की ओर झुकाते हुए भूमि से लगाया जाय तथा गर्दन एव मेरुदण्ड को पकडा जाय, जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है। इस स्थिति मे घुटने नितम्ब एव सिर भूमि का स्पर्श करते रहेगे। शेष गर्दन एव पीठ भूमि से ऊपर रहेगी।

श्वास स्थिति—सामान्यत स्वाभाविक रूप से श्वास लेना चाहिये। किन्तु यदि जल मे यह आसन लगाना हो तो पूर्ण पूरक कर यथासाध्य कुम्भक की स्थिति मे यह आसन लगाया जाय।

लाभ – इस आसन का अभ्यास करने से मुख मण्डल एव मेरूदण्ड पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मुख पर तेज आता है। मेरूदण्ड लचीला व शक्तिशाली होता है। मस्तिष्क की शक्ति बढती है। अजीर्ण, पाण्डु एव विबन्ध दूर होता है। इस आसन मे चूंकि गहरा श्वास प्रश्वास करना होता है, अतः दमा, राजयक्ष्मा, पुरानी खासी आदि रोग इस आसन से अच्छे होते हैं, क्योकि यह आसन करने से प्राण वायु का सचार फेफड़ो की जड तक होता है। सर्वाङ्गासन करने के बाद इस आसन का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि सर्वाङ्गासन मे गर्दन आगे और मत्स्यासन मे पीछे झुकाई जाती है।

एक प्रकार से यह आसन सर्वाङ्गासन का पूरक है। शरीर के जिन अङ्गोपाङ्गों का समुचित व्यायाम सर्वाङ्गासन मे नही हो पाता है, इस आसन मे उनका समुचित

व्यायाम हो जाता है। सर्वाङ्गासन म मुख्यत. गर्दन की कशेरुकाओ एवं स्नायुओ का तनाव होता है, क्योंकि ठोडी को गले के नीचे वक्ष के गड्ढे मे लगाना पडता है। मत्स्यासन में इसके विपरीत गर्दन की कशेरुकाओ एव स्नायुओ पर तनाव नही पड़ता है, वे शिथिल रहते हैं। इसमें वक्ष उन्नत होता है।

चक्रासन

इस आसन मे शरीर का आकार चक्र की भाति हो जाता है अत इसे चक्रासन कहते हैं।

चक्रासन

प्रथम विधि—सीधे खड होकर दोनो पैरो के बीच एक फुट का अन्तर रखा जाय। दोनो हाथ कानो से सटाकर ऊपर उठाये जावे पश्चात् दोनो हाथ व शरीर का उर्ध्व भाग (धड) धीरे-धीरे पीछे की ओर नीचे झुकाया जाय। जब तक कि हाथ की हथेलियाँ भूमि का स्पर्श न कर ले प्रयत्न यह किया जाय कि हाथ धीरे-धीरे खिसका कर पैर की एडियो के समीप लाया जाय और अगुलियो से एडियो को छूने का प्रयत्न किया जाय। इस स्थिति मे शरीर की स्थिति चक्राकार हो जाती है। जैसा कि चित्र मे दर्शित है।

द्वितीय विधि—भूमि पर पीठ के बल लेट जाये, पैर मोडकर उसके तलवे भूमि से लगाये तथा हाथ को कोहनियो से मोडकर सिर के अगल बगल भूमि से लगाया जाय। अब हाथ के पजे व पैरो के तलवो पर जोर देते हुए सिर, गर्दन और कमर को ऊपर उठाया जाय तथा पैर की एडी व हाथ की अगुलियो को धीरे-धीरे पास लाकर शरीर को घुमाव देकर चक्रासन की स्थिति मे लाया जाय।

श्वास स्थिति - पूरक कर कुम्भक की स्थिति मे यह आसन करना उपयोगी एव लाभप्रद होता है। यथासाध्य कुम्भक करते हुए ५ से १० सेकेण्ड तक इस स्थिति मे रहने के बाद धीरे धीरे रेचक करते हुए पूर्वावस्था मे आये।

लाभ— पेट व कमर के समस्त अगो को इससे लाभ होता है। छाती चौडी और कमर पतली व लचकदार होती है। बाहुओ की मासपेशियाँ मजबूत होती हैं। जाँघ, पिण्डलिया व घुटने पुष्ट होते हैं। पेट की चर्बी घटती है। यह आसन शारीरिक लम्बाई को बढ़ाने मे भी सहायक है।

भुजंगासन

इस आसन मे सिर व वक्ष प्रदेश उन्नत होने से आसन कर्त्ता की आकृति फन उठाए हुए सर्प की भाँति हो जाती है, अत· इसे सर्पासन या भुजगासन कहते हैं।
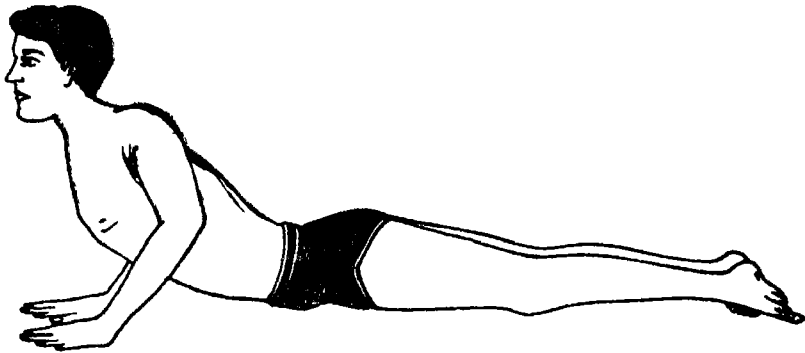
भुजंगासन

विधि— प्रथम भूमि पर पेट के बल लेट जायें, दोनो हाथो की हथेली को पृथ्वी पर इस प्रकार जमायें कि वो कधो के किनारे ठीक नीचो रहे व अगुलियाँ आपस मे मिली रहें। दोनो कुहनिया मुडी हुई व शरीर के मध्य भाग को स्पर्श करती रहना चाहिए। हथेली व कोहनियो को दबाव देते हुए क्रम से सिर, गर्दन, छाती व पेट को धीरे-धीरे भूमि से उठाना चाहिए। दृष्टि सामने रखी जाय। इस प्रकार शरीर साँप के फन के समान तना हुआ एव खडा रहता है। रीढ पीछे की तरफ कुछ मुडी रहती है जिससे शरीर की स्थिति किंचित् धनुषाकार के समान बनती है। शरीर का नाभि से नीचे तक का भाग भूमि को किंचित् स्पर्श करता हुआ रहता है।

श्वास स्थिति – भूमि पर लेट कर पूरक किया जाय। पूर्ण आसन की स्थिति में यथासाध्य कुम्भक किया जाय फिर रेचक करते हुए धीरे-धीरे पेट के बल लेटा जाय।

लाभ – यह आसन स्त्री और पुरुषो दोनो के लिए लाभकारी है। इससे गर्दन, कधे, छाती, कमर आदि अत्यधिक क्रियाशील होते हैं जिससे पीठ एव कमर का दर्द दूर होता है। मन्दाग्नि एव कोष्ठबद्धता दूर होती है। स्त्रियो में जननेंद्रियो एव गर्भाशय को पुष्ट करने के लिये यह आसन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे कष्टार्तव, प्रदर आदि रोग दूर होते हैं। इससे सन्तान उत्पत्ति सहज, स्वाभाविक व नियमित रूप से होती है और प्रसव पीड़ा भी अधिक नही होती है। गर्भावस्था में इस आसन का अभ्यास निषिद्ध है।

शलभासन

शलभासन में शरीर की स्थिति शलभ के समान हो जाती है, अत. यह शलभासन कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है--(१) अर्ध शलभासन और (२) शलभासन । इनमे प्रथम अर्ध शलभासन अपेक्षाकृत सरल है।
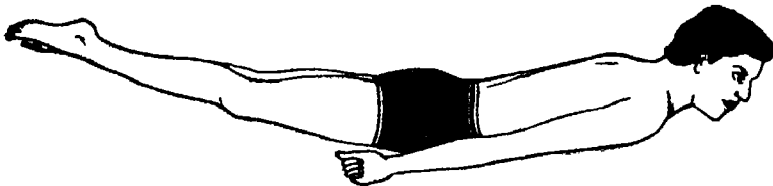
शलभासन

विधि—प्रथम भूमि पर कपडा बिछा कर पेट के बल लेट जायें। दोनो हाथ शरीर के समानान्तर हो। दोनो हाथो की हथेली को भूमि की तरफ रखते हुए शरीर से सटाकर रखा जाय, पैर के अगूठे सटे हुए और तलुवे ऊपर की ओर हो। ठोडी भूमि पर टिकी हुई और सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो। हाथो का सहारा लेते हुए बिना घुटने मोडे पैर को धीरे-धीरे इतना ऊपर उठाया जाय जितना उसे उठाया जा सके। कुछ समय तक इस स्थिति मे रहने के बाद एक पैर धीरे-धीरे नीचे लाया जाय फिर दूसरे पैर से भी यही क्रिया की जाय। इस प्रकार बारी बारी से यह क्रिया चार-पांच बार की जाय। श्वास प्रश्वास सामान्य रहे। आसन का उत्तम अभ्यास होने पर आसन की पूर्ण स्थिति मे कुम्भक करने (श्वास रोकने) का प्रयास किया जाय।

अर्धशलभासन की भाति ठोडी जमीन पर टिकी हो, हाथ शरीर के समानान्तर हो, पैर सीधे एव फंसे हुए हो। अब दोनों पैरो को धीरे-धीरे इतना ऊपर उठाया जाय जितना उठाया जा सके। फिर सिर, गर्दन, छाती एव पेट को भी तानते हुए ऊपर उठाया जाय। नाभि प्रदेश एव हाथ भूमि पर टिके रहे। इस प्रकार शरीर का पूर्व भाग (वक्ष, गर्दन एव सिर) तथा पश्चात् भाग (दोनो पर) ऊपर उठने से शरीर पूर्णत नाभि प्रदेश पर सध जायगा। यह शलभासन की पूर्ण स्थिति है। इसके पश्चात् शरीर के दोनो (पूर्व एव पश्चात्) भाग धीरे-धीरे भूमि पर लाए जायें एव शरीर को शिथिल छोड दिया जाय। श्वास प्रश्वास की गति सामान्य होने पर पुन अभ्यास किया जाय। इस प्रकार सुविधानुसार तीन बार यह अभ्यास करना चाहिए।

श्वास स्थिति —आसन से पूर्व धीरे-धीरे पूरक और रेचक करना चाहिये। आसन की पूर्ण स्थिति मे कुम्भक करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करना चाहिये।

लाभ इस आसन से गर्दन, छाती, पेट, जांघ एवं पैर के स्नायु व मांस पेशियो मे खिचाव होता है जिससे इन अंगो के समस्त विकार दूर होते हैं। पेट पर दबाव पडने से मलावरोध दूर हो जाता है, पाचन शक्ति तीव्र होती है जिससे मधुमेह मे भी लाभ होता है।

धनुरासन

इस आसन मे शरीर का आकार धनुष के समान हो जाता है इसलिए इसे धनुरासन कहते हैं। धनुरासन में भुजगासन तथा शलभासन दोनो का सयोग रहता है। अत: भुजंगासन और शलभासन दोनो के लाभ धनुरासन करने से मिलते हैं, किन्तु दोनो आसन अलग-अलग करने से जो लाभ होता है वह केवल एक धनुरासन करने से नही होता।
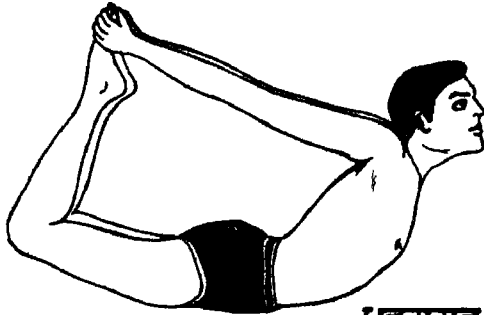
धनुरासन

विधि—पेट के बल पर लेट जाय और हाथ शरीर के समानान्तर रखें। हथेलियां ऊर्ध्वमुखी रखे, ठोडी जमीन से लगी हो, दोनो घटने तथा पैरो के अगूठे परस्पर सटे हुए हो, सारा शरीर ढीला छोडकर दो तीन बार दीर्घश्वसन करना चाहिये। पश्चात् घुटनो मे टाँग मोडकर एडिया नितम्ब पर रखना चाहिये। दोनो हाथो से दोनो पैरो की उगलियाँ पकडी जाय तथा छाती एव सिर तथा घुटने एव टागें एक साथ ऊपर उठाई जायं। इससे नाभि एवं उदर प्रदेश पर उत्तम दबाव पडकर धनुषाकार स्थिति निर्मित होगी। उदर एव वक्ष (सीना) धनुष का बाह्य भाग होगा तथा पृष्ठवश अन्तर्भाग होगा। इस स्थिति मे प्रथम पाच सात सेकण्ड तक रहा जाय और अभ्यास बढ़ने पर १५ से २० सेकण्ड तक रहा जाय। पश्चात् पूर्व स्थिति मे आकर अल्प विश्राम किया जाय। यह आसन तीन से छह बार करें। श्वास सामान्य गति से चालू रखे। आसन का उत्तम अभ्यास हो जाने पर आसन प्रारम्भ करने के पूर्व प्रथम रेचक, पश्चात् पूरक कर कुम्भक मे १५-२० सेकण्ड तक आसन करें। पूर्व स्थिति में आकर रेचक करें तथा अल्पकाल तक विश्राम कर दुबारा आसन करें।

उपर्युक्त विधि के अनुसार चार से छह बार आसन किया जाय। इस आसन मे घुटने तथा कधे एक सीधी रेखा में होते हैं और दबाव सम मात्रा मे पडता है है। अत: किसी एक सन्धि पर तनाव नही पड़ता। नाभि प्रदेश पर सारा भार डालकर आगे पीछे तथा दाए-बाए झूलने का अभ्यास किया जाय तो पेट की चरबी कम होती है और उदर का स्थौल्य घटता है।

द्वितीय विधि —जो नवसिखिए हैं उन्हे निम्नलिखित विधि से आसन करना चाहिए —आसन करने के पूर्व पेट के बल लेट कर दोनो पैरो के घुटने एक दूसरे से कुछ दूर रखे जावे तथा घुटनो मे पैरो को मोडकर एडियो को नितम्ब पर रखा जाय। पश्चात् दोनो हथेलियो से पैरो की उगलियाँ पकडकर वक्ष, गर्दन, घुटने और पैर ऊपर उठाकर झुकाए जावे। घुटनो और पैरो मे पर्याप्त अन्तर रहने से अधिक सुगमता से कमान बनती है। इसलिए नवसिखयो को पहले दूसरी विधि से आसन करना चाहिए। इस विधि से आसन का अभ्यास हो जाने पर प्रथम विधि के अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ आसन करने का अभ्यास करना चाहिये। यह विधि कठिन प्रतीत हो तो निम्न लिखित विधि का अनुसरण किया जाय।

तीसरी विधि – प्रथम पेट के बल लेट जाए। फिर दाहिना पैर घुटने मे मोडकर बाईं हथेली से उस पैर की उगलियाँ पकडकर ऊपर उठाए तथा दाहिना हाथ एव बायाँ पैर तना हुआ हो। सिर, वक्ष, दाहिना घुटना और पैर ऊपर उठाकर झुकाए। पूर्व स्थिति मे आकर बाए पैर से भी यही क्रिया की जाय। इस प्रकार दाहिने और बाए पैर से क्रमश तीन से छ बार यह क्रिया की जाय। अर्धशलाभासन के समान यह अर्ध-धनुरासन होगा। इसका उत्तम अभ्यास हो जाने पर दूसरी विधि तथा उसके बाद पहिली विधि का अभ्यास किया जाय। यदि निरन्तर, दृढतापूर्वक लगन से यह आसन किया जाय तो कोई भी उसे सुगमता से सीख सकता है।

श्वास स्थिति—आसन करने से पूर्व पूर्ण पूरक किया जाय, पश्चात् कुम्भक की अवस्था मे यथासाध्य १५ से २० सैकेण्ड तक कुम्भक करते हुए धनुरासन किया जाय। फिर धीरे-धीरे रेचक करते हुए भूमि पर पेट के बल लेट जावे।

लाभ—इस आसन से मेरुदण्ड एव समस्त सन्धियाँ पुष्ट होती है। पाचन क्रिया नियमित एवं तीव्र होती है। कुम्भक प्राणायाम के द्वारा वक्षस्थल चौडा होता है। पेट एव नितम्ब मे सचित स्थौल्य (चर्बी) घटता है। शरीर सदृढ़ एव सुडौल होता है। स्त्रियो के लिए यह आसन अत्यन्त लाभदायक है।

इस आसन की विशेषता

भुजंगासन से गर्दन की कशेरुकाओ से त्रिकास्थि तक जो आकुञ्चन एवं प्रसारण की क्रिया प्रत्येक आसन के साथ होती है वह शलभासन मे नही होती। उस क्रिया के कारण पीठ की रीढ को जितना लाभ भुजगासन मे मिलता है उतना शलभासन मे नही मिलता। भुजंगासन या शलभासन मे उदर के ऋजु स्नायु (रेक्टाय) तथा अन्य स्नायु जितने तनते हैं उनकी अपेक्षा धनुरासन मे अधिक उत्तम रीति से तनते हैं तथा इन तीनो स्थितियो का उपर्युक्त स्नायुओ पर उत्तम परिणाम होता है। उदर के ऋजु स्नायुओ (रेक्टाय) तथा स्नायुओ के तीव्र तनाव के कारण सन्धि स्थलो का भी उत्तम तनाव होता है।

मयूरासन

इस आसन मे मनुष्य की स्थिति मयूर (मोर) के समान हो जाती है। इस लिए इसे मयूर आसन कहा जाता है। इस आसन मे शरीर का भार दोनो हथेलियो एव कोहनियो पर रहता है और शरीर लम्बाकार मे भूमि के ऊपर समानान्तर होता है। स्थूल काय व्यक्तियो के लिए इस आसन का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु लगातार अभ्यास से इसे किया जा सकता है। कृशकाय व्यक्ति इसे सुगमता से कर सकते हैं, किन्तु उनके स्नायु सबल हो और उनमे भार वहन करने की क्षमता हो। दुर्बल व्यक्ति जो शरीर का भार भी सहन नही कर सकते उनके लिए यह दु साध्य है।
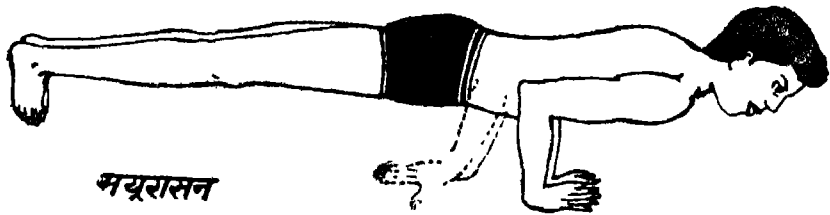
मयूरासन

विधि—प्रथम एडियो के बल भूमि पर बैठ जायें फिर दोनो घुटने आगे झुकाकर भूमि पर टिकायें तथा दोनो हाथ भूमि पर इस तरह से रखें कि दोनो पजे मिले हुए पीछे की ओर रहे। घुटनो की ओर अगुलियाँ करके घटनो से हथेलियाँ एक हाथ अन्तर पर भूमि पर रखें। दोनो कोहनियो को मिलाकर नाभि के पास लगाया जाय तथा आगे की ओर झुकते हुए दोनो पैरो को मिलाते हुए पीछे की ओर ताना जाय एव छाती तथा सिर पर जोर डालते हुए पैरो को शनै. शनै: भूमि से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाय। इससे उदर पर दबाब पडेगा और सम्पूर्ण शरीर का भार कोहनियो पर आ पडेगा। जब पैर कोहनियो के बराबर आ जाए तब सिर और छाती को सीधा किया जाय अर्थात् सम्पूर्ण शरीर हाथो की कोहनियो पर साध कर स्थिर रखा जाय। शरीर भूमि के समानान्तर हो, दृष्टि सामने रहे। कई बार शरीर का भार न सम्भलने के कारण मुंह को चोट लग सकती है, अत: सावधानी अपेक्षित है। इसके लिए ठोडी के नीचे नरम तकिया रखा जा सकता है।

श्वास स्थिति—पूरक कर कुम्भक की स्थिति मे यह आसन किया जाय।

लाभ – इस आसन के थोडे से अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होकर पाचन शक्ति बढती है। यकृत, प्लीहा एव वायु विकार नष्ट होते हैं, गुल्म एव विभिन्न उदर रोगो मे लाभ होता है। अग्न्याशय एव आमाशय पर दबाव पडने से मधुमेह रोग ठीक होता है। बाहुए बलवान एव सुगठित होती हैं। पूरे शरीर में शक्ति का संचार होता है तथा कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है।

नाभि आसन या दोलासन

पेट के आसनों मे इस आसन का प्रमुख स्थान है। उदर विशेषत: नाभि प्रदेश ही इस आसान का आधार है, इसलिए इसे नाभि-आसन कहते हैं। इसमे शरीर की आकृति नौकाकार हो जाती है।
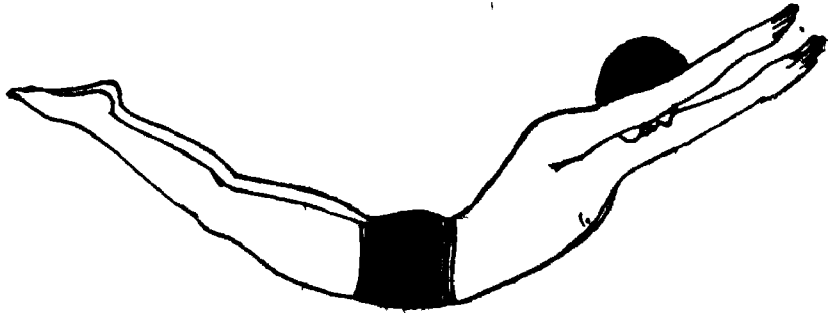
नाभि-आसन या दोलासन

विधि— प्रथम भूमि पर पेट के बल लेट जायें, हाथो को सिर के आगे सीधा फैला कर दोनो पैर तथा दोनो हाथ आपस मे एक सीध मे समानान्तर रखे जावें। दोनो पैरो व भुजाओ को एक साथ तानकर भूमि मे धीरे-धीरे जितना ऊपर उठाया जा सके उतना उठाया जाय। ऐसा करने से उदर, नाभि के आस पास के भागो को छोडकर शरीर का पूर्ण भाग दोनो ओर ऊपर उठ जाएगा और शरीर का सम्पूर्ण भार उदर प्रदेश पर रहगा। इस आसन मे शरीर की स्थिति बिना रज्जु वाले धनुष या नाव के समान हो जाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जितनी देर इस मुद्रा मे रह सकें रहा जाय।

श्वास स्थिति—उदर के बल लेटकर पूरक क्रिया एव कुम्भक करते हुए दोलासन किया जाय, फिर धीरे-धीरे रेचक करते हुए पूर्ण अवस्था मे आ जायें।

लाभ — उदर गुहा के आन्तरिक अवयव यथा— यकृत, प्लीहा, आन्त्र आदि के समस्त रोगो मे इस आसन से अत्यधिक लाभ होता है। मेरुदण्ड लचकदार एवं शक्तिशाली बनता है। पीठ, कमर एव गर्दन की वेदना ठीक होती है। फेफडे व हृदय पुष्ट होते है। उदर का स्थौल्य कम होता है।

शवासन

शव का अर्थ है मुर्दा। इस आसन में शरीर मुर्दे के समान रहता है, अतः इसे शव आसन या मृतासन कहते हैं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उत्तम आसन है। सामान्यतः प्रत्येक आसन के बाद शरीर के थके हुए अंगो को विश्राम देने के लिए यह आसन किया जाता है।
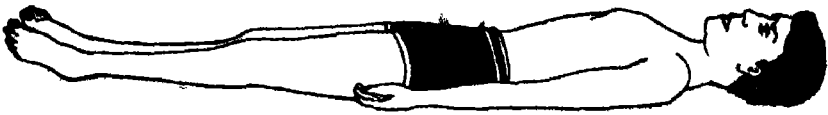
शवासन

विधि—भूमि पर कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जायें। हाथ व पैरो को शरीर की सीध में लम्बाकार रूप से पूरा फैलाकर पैर के पंजो से लेकर, ढीला छोडते हुए सिर से पैर तक शरीर के समस्त अंगो को शिथिल छोड दिया जाय। ऐसा समझना चाहिए कि आपका शरीर मृत की भांति एवं चेतना शून्य हो गया है। इस स्थिति मे २ मिनिट से लेकर १० मिनिट तक रहा जाय। ध्यान रहे कि निद्रा नही आनी चाहिए। यह पूर्ण विश्राम की स्थिति है जिसमें शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है।

श्वास स्थिति—इस आसन मे धीमें श्वास लेना चाहिए। यहा तक कि वक्ष एव पेट मे भी श्वास की गति का अनुभव न हो।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से शरीर, मन एव आत्मा मे नवीन चेतना एव स्फूर्ति का संचार होता है, शरीर एव मन पर जो थकान एव तनाव विभिन्न कारणो से होता है वह इस आसन के अभ्यास से तुरन्त दूर होता है। शरीर को सुख एव मन को शान्ति मिलती है। शारीरिक एव मानसिक थकान का अनुभव दूर करने के लिए यह एक सर्वोत्तम आसन है। मानसिक रोगियों एव निद्रा नाश मे इस आसन का नियमित अभ्यास अत्यन्त लाभदायक है।

शीर्षासन

यह आसन शीर्ष (सिर) पर आधारित होने से यह शीर्षासन कहलाता है। अभिप्राय यह है कि इस आसन मे सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं जिससे सम्पूर्ण शरीर का भार सिर पर होता है। प्रारम्भ मे इस आसन को करने मे असुविधा होती है, किन्तु अभ्यास हो जाने पर यह आसन सुगम हो जाता है।

विधि—इस आसन के लिए सर्वप्रथम चार तह किया हुआ एक कम्बल अथवा उतना ही मोटे आकार का कोई साफ वस्त्र या गलीचा आदि बिछाया जाना चाहिए।

बीचोंबीच कपडे की एक ईडरी इतने आकार की बनाई जावे कि उस पर सिर आसानी से टिकाया जा सके। तत्पश्चात् घुटने टेक कर भूमि पर बैठा जाय। दोनों हाथों की अंगुलियां एक दूसरे मे फसा कर अपने अग्रबाहुओ को एक सुविधाजनक कोण पर इस प्रकार फैलाया जाय कि भूमि पर एक समबाहु त्रिभुज बन जाय। इसे गोलार्द्ध भी कहा जा सकता है अथवा इसकी स्थिति या आकार अंग्रेजी के यू (U) के अक्षर
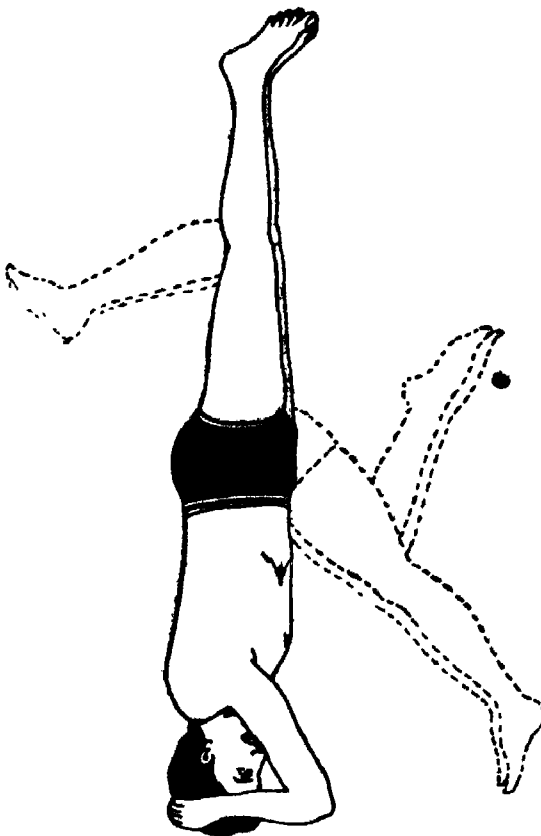
शीर्षासन

जैसा भी माना जा सकता है। कपड़े के गोलार्ध भाग में परस्पर फंसी हुई अंगुली वाले अग्रबाहु का अर्धवृत्त बनाते हुए ईडरी के बीच में सिर को रखते हुए दोनो पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए सीधा तान दिया जाय। इस प्रकार ऊपर की ओर दोनो पैर सीधे करके सम्पूर्ण शरीर का भार सिर पर हो जायगा और शरीर की स्थिति सामान्य से बिल्कुल उल्टी याने सिर नीचे और पैर ऊपर हो जायगी। इस

स्थिति में स्वयं को तनाव मुक्त रखते हुए आधा से एक मिनट तक रखना चाहिये। यदि अधिक देर तक रखा जा सकता है तो सामर्थ्यानुसार रखना चाहिये। जो व्यक्ति नए सिरे से इसका अभ्यास करते हैं उन्हे प्रारम्भ मे १० सैकेण्ड तक ही इस आसन का अभ्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् शनै शनै ५-५ सैकेण्ड बढ़ाते हुए अधिक समय तक अभ्यास की अवधि बढ़ाई जाय।

लाभ—यह आसन बहुत ही प्रभावशाली तथा उपयोगी है। इस आसन का नियमित अभ्यास करने से मस्तिष्कगत समस्त अवयवो एवं इन्द्रियाधिष्ठानो मे रक्त सचार की अभिवृद्धि होने से उन्हे पोषण प्राप्त होता है, जिससे विभिन्न विकारो का शमन या नाश होता है। नेत्रो के लिए यह आसन परम उपयोगी बतलाया गया है। नियमित शीर्षासन करने वालो की नेत्र ज्योति बढ़ती है तथा नेत्रगत विकारो से छुटकारा मिलता है। इसके अतिरिक्त बालो का पकना और झड़ना भी शीर्षासन का अभ्यास करने से दूर हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका मे शीर्षासन का अभ्यास करने से होने वाले निम्न लाभ बतलाए गए हैं—

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सपाद्य साधकस्य च॥

(शीर्षासन का) नित्य अभ्यास करने वाले व्यक्ति की जठराग्नि बढ़ती है। वह आहार बहुल हो जाता है। अतः साधक को भरपूर आहार लेना चाहिये।

वलित पलित चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्र तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥

कुछ माह तक निरन्तर इसका अभ्यास करने से बालो का पकना और झड़ना दिखलाई नहीं पड़ता है। जो व्यक्ति नित्य याम पर्यन्त इसका अभ्यास करता है वह कालजित (दीर्घायु) होता है।

सभी आसनों मे इसे सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना गया है। इस आसन मे चूंकि सम्पूर्ण शरीर का सारा भार सिर पर होता है, अतः इसे शीर्षासन कहते हैं।